म.म. डॉ. गोपीनाथ कविराज

भारतीय साधना की धारा

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद
'पटना'

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना

भारतीय साधना की धारा म.म. डॉ. गोपीनाथ कविराज

भारतीय साधना की धारा

लेखक
महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक
पं० हंसकुमार तिवारी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना ८००००४

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना-८००००४

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

संस्करण : प्रथम, विक्रमाब्द २०४० ; शकाब्द १९०५; खृष्टाब्द १९८४

द्वितीय संस्करण : २००७
पूनर्मुद्रण : २००७

मूल्य : १५० (एक सौ पचास रुपये मात्र) सजिल्द

मुद्रक :
शोभा प्रिंटिंग प्रेस
नयाटोला पटना-४

वक्तव्य

महामहोपाध्याय **पं० गोपीनाथ कविराज** की कृति **"भारतीय साधना की धारा"** बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित रचनाओं के गौरव ग्रंथों की सूची में अग्रणी है । मानव जीवन की सार्थकता उसकी साधना से सिद्ध होती है । भारतीय सम्यता और संस्कृति की कसौटी भारतीय मानव की साधना की धारा ही है, विश्व का उवाऊ मानव शान्ति की खोज में भटकता हुआ भारतीय साधना की धारा की ओर आना चाहता है । भौतिकवादी व्यवस्था में संग्रह की प्रवृति प्रबल होती है । ऐसी दशा में मानव दिशाहीन और व्यग्र हो अशान्त और वेचैन हो जाता है । उसका जीवन भार सा लगने लगता है । मानव ज़ीवन को साधना की धारा ही सही दिशा प्रदान कर सकती है । भारतीय मानव जीवन की अमूल्य निधि है, उसकी साधना । साधना की धारा में प्रवहमान हो मानव सांसारिकता से दूर हो जाता है । सही अर्थो में उसे सच्ची शान्ति साधना से ही मिलती है । काम, क्रोध, लोभ-मोह, सब से मुक्ति का मार्ग साधना ही है ।

कविराज की इस कृति ने विश्वमानव को साधना का संदेश दिया है इसके पाठक सब तरह के लोग हैं । जिसकी जैसी जिज्ञासा होती है; उसे इस पुस्तक के अवगाहन से प्राप्त होती है । 'कविराज' जी को इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा और आग्रह मिला अमर विभूति **डॉ0 गोपीनाथ शास्त्री, डॉ0गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय, सुरेश चन्द्र चक्रवती और सेठ गौरी शंकर गोयनका** जी से । यह ग्रंथ सभी दृष्टि से पठनीय और अभिनन्दनीय है इसके सम्बन्ध में विशेष कुछ लिखना मुझ जैसे व्यक्ति के लिए सूरज को दीपक दिखाने के समान ही होगा ।

महामहोपाध्याय जी का यह ग्रंथ मूल रूप से बंगला भाषा में है । इसका हिंदी अनुवाद **पं0 हँसकुमार तिवारी** जी ने किया है । इस ग्रंथ में वैष्णवागम के अद्वितीय विशेषज्ञ लेखक ने भारतीय साधना की तीन प्रमुख धाराओं का उल्लेख किया है यथा-१ वैष्णव धारा 2. सहज और सिद्ध धारा तथा 3. वेदान्त धारा । कविराज जी ने इस ग्रंथ में भारतीय साधना के समस्त दर्शन की व्यापक विवेचना की है ।

परिषद् को स्व० कविराज जी के कई महत्वपूर्ण ग्रंथों के प्रकाशन का गौरव प्राप्त है, यथा, **भारतीय संस्कृति और साधना दो खण्डों में, तांत्रिक वाङमयमें शाक्त दृष्टि, तांत्रिक साधना और सिद्धान्त, तंत्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन तथा स्वसंवेदन ।**

इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों के सामने देने का गौरव मुझ जैसे अकिंचन को प्राप्त हो रहा है । हम आश्वस्त हैं कि सुधी समाज द्वारा इस असाधारण ग्रंथ को व्यापक समर्थन अध्ययन के क्षेत्र में मिलेगा ।

14.9.07

रामबुझावन सिंह

निदेशक

प्र
नि
अ
प

©

सं

द्वि
पू

मू

मु
श
नर

वक्तव्य

हम गौरवान्वित और प्रहर्षित हैं कि तान्त्रिक एवं सारस्वत साधना के अद्वितीय विद्वान् तथा साधक स्व० **महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराजजी** का यह भारतीय साधना-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, मूल बँगला से अनुवाद कराकर, प्रकाशित करने में कृतकार्य हुए हैं। किन्तु, हमें अत्यन्त क्लेश भी है कि श्रीकविराजजी तो दिवंगत हो ही चुके हैं, इस ग्रन्थ के स्वनामधन्य अनुवादक **पं० हंसकुमार तिवारीजी** भी अकाल ही कालकवलित हो चुके हैं, जिससे वे इस ग्रन्थ के प्रकाशित स्वरूप का अवलोकन करने से वंचित रह गये। हम मूल-लेखक श्रद्धेय कविराजजी के साथ ही अनुवादक स्व० तिवारीजी के प्रति भी हार्दिक श्रद्धांजलियाँ निवेदित करते हैं। अस्तु !

परिषद् को स्व० कविराजजी के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन का गौरव प्राप्त रहा है। 'भारतीय संस्कृति और साधना' के दो खण्डों के अतिरिक्त 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि', 'तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त', 'तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन' तथा 'स्वसंवेदन' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं और अब यह छठा ग्रन्थ विज्ञ पाठक-समुदाय के समक्ष प्रस्तुत है। इनमें से अन्तिम चार ग्रन्थ **स्व० तिवारीजी** द्वारा अनूदित हैं। स्व० कविराजजी द्वारा लिखित सातवाँ ग्रन्थ 'महायोग के पथ पर और मृत्युविज्ञान' भी हम शीघ्र ही प्रकाशित करने जा रहे हैं, जिसका भी अनुवाद स्व० तिवारीजी ने ही किया है, जो उनके द्वारा अनूदित कविराजजी का पाँचवाँ ग्रन्थ होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वैष्णवागम के अद्वितीय विशेषज्ञ लेखक ने भारतीय साधना की तीन प्रमुख धाराओं—१. वैष्णव-धारा, २. सहज और सिद्ध-धारा तथा ३. वेदान्त-धारा पर विशद रूप से प्रकाश डाला है। कविराज-साहित्य में इस दार्शनिक ग्रन्थ का विशेष महत्त्व माना जायगा; क्योंकि इसमें भारतीय साधना के समस्त दर्शन की व्यापक विवेचना सुविज्ञ लेखक द्वारा की गई है। अतः, इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के साथ ही भारतीय दर्शन एवं साधना के जिज्ञासुओं के लिए उपादेयता भी सुस्पष्ट है। हम आश्वस्त हैं कि सुधी-समाज द्वारा इस असाधारण ग्रन्थ का व्यापक अध्ययन और अभिनन्दन होगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पौष कृष्ण-एकादशी, सं० २०४० वि०
३० दिसम्बर, १९८३ ई०

रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

भूमिका

आज से चालीस वर्ष से भी कुछ अधिक पहले, मेरी इच्छा हुई थी कि प्राचीन साधकों के अध्यात्मचिन्तन की विभिन्न धाराओं के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करूँ। इसमें एक ओर जैसे परम्परागत, अर्थात् सम्प्रदायगत चिन्तन का प्रश्न है, वैसे ही दूसरी ओर व्यक्तिगत चिन्तन का भी वैशिष्ट्य है। मन में पहले सम्प्रदायगत भावधारा की चर्चा युक्तिसगत प्रतीत हुई। इस विषय की व्यापक चर्चा करना ही मेरा उद्देश्य था और इस दिशा में मैंने थोड़ी-बहुत चेष्टा भी की थी।

अवश्य ही, मैं साधकों की व्यक्तिगत आध्यात्मिक जीवनधारा की भी चर्चा करता। किन्तु, मेरा उद्देश्य था, भक्त, योगी, ज्ञानी अथवा कर्मी के भेद की उपेक्षा करके, प्रकृत साधन-पथ पर कौन किस रूप में अग्रसर हुआ, उसी की विशेष विवेचना करना। कारण, परमतत्त्व की ओर जिस व्यक्ति ने यात्रा की है, वही मेरे लक्ष्य में रहा है; इसलिए, वह व्यक्ति जिस मार्ग से भी चले, उस मार्ग की ओर मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया है।

इसी समय काशी में 'उत्तरा' पत्रिका का उदय हुआ। यह फसली-सन् १३३२ की बात है। उस पत्रिका के सम्पादक **श्रीमान् सुरेशचन्द्र चक्रवर्त्ती** मेरे परम स्नेह-भाजन थे। उनका साग्रह अनुरोध प्राप्त हुआ कि पहले मैं प्रसिद्ध सम्प्रदायानुसारी वैष्णव-साधना के सम्बन्ध में कुछ विवरण दूँ, जिसे वह पत्रिका में प्रकाशित करेंगे। उनकी और मेरी, दोनों की ही इच्छा थी कि आपाततः गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कुछ प्रकाशित हो, तो उत्तम। मैंने सम्मत होकर मन-ही-मन सोचा कि गौडीय वैष्णव-साधनतत्त्व के मर्म और वैशिष्ट्य की सम्यक् प्रकार से आलोचना करने के क्रम में, पहले प्रसिद्ध चार वैष्णव-सम्प्रदायों की चिन्ताधारा के साथ साधारण परिचय का होना आवश्यक है। ऐसा सोचकर मैंने चारों वैष्णव-सम्प्रदायों के मत और साहित्य के सम्बन्ध में विवरण लिखना प्रारम्भ किया, साथ-ही-साथ वह 'उत्तरा' में प्रकाशित भी होने लगा। फसली-सन् १३३२ के आश्विन से क्रमशः दस अंकों में ये विवरण प्रकाशित हुए। वस्तुतः, इन्हीं विवरणों का संग्रह ही 'गौडीय वैष्णव-दर्शन की भूमिका' नाम से प्रकाशित हुआ था। भूमिका एक प्रकार से पूर्ण ही हुई थी। किन्तु, गौडीय वैष्णव साधना के अन्तर्गत मूलग्रन्थ के विषय में, बाद में कुछ लिखने का अवकाश नहीं मिल पाया। इस ग्रन्थ में वैष्णव साधना और साहित्य-विषयक प्रबन्धों को स्थान दिया गया है।

'सहजयान' और 'सिद्धमार्ग' नाम से दो निबन्ध पहले 'उत्तरा' पत्रिका में ही, वैष्णव-प्रबन्धमाला के प्रकाशित होने के थोड़े ही दिन (सन् १३३४-१३३५ फसली) बाद, प्रकाशित हुए थे। 'शांकर वेदान्त और अद्वैत-प्रस्थान' नामक प्रबन्ध, स्वनामधन्य स्व० सेठ गौरीशंकरजी गोयनका के अनुरोध से वेदान्त-तत्त्व के जिज्ञासु पाठकों के लिए लिखा

विषय-सूची

वैष्णव (धारा)

वैष्णव साधना और साहित्य : ३–९

सूचना : ३

प्रथम अध्याय

श्री-सम्प्रदाय, रामानुज-मत या विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त : १०–३०

तत्त्व : १०; ईश्वर का पंचविध स्वरूप : १२; उपासना का क्रम : १३; मुक्ति का स्वरूप : १७; उत्क्रमण-रहस्य : २०; आचार्य-परम्परा और सम्प्रदाय-भेद : २२।

द्वितीय अध्याय

हंस-सम्प्रदाय, निम्बार्क-मत या द्वैताद्वैत-सिद्धान्त : ३१–३६

आचार्य-परम्परा : ३१; चित्-तत्त्व : ३२; अचित्-तत्त्व : ३३; ब्रह्मतत्त्व : ३४; परिणाम-तत्त्व : ३५।

तृतीय अध्याय

ब्रह्म-सम्प्रदाय, मध्वमत या द्वैत-सिद्धान्त : ३७–६४

मध्वाचार्य और शिष्य-सम्प्रदाय : ३७; प्रपंच या भेदपंचक : ४१; पदार्थ-निरूपण : ४१; द्रव्यविभाग : ४६; परमात्मा : ४७; जीव ५०; अव्याकृत आकाश : ५२; प्रकृति और गुणत्रय : ५३; महत्तत्त्व-अहंकार-बुद्धि-मन : ५४; इन्द्रिय : ५५; तन्मात्रा और पंचभूत : ५५; अविद्या; ५६; वर्ण और अन्धकार : ५६; वासना-काल-प्रतिबिम्ब : ५७; कतिपय प्रसिद्ध गुण : ५७; मोक्षलाभ का क्रम : ५८।

चतुर्थ अध्याय

रुद्र-सम्प्रदाय, शुद्धाद्वैत या वल्लभ-सिद्धान्त : ६५–८०

आचार्य-परम्परा : ६५; वल्लभाचार्य : ६६; जीव का स्वरूप : ६७; परब्रह्म का स्वरूप : ६९; मुक्ति का स्वरूप : ७०; मार्ग का स्वरूप : ७१; प्रपंच का स्वरूप : ७४; मुक्ति का उपाय : ७७; प्रमेय वस्तु या तत्त्व : ७७।

सहज और सिद्ध-धारा

प्रथम अध्याय

सहजयान और सिद्धमार्ग : ८३

द्वितीय अध्याय

सहज और सिद्धधारा : १०१

तृतीय अध्याय
सिद्धों की चक्र-साधना : ११४

चतुर्थ अध्याय
सिद्धों का साधना-मार्ग : १२०

वेदान्त-धारा

शांकर वेदान्त और अद्वैत-प्रस्थान : १३३–२३६

बादरायण का ब्रह्मसूत्र : १३३; वेदान्त और प्राचीन आचार्य-सम्प्रदाय : १३६; प्राचीन वेदान्त-मत : १४०; भर्तृमित्र : १४२; भर्तृहरि : १४३; उपवर्ष : १४३; बोधायन : १४४; ब्रह्मनन्दी : १४४; टंक : १४४; ब्रह्मदत्त : १४४; भारुचि : १४७; द्रविडाचार्य : १४७; सुन्दरपाण्ड्य : १४८; शंकराचार्य-कृत ब्रह्मसूत्रभाष्य : १४९; शंकर की गुरु-परम्परा : १५०; गोविन्दपाद : १५०; गौडपाद : १५१; भगवान् शंकराचार्य का आविर्भाव-काल : १५३; आदि शंकराचार्य ने किस-किस ग्रन्थ की रचना की ? : १५९; श्रीशंकराचार्य के शिष्य : १६८; सुरेश्वराचार्य : १६८; पद्मपादाचार्य : १७३; त्रोटकाचार्य : १७४; हस्तामलकाचार्य : १७४; श्रीशंकराचार्य का मतस्थापन और धर्मप्रचार : १७५; शंकराचार्य के मठों की तालिका : १७९; 'श्रीविद्यार्णव' नामक ग्रन्थ के अनुसार शंकर-सम्प्रदाय का विवरण : १८०; शंकर का तिरोधान : १८३; शंकराचार्य के समय में और उनके पहले की दार्शनिक स्थिति : १८५; पाशुपत-मत : १९३; पांचरात्र भागवत-मत : १९४; प्राचीन अद्वैतवाद से शंकर के अद्वैतवाद का सम्बन्ध : १९८; बौद्ध अद्वयवाद : २०२; शब्दाद्वयवाद : २१४; शिवाद्वैतवाद : २१६; शाक्ताद्वैतवाद : २१९; नाथ-सम्प्रदाय का अद्वैतवाद : २२०; शंकर-परवर्त्ती प्राचीन वेदान्त : २२१; यादवाचार्य : २२७; शंकराचार्य से रत्नप्रभाकार तक अद्वैत-वेदान्त का इतिहास २२८।

भारतीय साधना की धारा

वैष्णव साधना और साहित्य

सूचना

भारतवर्ष में चार वैष्णव-सम्प्रदाय चार पृथक् धाराओं में वैष्णवधर्म का प्रचार करते आ रहे हैं। चारों पांचरात्र-सिद्धान्त के अनुसरणकर्त्ता हैं। पहला **श्री-सम्प्रदाय** नाम से प्रसिद्ध है। इसकी आदिप्रवर्त्तिका श्री या लक्ष्मी हैं और दार्शनिक मत है **विशिष्टाद्वैत**। **श्रीरामानुजाचार्य** इसके प्रधान प्रचारक हैं। दूसरा सम्प्रदाय सनकादि-प्रवर्त्तित है, इसलिए **हंस-सम्प्रदाय** नाम से परिचित है। इसका सिद्धान्त है **द्वैताद्वैत** और इसके प्रधान प्रचारक हैं **श्रीनिम्बार्काचार्य**। तीसरा, ब्रह्मप्रवर्त्तित **द्वैतमतावलम्बी ब्रह्म-सम्प्रदाय** है। इस मत के प्रधान आचार्य हैं **श्रीमन्मध्वाचार्य**। चौथे सम्प्रदाय का नाम है **रुद्र-सम्प्रदाय**। इसके आदिगुरु हैं **रुद्रदेव**, सिद्धान्त है **शुद्धाद्वैत** एवं प्रधान प्रचारक **विष्णुस्वामी** तथा बाद में **वल्लभाचार्य** हैं। कहना नहीं होगा, चैतन्यदेव के नामानुसार, कोई स्वतन्त्र वैष्णव-सम्प्रदाय नहीं है। साधारणतः, माध्व-सम्प्रदाय में ही चैतन्यदेव के गौडीय सम्प्रदाय की गणना होती है। गुरु-परम्परा की आलोचना से भी यही ज्ञात होता है। **चैतन्यदेव** के संन्यास-गुरु केशवभारती माध्व-सम्प्रदाय के संन्यासी थे। उनके दीक्षागुरु **ईश्वरपुरी** और संन्यास-गुरु **केशवभारती** दोनों ही **श्रीमन्माधवेन्द्रपुरी** के शिष्य थे। किन्तु, मध्वाचार्य के सिद्धान्त से श्रीचैतन्य के अभिमत दार्शनिक सिद्धान्त का ऐक्य नहीं है। यहाँतक कि दोनों में उपासना-प्रणाली और आदर्शगत भेद भी बहुत है।

गौडीय मत के मूल की खोज करने में बहुत स्थलों पर ही दृष्टि पड़ती है। गौडीयों ने पांचरात्रशास्त्र, शाक्ततन्त्र, महायान आदि बौद्ध साधन-प्रणालियों से ही बहुत-से तत्त्व स्वकीय सिद्धान्त के अनुकूल रूप में ग्रहण किये हैं। ये सब आगम के ही अन्तर्गत हैं। अतएव, गौडीय सिद्धान्त के मूल में आगम की प्रधानता है, इसमें सन्देह नहीं। आगम से वेद का क्या सम्बन्ध है, इसपर अनेक प्रकार के मत हैं। यहाँ उन सबकी चर्चा की आवश्यकता नहीं। एक समय आगम की प्रामाणिकता एवं वैदिकता को लेकर देश में बड़ा आन्दोलन हुआ था। यहाँ इतना कहना ही यथेष्ट होगा कि गौडीय आचार्यों ने अन्यान्य सम्प्रदायों की भाँति अपने मत को वैदिक या श्रौत सिद्धान्त कहकर ही प्रचारित किया है, एवं उपनिषद् तथा पुराण आदि की सहायता से अपने सिद्धान्त के समर्थन की चेष्टा की है। कहना बाहुल्य है, स्मार्त्त वैष्णवमत को शैवमत की भाँति अवैदिक कहकर साधारणतः उपेक्षा किया करते हैं।

गौडीय सम्प्रदाय **पांचरात्र-मतभुक्त** है, यह स्पष्ट ही समझ में आता है। पांचरात्र से **भागवत-सम्प्रदाय** भी समझना होगा। अवश्य, मूलतः पांचरात्र और भागवत-सम्प्रदाय में

कुछ-कुछ वैलक्षण्य था। परन्तु, कालक्रम से दोनों सम्प्रदाय मिल गये।[१] भागवत-सम्प्रदाय विशेषतः 'श्रीमद्भागवत' पर प्रतिष्ठित था।[२] श्रीमद्जीवगोस्वामी ने उक्त ग्रन्थ की टीका में तथा स्वरचित 'षट्सन्दर्भ' नामक निबन्ध में भागवत-मत की आलोचना की है। उन्होंने भी पांचरात्र-मत से भागवत का समन्वय दिखाया है।

पांचरात्र या भागवत-धर्म भक्तिप्रधान है। वैदिक साहित्य में भक्ति की चर्चा बहुत ही विरल है। वैदिक उपासना को यद्यपि बहुत-से लोग भक्ति का स्थानाभिषिक्त मानते हैं, और कुछ अंश में यह सत्य भी है, तथापि 'भक्ति' कहने से जो बोध होता है, ठीक वही चीज वैदिक कर्म या ज्ञान या उपासनाकाण्ड में नहीं मिलती। विभिन्न मतों से भक्ति का लक्षण विभिन्न रूपों में किया तो जा सकता है, किन्तु चरम अवस्था में भक्ति को चित्त का भावमय प्रकाश ही मानना पड़ता है। न्यायवैशेषिक आदि दर्शनशास्त्रों में भाव की आलोचना जैसे उपेक्षित हुई है,[३] वैसे ही वैदिक साधन-पद्धति में भी भक्ति का कोई स्थान नहीं है।

---

१. महाभारत के शान्तिपर्व, मोक्षधर्मपर्व और नारायणीय खण्ड (अध्याय ३५०) में भी पांचरात्रमत का उल्लेख है। इसके वक्ता हैं नारायण और श्रोता नारद। बहुतों का यह विश्वास है कि पाशुपत, सांख्य, योग आदि की भाँति यह अवैदिक सिद्धान्त है। हर्षचरित में पांचरात्र और भागवत का अलग उल्लेख है। ब्रह्मसूत्र के दो सूत्र, २।२।४२-४३, शंकरमत से भागवतमत के विरुद्ध हैं। संशोधित रूप में यह अधिकरण रामानुज-मत से पांचरात्र-सिद्धान्त का समर्थक है। रामानुज का विश्वास था कि बादरायण पांचरात्र-विरोधी नहीं थे और पांचरात्र-मत अवैदिक नहीं है। यामुनाचार्य ने भी उनके पहले 'आगम-प्रामाण्य' रचकर पांचरात्र-सिद्धान्त के वैदिकत्व की स्थापना की चेष्टा की थी। महाभारत के नारायणीय मत से पांचरात्र सात्वतों का धर्म है, इसीलिए कभी-कभी यह सात्वत-धर्म के नाम से भी वर्णित होता है।

२. श्रीमद्भागवत का काल-निरूपण करना बड़ा कठिन है। लेकिन, यह तो नया ग्रन्थ नहीं है, या वोपदेव-रचित नहीं है। इस सम्बन्ध में यही कहना यथेष्ट होगा कि काशी-संस्कृत-कॉलेज के सरस्वती-भवन में वोपदेव के जन्म के भी बहुत पहले की श्रीमद्भागवत की एक हस्तलिखित पोथी है। लिपि-विचार से यह ग्रन्थ बारहवीं सदी के आसपास का लगता है। सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् श्रीसिलवाँ लेवी ने भी उस पोथी को देखकर उक्त काल के अनुमान का समर्थन किया था।

३. ज्ञान, इच्छा आदि आत्मविशेष गुण या चित्तधर्म की गणना करते हुए भाव (emotion) का उल्लेख नहीं किया गया है। इच्छा को ठीक-ठीक भाव नहीं कहा जा सकता। सुख-दुःख भी भावपदवाच्य नहीं। अलंकारशास्त्र में भाव का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार है। पर, यह शास्त्र आगममूलक है। फलस्वरूप,

शाण्डिल्य और नारद भक्तिसूत्र के रचयिता हैं। दोनों से ही, पांचरात्र-मत का घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। कहा जाता है, चारों वेदों में परम श्रेयस् नहीं पाकर शाण्डिल्य ऋषि ने पांचरात्र का आश्रय लेकर तृप्ति लाभ की थी। शाण्डिल्यसंहिता नामक एक पांचरात्रसंहिता का उल्लेख बहुत-से प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान और नारदपांचरात्र आदि की आलोचना से पता चलता है कि नारद भी पांचरात्र-मतावलम्बी थे। छान्दोग्य उपनिषद् के नारद-सनत्कुमार-संवाद से भी नारद के मन्त्रविद्या-विरोध का अनुमान होता है। जिस प्रकार कर्मवादी कर्म से, उसी प्रकार ज्ञानवादी ज्ञान से निःश्रेयस्-लाभ होने की बात कहते हैं। न्यायवैशेषिक आदि दर्शनशास्त्र ज्ञानप्राधान्य-ख्यापक हैं। ज्ञान तथा उससे मिलनेवाले अपवर्ग का लक्षण यद्यपि प्रत्येक दर्शन में ही विभिन्न रूपों से निरुक्त हुआ है, तथापि आत्मज्ञान हुए विना मुक्ति नहीं होती, यह सभी अंगीकार करते हैं। भक्तिशास्त्र प्रधानतया भक्ति का माहात्म्य-ख्यापक है। शाण्डिल्य और नारद के ग्रन्थों में भी स्वभावतः भक्ति की मुख्यता ही गाई गई है। कहीं भक्ति को मुक्ति का साक्षात् कारणरूप, कहीं भक्ति को भक्ति का ही, अर्थात् पराभक्ति का साधक कहा गया है—मुक्ति को दोनों का अन्तरालवर्त्ती अवान्तर व्यापार कहकर उनकी उपेक्षा की गई है। भक्तिशास्त्र बहुत विस्तृत और अनेक प्रकार के मतों से समन्वित है। हम यथासमय उनकी आलोचना की चेष्टा करेंगे।

वर्त्तमान प्रबन्ध में वैष्णवधर्म का पूर्व इतिहास आलोच्य नहीं। परन्तु, गौडीय सिद्धान्त के मर्म को समझने के लिए जितना आवश्यक है, उतने की संक्षेप में चर्चा करनी होगी। पांचरात्रशास्त्र का मूलग्रन्थ **'संहिता'** अथवा **'तन्त्र'** आख्या-समन्वित आगम-साहित्य है। ग्रन्थों में साधारणतया अष्टोत्तरशत-संख्यक **'पांचरात्रसंहिता'** का उल्लेख मिलता है। किन्तु, डॉक्टर श्रेडर ने दिखाया है कि यह संख्या-निर्देश ठीक नहीं है। कपिंजल, पाद्म, विष्णु तथा हयशीर्षसंहिता एवं अग्निपुराण से उन्होंने जो नामावली संग्रह करके प्रकाशित की है, उसमें २१० नाम मिलते हैं। इनके अतिरिक्त भी उन्होंने और भी अनेक संहिताओं के नामों का उल्लेख किया है। कहना व्यर्थ है, इसके बाद भी नामावली पूरी हुई है, ऐसा नहीं लगता। क्योंकि, इन सब नामों के अलावा और भी बहुत-से नाम प्रसंगतः प्राचीन साहित्य में मिलते हैं और बहुत बार एक ही नाम की बहुसंख्यक संहिताएँ भी देखने को मिलती हैं। यह डॉ० श्रेडर ने भी लक्ष्य किया है। ऐसे विस्तृत साहित्य में सर्वत्र एक ही भाव अक्षुण्ण रूप में मिलेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। काश्मीरागम में जैसे अद्वैतवाद या द्वैतवाद, दोनों का ही सन्निवेश है, पांचरात्र-आगम में भी बहुत कुछ वैसा ही है। परन्तु, वह अद्वैतवाद श्रीशंकराचार्य-प्रचारित निर्विशेषाद्वैतवाद से पृथक् है। स्पन्द और प्रत्यभिज्ञादर्शन में अद्वैत या अद्वय से शिव-शक्ति के सामरस्य का तात्पर्य है।

वैदिक साधना में भाव का स्थान कहाँ है, यह नहीं जाना जाता। सम्भवतः, वासनात्मक होने के कारण वैराग्यमूलक ज्ञानकाण्ड में इसका स्थान नहीं। काण्डद्वय ज्ञान और क्रियाप्रधान है। 'संकर्षणकाण्ड' नामक उपासनाकाण्ड में ही इसका स्थान कहाँ है ?

शिव-शक्ति का वैषम्य ही षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक द्वैत है और दोनों का साम्यभाव अद्वैत। पांचरात्र-मत भी प्रायः ऐसा ही है। पराशक्ति या लक्ष्मी जब परमेश्वर में विलीन रहती हैं, तब प्रलय-अवस्था है—यह शक्ति की निष्क्रिय दशा है। इसी को अद्वयावस्था कहकर वर्णित किया जाता है। शंकर-मत में शक्ति की वास्तव सत्ता नहीं—पारमार्थिक दृष्टि से शक्ति तुच्छ, विचारदृष्टि से अनिवर्चनीय या मिथ्या और व्यवहारदृष्टि से सत्य है। पारमार्थिक सत्ता एकमात्र ब्रह्म की ही है। अतएव, शंकर-प्रतिपादित अद्वैतवाद में शक्ति का स्थान नहीं। शक्ति की पारमार्थिकता को अस्वीकार करने के फलस्वरूप जीव और जगत्, मिथ्या के रूप में उपेक्षित हुए हैं। कर्म, उपासना, भक्ति आदि की वास्तविकता जाती रही, सम्बन्ध और सम्बन्धात्मक ज्ञान मायिक कहकर अनादृत हुआ। कहना नहीं होगा, भक्तिमार्ग में शक्ति की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। शक्ति के विशुद्ध और निर्मल स्वरूप को स्वीकार नहीं करने से ईश्वर, जीव और जगत् तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध, सब कुछ अज्ञानकल्पित कहकर हेय हो पड़ते हैं; भक्ति, करुणा, कर्म आदि का उत्स सूख जाता है। शैव, वैष्णव या शाक्त आगम में जो अद्वैतवाद है, वह भक्ति-साधना या रसास्वादन का परिपन्थी नहीं; क्योंकि वह शक्तित्यागमूलक नहीं, शक्तिग्रहणमूलक है। महायान बौद्ध-सम्प्रदाय में भी इसीलिए प्रज्ञापारमिता की सत्ता को अस्वीकार करके बोधिसत्त्ववाद की नींव डाली गई। पांचरात्र-सम्प्रदाय का अद्वैतवाद शक्ति और शक्तिमान् का समन्वयमूलक है। दोनों का समवाय या अविनाभाव-सम्बन्ध स्थापित करके प्राचीन वैष्णवाचार्यों ने शक्ति की निष्क्रिय किंवा अव्यक्त अवस्था में सत्ता को मान लिया है, ऐसा देखा जाता है।

भगवान् के संकल्पवश उनमें विलीन महाशक्ति, मेघाच्छन्न आकाश में बिजली की कौंध की नाईं उन्मेष-लाभ करती है। अव्यक्त दशा में शक्ति और शक्तिमान् में भेद रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं रहती। इसे एक प्रकार की निर्वात स्पन्दन-रहित निर्वाणावस्था कही जाती है। जो संकल्पनिबन्धन प्रसुप्त महाशक्ति उद्बुद्ध होती है, वह भगवान् का अनिर्वचनीय स्वातन्त्र्य है। यह उनका स्वभाव है। इस उद्बोधन के समय लेशमात्र शक्ति का ही उन्मेष होता है, बाकी समग्र शक्ति ही अव्यक्त रह जाती है। अभिव्यक्त शक्ति क्रिया एवं भूतिभेद से दो प्रकार की है। क्रियाशक्ति को अहिर्बुध्न्यसंहिता में सौदर्शनी कला कहकर उसका निर्वचन किया गया है। यह निष्कल एवं प्राणात्मक है। भूतिशक्ति सकल तथा नाना प्रकार के भेदवाली क्रियाशक्ति की तुलना में बहुत क्षुद्र है। भूति के परिवर्त्तन आदि समस्त व्यापार ही क्रियासापेक्ष हैं। यह क्रियाशक्ति ही सृष्टि के समय मूला प्रकृति में परिणाम-सामर्थ्य, काल में कलन-सामर्थ्य और आत्मा में भोग-सामर्थ्य का संचार करती है और संहारकाल में उन सामर्थ्यों का प्रत्याकर्षण करती है।

शक्ति का विकास और संकोच पर्याय-क्रम से होता है। इसीलिए, सृष्टि के बाद प्रलय और उसके बाद फिर से सृष्टि स्वभाव के नियम से ही होती है। सृष्टि शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध—तीन प्रकार की है। काश्मीरागम और त्रिपुरा-साहित्य में भी इसी प्रकार

त्रिविध अध्वा स्वीकृत हुई है। गुणोन्मेष-दशा शुद्ध सृष्टि का नामान्तर है। इस समय भगवान् के अप्राकृत षड्गुण का आविर्भाव होता है। इन सभी गुणों के सद्भाववश भगवान् प्राकृतिक गुणत्रय से रहित होते हुए भी, अर्थात् तथाकथित निर्गुणावस्था में भी नित्य सगुण हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य एवं तेज की समष्टि उनमें सदा वर्त्तमान होती है, इसीलिए वैष्णवागम में बहुत स्थानों पर उन्हें षाड्गुण्यविग्रह कहकर वर्णित किया जाता है। ज्ञान भगवान् का स्वरूप एवं धर्म है—अन्यान्य गुण केवल धर्म ही है, स्वरूप नहीं। इच्छाशक्ति ही ऐश्वर्य है। अबाधित इच्छा का नाम इच्छाशक्ति है। भगवदिच्छा का प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, इसीलिए वह ऐश्वर्यमय या ईश्वर हैं। जगत् के प्रकृतिभाव या उपादान को शक्ति कहते हैं। भगवत्-सृष्टि बाह्य-उपादानसापेक्ष नहीं। भगवान् जगत् के निमित्त और उपादान—एक ही साथ दोनों हैं। बल श्रम का अभाव है और वीर्य विकार-राहित्य। साधारणतया, देखा जाता है कि दूध दही में बदलकर विकार प्राप्त होता है—प्रकृति विकृत हुए बिना परिणाम-लाभ नहीं कर सकती। परन्तु, भगवत्सामर्थ्य अचिन्त्य है—वह जगत् का प्रसव करके भी निर्विकार भाव से ही वर्त्तमान रहते हैं। तेज सहकारिनिरपेक्षता है। इन छह गुणों में ज्ञान आदि प्रथम तीन विश्रामभूमि और बल आदि तीन श्रमभूमि कहे जाते हैं। इन गुणों का मिलित रूप ही भगवान् और लक्ष्मी की मूर्त्ति है। परव्योम या वैकुण्ठ-निवासी मुक्त आत्माएँ सदा इसी रूप का दर्शन किया करती हैं।

षाड्गुण्ययुक्त, किन्तु शक्ति से पृथक्-भूत भगवान् ही वासुदेव हैं। वासुदेव से संकर्षण आदि तीन व्यूहों का क्रमशः आविर्भाव होता है। एक प्रदीप से दूसरा प्रदीप जैसे प्रज्वलित होता है, एक व्यूह से दूसरा एक व्यूह भी वैसे ही अभिव्यक्त होता है। उनमें ज्ञान और बल संकर्षण में, ऐश्वर्य और वीर्य प्रद्युम्न में, शक्ति और तेज अनि-रुद्ध में प्रधान रूप से प्रकाशित होता है। अन्यान्य गुण गौण भाव से रहते हैं। संकर्षण से अनिरुद्ध तक व्यूह के आविर्भाव-काल को शुद्ध सृष्टि का काल माना जा सकता है। शुद्ध सृष्टि के प्रलयकाल को भी उसी परिमाण में समझना होगा।[1]

---

१. व्यूहशक्ति की सृष्टि-प्रणाली महासनत्कुमारसंहिता में इस प्रकार है :

वासुदेव
|
श्वेतवर्णा शान्तिदेवी (भगवान् की मनोजन्या)
=संकर्षण (दोनों को एकत्र शिवतत्त्व कहते हैं)
|
रक्तवर्णा श्री (संकर्षण की वामपार्श्वजाता)
=प्रद्युम्न (या ब्रह्मा)
|
पीता सरस्वती
=अनिरुद्ध (दोनों एकत्र पुरुषोत्तम)
|
कृष्णवर्णा रति। ये त्रिविध मायाकोष हैं।

संकर्षण से ही सारा विश्व प्रकट होता है। कहा गया है, संकर्षण की देह में समग्र विश्व तिलकालकवत् बीजभूत होकर एक छोटे से अंश में वर्त्तमान है। संकर्षण अनन्त भुवनसमूह के आधार बलदेव का स्वरूप है। प्रद्युम्न से पुरुष और प्रकृति का भेद अभिव्यक्त होता है। ये ऐश्वर्य-योग से मानव-सर्ग और विद्या-सर्ग का विस्तार करते हैं। समष्टि पुरुष, मूला प्रकृति और सूक्ष्म काल इसी व्यूह से ही प्रकाशित होते हैं। अनिरुद्ध से व्यक्त जगत्, स्थूल काल एवं मिश्र सृष्टि उद्‌भूत होती है। वह अपनी शक्ति के द्वारा ब्रह्माण्ड-समूह और उसके अन्तर्गत विषयराजि नियमित करते हैं। व्यूह आदि कार्य प्रभृति के विषय में बहुत मतभेद है।

भगवान् के परम रूप की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उनकी शक्ति है लक्ष्मी या श्री। अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि किसी-किसी पांचरात्र-ग्रन्थ में पराशक्ति का यही रूप ही स्वीकृत हुआ है। किसी-किसी ग्रन्थ में श्री एवं भू—इन दो शक्तियों की बात मिलती है। पाद्मतन्त्र, परमेश्वरसंहिता आदि इसी मत का अवलम्बन करते हैं। विहगेन्द्रसंहिता आदि संहिताओं के अनुसार शक्ति तीन प्रकार की है—श्री, भू और लीला (या नीला)। सीतोपनिषद् में यह विभाग गृहीत हुआ है। शक्तित्रयवादी कहते हैं कि श्री कल्याण-वाचक एवं इच्छाशक्ति-स्वरूप, भू प्रभावद्योतक और क्रियाशक्तिरूप तथा लीला चन्द्र-सूर्याग्निमयी साक्षात् शक्तिस्वरूपा है।

परव्योम में नित्य एवं मुक्त—इन दो प्रकार के जीवों का आवास है। नित्यजीव सदा मुक्त हैं, इन्हें संसार का स्पर्श कभी नहीं हुआ। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों में 'सूरि' शब्द से इन्हें संकेतित किया गया है। ये सर्वज्ञ और भगवान् के सेवक हैं। इनके सेवाधिकार का वैशिष्ट्य भगवान् के नित्य इच्छानुसार अनादिकाल से व्यवस्थित है। इनमें चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र आदि वैकुण्ठ के द्वार-रक्षक हैं; कुमुद, कुमुदाक्ष पुण्डरीक, वामन आदि नगरपाल, अनन्त या शेष भगवान् की शय्या, गरुड उनका वाहन और विष्वक्-सेन मन्त्रणासहायक हैं। भगवान् के पार्षद नित्यजीव-श्रेणी के अन्तर्भुक्त हैं। ये जगत् में यथेष्ट (इच्छानुसार) अवतीर्ण होते हैं। मुक्त जीव ज्ञानानन्दमय हैं, कोटिरश्मिविभूषित त्रसरेणु की भाँति परव्योम में विराजते हैं। ये भगवान् के पार्षद या अधिकारी-मण्डल से अलग हैं। मुक्तों के प्राकृत देह तो नहीं हैं, परन्तु अप्राकृत देह धारण कर वे इच्छानुसार जगत् में विचरण कर सकते हैं। परन्तु, जगत् के किसी भी मामले में दखल देने का अधिकार उन्हें नहीं है। भगवत्सेवा ही उनका एकमात्र लक्ष्य है।

वैकुण्ठधाम, जो प्रकृति के ऊपर अवस्थित है, विशुद्धसत्त्वमय, शक्तिसमन्वित परमपुरुष की क्रीडाभूमि है, यह निम्नांकित पांचरात्र-वचन से स्पष्ट प्रमाणित होता है :

यह सृष्टि बहिरण्डज है, अतएव ब्रह्माण्ड-संसृष्ट शिव आदि से यह शिव, ब्रह्मा और विष्णु पृथक् तत्त्व हैं।

लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यं षाड्गुण्यसंयुतम् ।
अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम् ।।
नित्यमुक्तैः समाकीर्णं तन्मयैः पाञ्चकालिकैः ।
सभाप्रसादसंयुक्तैर्वनैश्चोपवनैः शुभैः ।।
वापीकूपतडागैश्च वृक्षखण्डैश्च मण्डितम् ।
अप्राकृतसुरैर्वन्द्यमयुतार्कसमप्रभम् ।।
प्रकृष्टसत्त्वराशिं त्वां कदा द्रक्ष्यामि चक्षुषा ।
क्रीडन्तं रमया सार्द्धं लीलाभूमिषु केशव ।।

रामानुजाचार्य ने अपने गद्यत्रयान्तर्गत 'श्रीवैकुण्ठगद्य' नामक निबन्ध में वैकुण्ठ का अपूर्व मनोहर वर्णन प्रस्तुत किया है।

हमने बहुत ही संक्षेप में, पांचरात्र-सम्प्रदाय के व्यूह और शुद्धसृष्टि की प्रणाली के बारे में दो-एक बातें कहीं। अब सम्प्रदाय-चतुष्टय के सिद्धान्त के सम्बन्ध में मोटा-मोटी कुछ चर्चा करेंगे। वैष्णव-सम्प्रदायों में श्री और ब्रह्म-सम्प्रदाय ने शक्ति और शक्तिमान् को विष्णु और लक्ष्मी के रूप में ग्रहण किया है। निम्बार्क-सम्प्रदाय राधा-कृष्ण का उपासक है—विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय भी वही है। श्रीचैतन्यदेव यद्यपि माध्वीय गुरु के शिष्य थे, तथापि वह राधा-कृष्ण के ही प्राधान्य का प्रचार कर गये हैं। पांचरात्र में साधारणतः विष्णु-लक्ष्मी की उपासना ही कीर्त्तित हुई है। परन्तु, राधा-कृष्ण की प्रधानता या वृन्दावन-लीला का महत्त्व बिलकुल है ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। नारद-पांचरात्र में राधा की चर्चा मिलती है। उक्त ग्रन्थ का 'ज्ञानामृतसार' अंश प्रकाशित हुआ है। डॉक्टर भण्डारकर एवं उनके अनुसरण से डॉक्टर श्रेडर ने यद्यपि नारद-पांचरात्र की प्राचीनता के बारे में सन्देह प्रकट किया है, तथापि यह खयाल करने का विशेष कोई हेतु नहीं है कि वह ग्रन्थ अत्यन्त अर्वाचीन है। चैतन्यदेव ने दक्षिण से जो 'ब्रह्मसंहिता' ग्रन्थ मँगवाया था, वह प्राचीन और प्रामाणिक है, यह निःसंशय है। उसमें भी प्रधान रूप से वृन्दावन-तत्त्व ही अंगीकृत मिलता है। काशी-संस्कृत-कॉलेज में 'सनत्कुमारसंहिता' की जो पोथी है, वह पांचरात्रसंहिता तो है, पर राधाकृष्ण-तत्त्वप्रतिपादक। इसलिए, पांचरात्र-सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का स्थान नहीं है, सर्वथा यह नहीं कहा जा सकता। मेरा विश्वास है, प्राचीन काल में भागवत-सम्प्रदाय ने राधा-कृष्ण एवं वृन्दावन की महिमा का विशेष रूप से प्रचार किया था। जब उक्त सम्प्रदाय पांचरात्र से मिल गया, तभी से इस सांकर्य का आविर्भाव हुआ। तत्त्व या रस की दिशा को छोड़ भी दिया जाय, तो भी देवकीनन्दन कृष्णवासुदेव एवं यशोदानन्दन कृष्णगोपाल की आख्यायिका में साम्प्रदायिक या ऐतिहासिक रहस्य निहित है।

प्रथम अध्याय

श्री-सम्प्रदाय, रामानुज-मत या विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

तत्त्व :

श्री-सम्प्रदाय की दृष्टि में चित्, अचित् एवं ईश्वर—ये तीन मूल तत्त्व हैं। इनमें ईश्वर विशेष्य या अंगी हैं, बाकी दो उनके विशेषण या अंग। ईश्वर नित्य ही चित् और अचित् के द्वारा विशिष्ट हैं। सृष्टिकाल में चित् और अचित् स्थूल, प्रलयावस्था में सूक्ष्म हैं। **चित्-तत्त्व** आत्मा है। यह देह आदि से पृथक्, स्वप्रकाश, अर्थात् स्वभावतः अनुकूल, नित्य, अणु, अव्यक्त या अतीन्द्रिय, अचिन्त्य, निरवयव—सदा एकरूप और निर्विकार है। ज्ञानस्वरूप होते हुए भी आत्मा ज्ञान का आधार या ज्ञाता ईश्वर का नियम्य, धार्य एवं अंगभूत है। आत्मा अणु होते हुए भी उसका ज्ञान सर्वत्र व्यापक है, इसीलिए वह भोग क कोई प्रतिबन्धक नहीं होती। ज्ञान की व्याप्ति के द्वारा ही एक आत्मा एक ही समय में अनेक देह ग्रहण कर सकती है। क्रिया और भोग ज्ञान के ही प्रकारभेद हैं, इसलिए वह आत्मा के ज्ञातृत्व के साथ-साथ उसका कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व सिद्ध होता है। सांसारिक प्रवृत्ति में आत्मा का कर्त्तृत्व स्वाभाविक नहीं, गुणसंसर्ग-कृत है। जीव का कर्त्तृत्व ईश्वर-परतन्त्र है,—उसके ज्ञान से क्रियारूप अवस्था के विकास के लिए ईश्वर की अनुमति आवश्यक है। जीव की आद्य स्वातन्त्र्य-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है, इसलिए उसकी स्वाधीनता भी भगवदधीन है। अतएव, भगवद्दास्य या कैंकर्य ही जीव के लिए यथार्थ स्वातन्त्र्य या परम पुरुषार्थ है, इसे स्वीकार करना पड़ेगा। विशिष्टाद्वैतवादियों की मुक्ति का स्वरूपलक्षण इससे ही स्पष्ट प्रतीयमान होता है। जीव के आद्य प्रयत्न के अनुसार भगवान् उसे कर्म-विशेष में प्रवर्त्तित करते हैं। इसलिए, भगवान् का प्रेरकत्व साधारणतया अनुमोदकता के सिवा और कुछ नहीं। परन्तु, स्थानविशेष में वह निरपेक्ष भाव से भी जीव को प्रयोजित करते हैं। आत्मा को प्रकाशित करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं, यह स्वयं प्रकाशमान है।

बद्ध, मुक्त और नित्य—इन तीन प्रकार की आत्मा का विवरण मिलता है। प्रत्येक कोटि की ही आत्मा संख्या में अनन्त है। प्रकृति से ही संसर्गनिबन्धन आत्मा में अविद्या, कर्म, वासना और रुचि उत्पन्न होती है। अचित्-सम्बन्ध के निवृत्त होने से अविद्या आदि की निवृत्ति होती है। अविद्या-अज्ञान—यह अनेकविध है। पाप-पुण्य आदि क्रियाएँ ही कर्म हैं। पहले के किये कर्म में पुनरभिनिवेश-हेतु संस्कार को वासना कहते हैं। रुचि आदर है। आत्मा के स्वरूप की भाँति ज्ञान भी नित्य, द्रव्यात्मक, अजड़ और आनन्दरूप है। आत्मा में संकोच और विकास नहीं—परन्तु ज्ञान का संकोच और विकास है। प्रकृति के

सम्बन्ध से ही ज्ञान का संकोच होता है। सुतरां, मुक्तावस्था में सब आत्मा का ही ज्ञान पूर्णतया विकसित और विभु होता है। बद्धावस्था में संकोचवशतः ज्ञान परिच्छिन्न होता है। आत्मा आप अपना प्रकाश करती है—ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं है, केवल परप्रकाशक है। आत्मा अपने-आप प्रकाशमान है, ज्ञान ऐसा नहीं। ज्ञान नित्य है——इन्द्रियद्वार में प्रसृत होकर यह विषयग्रहणपूर्वक प्रतिनिवृत्त होता है। निद्रा में ज्ञान का प्रसार नहीं होता। क्रिया और गुण का आश्रय एवं अजड होने से ज्ञान द्रव्यात्मक है। प्रकाश की अवस्था में अनुकूल होता है, इसलिए ज्ञान स्वभावतः आनन्दरूप है। देहात्मक भ्रम ही प्रतिकूल ज्ञान या दुःख का हेतु है। जगत् के सारे ही पदार्थ ईश्वरात्मक हैं, अतएव स्वभावतः अनुकूल हैं। प्रतिकूल भाव औपाधिक-मात्र हैं।

अचित् या जडतत्त्व में विकार आता है। शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और काल—रामानुजानुयायी ये तीन जड पदार्थ मानते हैं। **शुद्धसत्त्व** में रज और तमोगुण का सम्बन्ध नहीं, इसलिए यह नित्य, निर्मल एवं ज्ञान और आनन्द का जनक है। केवलमात्र भगवदिच्छा से ही यह सत्त्व परिणत होकर कर्मनिरपेक्ष भाव से नित्य धाम के यावतीय पदार्थों का आकार ग्रहण करता है। समस्त वैकुण्ठधाम, विमान-गोपुर आदि, नित्यमुक्त जीव और भगवान् की देह आदि सारी ही वस्तुएँ इस विशुद्ध उपादान से घटित हैं। यह अनन्त तेजोमय अद्भुत पदार्थ है। ईश्वर और नित्यमुक्त जीव भी इसकी सीमा ढूँढ़कर नहीं पाते। इसका स्वरूप बता सकना बड़ा ही कठिन है। किन्हीं के अनुसार यह जड है, किन्हीं के मत से अजड। जो इसे अजड मानते हैं, वे कहते हैं, नित्यमुक्त जीव या ईश्वर के ज्ञान विना ही यह अपने-आप प्रकाशित होता है, परन्तु संसारी या बद्ध जीव के पास यह प्रतिभात नहीं होता। शुद्धसत्त्व 'मैं'-रूप में प्रकाशित नहीं होता, पर शरीर आदि के रूप में परिणत होता है और विषय-संस्पर्श विना प्रतिभात होता है। शब्द आदि इसके धर्म हैं। **मिश्रसत्त्व** रज और तमोमिश्र है, बद्ध जीव के ज्ञान और आनन्द का आवरक, नित्य एवं ईश्वर की जगत्-सृष्टि आदि व्यापार का परिकर। मिश्रसत्त्व ही विपरीत ज्ञान का हेतु है। इसी से प्रदेशभेद और कालभेद से सदृश और विसदृश सभी बिकार उत्पन्न होते हैं। प्रकृति, अविद्या, माया आदि इसी के नामान्तर हैं। यह ज्ञानविरोधी एवं विचित्र सृष्टिसाधक है। यह बढ़कर क्रमशः चतुर्विंशति तत्त्व में परिणत होता है। सत्त्वशून्य, त्रिगुणरहित अचिद् वस्तु **काल** है। यह प्रकृति और प्राकृत वस्तु का परिणामसाधक है। नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत—सभी प्रकार के प्रलय काल के अधीन हैं। कलाकाष्ठा आदि रूप में परिणत काल ईश्वर का लीला-परिकर और देहस्वरूप है। लीलाविभूति में ईश्वर कालाधीन होकर कार्य करते हैं, किन्तु नित्यविभूति में काल का अस्तित्व रहने पर भी स्वातन्त्र्य नहीं है। कोई-कोई उस अवस्था में काल की सत्ता को स्वीकार नहीं करते और कोई षडिन्द्रियवेद्य कहकर वर्णन करते हैं। जीवात्मा और परमात्मा का भोग्य, भोगस्थान और भोगोपकरण इन्द्रिय शुद्ध और मिश्रसत्त्व से घटित होते हैं। विशुद्ध सत्त्व चारों ओर और ऊर्ध्वप्रदेश में अनन्त हैं। मलिनसत्त्व चारों ओर और निम्नप्रदेश में अनन्त हैं।

ईश्वर-तत्त्व ही मूल तत्त्व है। आत्मा और जड ईश्वराश्रित हैं, इसलिए ईश्वर आश्रयस्वरूप हैं। वह जैसे अचित् की आत्मा हैं, वैसे ही आत्मा की भी आत्मा हैं। चित् और अचित् उनकी देह हैं। ईश्वर से अलग चित् और अचित् का अवस्थान सम्भव नहीं। ईश्वर अनन्तज्ञान और आनन्दस्वरूप ज्ञानसत्त्वादि-अनन्तकल्याणगुण-मण्डित, जगत् की सृष्टि आदि के विधाता, भक्त के आश्रयदाता, कर्मफलप्रदाता, विकार आदि सभी दोषों से रहित परम तत्त्व हैं। लक्ष्मी, भू और लीला उनकी शक्ति हैं। उनकी देह अत्यन्त सुन्दर, नित्य एकरूप, शुद्धसत्त्वमय है। यह उनके स्वरूप और गुण के अनुरूप— असीमतेजो-विशिष्ट, सुकुमार, अलौकिकसौन्दर्यमय, सुगन्धि, यौवनशाली एवं योगिध्येय है। उनकी देह बद्ध जीव जैसे स्वरूप का आच्छादन नहीं करती, बल्कि प्रकाश करती है। माणिक्य का पात्र जैसे भीतर के सोने को प्रकाशित करता है, भगवद्विग्रह भी वैसे ही भगवत्स्वरूप को प्रकट करता है। भगवान् का रूप विश्वविमोहन है, उसके दर्शन से सभी भोगों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, त्रिताप दूर होता है। यह नित्यमुक्तों के आस्वादन की वस्तु हैं। धर्म-संस्थापन आदि कार्य के लिए जगत् में जब किसी अवतार का उदय होता है, तब उसका आविर्भाव भगवद्देह से ही होता है।

ईश्वर का पंचविध स्वरूप :

१. **पर,** या **वासुदेव**। यह नित्योदित रूप है। इसका आविर्भाव-तिरोभाव नहीं। इसमें काल की कलना नहीं, परिणाम नहीं, अनन्त आनन्द सदा विराजमान रहता है। यह परम रूप ही भगवान् का षाड्गुण्यविग्रह है। वैकुण्ठ में नित्यमुक्त जीव इसका अनुभव करते हैं।

२. **व्यूह,** या **संकर्षण, प्रद्युम्न** और **अनिरुद्ध**। यह उनका शान्तोदित रूप है; क्योंकि इसका उदय-अस्त है। सृष्टि आदि व्यापार की निष्पत्ति, जीवरक्षा एवं उपासक का अनुग्रह-सम्पादन व्यूह की अभिव्यक्ति के लिए है।

३. **विभव** या **प्रादुर्भाव**। यह दो प्रकार का है—मुख्य और गौण। मुख्य विभव भगवान् का अंश और अप्राकृतदेहविशिष्ट है। दीप से दीपान्तर की भाँति इसकी उत्पत्ति होती है। मुख्य विभव मुमुक्षुओं का उपास्य है। गौण विभव साहंकार जीव में अधिष्ठित होता है, इसकी उपासना नहीं होती।

४. **अन्तर्यामी** : यह अन्तःप्रवेशपूर्वक प्रकृति के नियामक हैं। भगवान् का यह रूप सभी अवस्था में सभी जीवों का साथी और शुभदेहयुक्त है। जीव के ध्यान के लिए, जीव की रक्षा करने के लिए परमात्मा बन्धु होकर जीव के हृदय-कमल में रहते हैं। यही उनका अन्तर्यामी रूप है।

५. **अर्चावतार** : यह घर या मन्दिर में स्थित उपास्य मूर्त्ति है।

संकर्षण जीवतत्त्व के, प्रद्युम्न मनःसृष्टि के, अनिरुद्ध कालसृष्टि और मिश्रसृष्टि के अधिष्ठाता हैं। संकर्षण जगत् के संहारक और शास्त्रप्रवर्त्तक, प्रद्युम्न प्रकृति से जीव के

विवेचक और शुद्धसृष्टि के विधाता तथा अनिरुद्ध काल एवं मिश्रसृष्टि के सम्पादक हैं। चार वर्णों की मिथुन सृष्टि प्रद्युम्न से ही होती है।

'पांचरात्ररहस्य' नामक ग्रन्थ में है कि भगवान् उपासक के भाव या प्रकृति के अनुसार अर्चा आदि पंचविध-मूर्त्ति-परिग्रह करते हैं। अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी—इन पाँच प्रकार के रूपों में पूर्व-पूर्व रूप की उपासना द्वारा मल की निवृत्ति होने से उत्तरोत्तर मूर्त्ति की उपासना में अधिकार उत्पन्न होता है। क्रमशः इस प्रकार उपासना करके जीव जब क्षीणपाप होता है, तब भगवान् प्रसन्न होकर उसकी कर्मसंघात-रूपी अविद्या का नाश करते हैं। तब, जीव के स्वाभाविक सर्वज्ञत्व आदि सारे मंगल-गुण अनावृत रूप से प्रकाशित होते हैं। ये सारे गुण ऐश्वरिक गुण से भिन्न नहीं। सर्वज्ञत्व आदि गुण मुक्तजीव और ईश्वर—दोनों के समान हैं। परन्तु, सर्वकर्त्तृत्व चूँकि केवल ईश्वर में ही होता है, इसलिए ईश्वर का जो यह असाधारण धर्म है, वह जीव में कदापि सम्भव नहीं। ईश्वर के अंगभूत मुक्त जीव ईश्वर के साथ परमानन्द का उपभोग करते हैं। उस अंश में, दोनों में कोई विषमता नहीं होती।

उपासना-क्रम :

जिस उपासना की बात पहले कही गई, उसी का नाम **निदिध्यासन** या योग है। विशिष्टाद्वैतवादियों के मत से इसी को ज्ञान और भक्ति कहते हैं। भक्ति ज्ञानविशेष है, ज्ञान से अतिरिक्त नहीं। तेल की धार के समान अविच्छिन्न स्मृति-प्रवाह को **ध्यान** कहा जाता है, यही **ध्रुवा स्मृति** और मोक्ष का साक्षात् साधन है। भावना के प्रकर्षवश स्मृति ही दर्शन-रूप में परिणत होकर अपरोक्षत्व-लाभ करती है। बन्धन पारमार्थिक होने के नाते ब्रह्म से आत्मा के अभेद-ज्ञान के द्वारा वह निवृत्त नहीं हो सकता। कर्म के निमित्त देह-प्रवेश होता है, देह में प्रविष्ट होने से ही सुख-दुःख का अनुभव अनिवार्य है। यह सुख-दुःखप्रतीति ही बन्धन है, इसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। उपासना जब भक्ति का रूप ले लेती है, तब परमात्मा प्रीत और प्रसन्न होते हैं। उनके प्रसाद से ही बन्धन कट जाता है। बन्धन की निवृत्ति का दूसरा उपाय नहीं है। अभेदज्ञान मिथ्या है, इसलिए उससे बन्धन बढ़ता ही है। जीव भोक्ता, प्रकृति भोग्य और ईश्वर प्रेरक हैं—यह स्वरूपगत भेद अवश्य ही स्वीकार्य है, श्रुति, स्मृति आदि इसी के समर्थक हैं। अभेदज्ञान से यह पारमार्थिक भेद उपेक्षित होता है, इसलिए वह मिथ्याज्ञान है।

ध्रुवानुस्मृति-रूप ध्यान अथवा उपासना को ही रामानुजानुयायी भक्ति कहते हैं। ज्ञान इसी का नामान्तर है। इस प्रकार की भक्ति का जबतक उदय नहीं होता, तबतक ब्रह्मप्राप्ति और संसार-बन्धन से छुटकारा पाने की आशा दूर की कौड़ी है। भक्ति के बहुत प्रकार के साधन या उपाय की बात शास्त्रकार बता गये हैं। उनमें से विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष—ये प्रधान हैं। आहारशुद्धि[1]

१. जाति, आश्रय और निमित्त—इन तीन कारणों से खाद्यद्रव्य दूषित हो सकता है। जातिदोष का उदाहरण : कलंज (विषाक्त बाण से हत पशु-पक्षी

का पारिभाषिक नाम **विवेक** है। काम्य विषय में अनासक्ति **विमोक** है। किसी काम को करने के बार-बार प्रयत्न का नाम **अभ्यास** है। शक्ति के अनुसार पंचमहायज्ञ का अनुष्ठान **क्रिया** है। सत्य, सरलता, दया आदि गुण **कल्याण** है। चित्त की ऐकान्तिक प्रसन्नता है **अनवसाद**। अति सम्भोग का अभाव **अनुद्धर्ष** है। इससे समझ में आता है कि रामानुज-मत से वर्ण एवं आश्रमोचित कर्म के अनुष्ठान से ही चित्त विशुद्ध होता है और फलस्वरूप भक्ति या ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। ये सब कर्म चित्तशुद्धि के सहायक हैं, इसलिए ज्ञान के अनुकूल हैं। परन्तु, पुण्य और पाप ज्ञान की उत्पत्ति के विरोधी कर्म हैं; क्योंकि वे रज और तमोगुण को बढ़ाकर सत्त्वगुण को घटाते हैं। ये सब सर्वथा त्याज्य हैं।

वर्णाश्रम-विहित कर्म के द्वारा[1] ज्ञान के उदय के प्रतिकूल सभी प्राक्तन कर्म या पुण्य-पाप[2] नष्ट होते हैं, तब अबाधित भाव से ज्ञान का विकास हो सकता है। उस कर्म के निरन्तर अभ्यास से उसमें एक प्रकार का आतिशय्य या वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। मृत्युकाल तक उसकी अनुवृत्ति होने से ज्ञानोदय और मरने पर ब्रह्मलाभ अवश्यम्भावी है।

भगवान् बोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दी, भारुचि आदि प्राचीन आर्यों ने भगवत्प्राप्ति के जिस क्रम का प्रदर्शन किया है, श्रीमान् यामुन, रामानुज आदि ने उसका अनुसरण-मात्र किया है। आलोचना की विशदता के लिए हमने फिर उसका निर्देश किया।

१. प्रथमतः, शास्त्र से परोक्ष भाव से कर्मतत्त्व जानकर प्रतिदिन—निरन्तर—**वर्णाश्रम**-विहित कर्म या स्वधर्म का अनुष्ठान करना चाहिए और तदनुगृहीत भाव से **भक्तियोग** का अभ्यास करना चाहिए। यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्ति—तीनों का ही उल्लेख पाया जाता है। उनमें भक्ति ही उपाय है। ज्ञान और कर्म, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म का अनुष्ठान, चित्तशुद्धि का द्वारमात्र है।[3]

का मांस); आश्रयदोष का उदाहरण : पापी का अन्न; निमित्तदोष का उदाहरण : केशादिमिश्रित अन्न। इन सब दोषों से मुक्त भोज्य वस्तु का ग्रहण ही शुद्धाहार है। शुद्धाहार सत्त्वशोधन के लिए एकान्त आवश्यक है। देह-शुद्धि हुए विना चित्तशुद्धि की सम्भावना कहाँ?

१. रामानुज-मत से यही उपनिषद् में प्रोक्त अविद्या है।

२. पारमार्थिक दृष्टि से पुण्य भी पाप में ही गणनीय है; क्योंकि दोनों ही ब्रह्म-ज्ञान के प्रतिबन्धक तथा अनिष्टफलक हैं।

३. श्रीयामुनाचार्य कहते हैं : "उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्ति-योगलभ्यः।" 'उभय' शब्द से ज्ञानयोग और कर्मयोग समझना चाहिए। वेदान्तदेशिक ने अपने 'निक्षेपरक्षा' नामक प्रतिपत्ति-विषयक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ में मोक्षलाभ के उपायों के वर्णन के प्रसंग में कहा है—"कर्मज्ञानानुगृहीतो वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्यो दर्शनसमानाकारतिनिरतिशयप्रीतिरूपतया भक्ति-

२. भक्तियोग अभ्यस्त होने पर क्रमशः पराभक्ति का उदय होता है। पराभक्ति वास्तव में ध्यान की ही परिपक्व अवस्थाविशेष है। इससे चित्त में अपार प्रीति उपजती है, दूसरी किसी वस्तु में प्रयोजन-बोध नहीं रहता और दूसरे सभी विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है। यह अवस्था ज्ञान की ही एक भूमिका है; क्योंकि भक्ति प्रीतिविशेष है और प्रीति या सुख भी एक प्रकार की विशिष्टता से सम्पन्न ज्ञान के सिवा और कुछ नहीं। ध्यान या उपासना की गाढता से स्मृत्यात्मक ज्ञान जिस समय प्रीतिमय या अनुकूल एवं अत्यन्त स्पष्ट प्रत्यक्ष आकार धारण करता है, उस समय की अवस्था ही पराभक्ति है।[1]

३. यह पराभक्ति ही भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन है। पराभक्ति के बाद परज्ञान या साक्षात्कार का उदय होता है।

४. ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद उस पराभक्ति से ही परमभक्ति का आविर्भाव होता है। यह परमभक्ति ही प्रकृत रूप में भगवत्प्राप्ति है।

लोकाचार्य ने पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और आचार्याभिमान—इन पाँच प्रकार के योगों का उल्लेख किया है। कर्मयोग के दो अंश हैं: पहला यज्ञ, दान आदि के द्वारा देहशुद्धि। देह के शुद्ध होने से इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा जो ज्ञानधारा साधारणतः बाहर निकलकर विषय को ग्रहण करती है, वह निरुद्ध और अन्तर्मुख होती है। उस समय कर्मयोग का दूसरा अंश प्रारम्भ होता है। यम आदि अष्टांगयोग-साधन ही कर्मयोग का दूसरा अंश है। कर्मयोग ऐश्वर्यप्रधान साधन है, इससे अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। ज्ञानयोग द्वारा कैवल्य-मुक्ति तक मिल सकती है। कर्मयोग के अनुष्ठान

शब्दाभिलाप्योऽसकृदावृत्त आप्रयाणानुवृत्तो निरन्तरस्मृतिसन्तान एव निःश्रेयसनिश्रेणिका।"

१. रामानुज ने बहुत-से ग्रन्थों में, अनेक प्रसंगों में भक्ति का लक्षण किया है। साधारणतः, "निरतिशयप्रियानन्यप्रयोजनसकलेतरवैतृष्ण्यावहज्ञानविशेषः।" यह लक्षण 'वेदार्थसंग्रह' में है। अन्यान्य लक्षण भी पाये जाते हैं। तात्पर्य में कोई भेद नहीं। परभक्ति, परज्ञान एवं परमभक्ति—विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में बहुत स्थानों में ये तीन पारिभाषिक नाम मिलते हैं। इनका पारस्परिक भेद नहीं ज्ञात रहने से बहुत बार गड़बड़ी की सम्भावना रहती है। वेंकटनाथ ने 'शरणागतिगद्य' की टीका (पृ० १४-१५) में कहा है कि उत्तरोत्तर साक्षात्कार की इच्छा ही 'परभक्ति'-रूप ज्ञानावस्था है। यह विषयस्वभावजन्य है। यह इष्टसाधनता बोध से उत्पन्न नहीं होता। उत्तरोत्तर साक्षात्कार ही 'परज्ञान' है। साक्षात्कार हो जाने पर उसे निरन्तर अनुभव या आस्वादन करने के लिए जो इच्छा उत्पन्न होती है, वही 'परमभक्ति' है। सुदर्शन सूरि ने 'वेदार्थसंग्रह' की 'तात्पर्यदीपिका' (पृ० १४७) में भी बहुत कुछ यही कहा है।

से जिस ज्ञान का विकास होता है, उसे देह के भीतर या देह के बाहर स्थान-विशेष में श्रीभगवान् का विग्रह में प्रयोग करके उसका अनुभव होता है। उसके बाद अनुभवयोग के अभ्यास द्वारा अनुभव के स्थितिकाल को बढ़ाते-बढ़ाते निरन्तर अखण्ड अनुभव-लाभ होता है। यही ज्ञानयोग है—यह भक्तियोग का सहकारी है। प्रारब्ध कर्म के अवसान तक बार-बार अभ्यासयोग द्वारा अनुभव का उत्कर्ष करके तेल की धारा की भाँति अविच्छिन्न स्मृति-प्रवाह की अपरोक्षता सम्पन्न करना—यही भक्तियोग है। ऐसे ज्ञानयुक्त भक्तियोग का जिसमें सामर्थ्य नहीं, उसके लिए प्रपत्तियोग शीघ्र फलप्रद होता है। प्रपत्ति अथवा भगवान् की शरण लेना, श्रेष्ठ भागवत-धर्म माना जाता है। यही वास्तविक संन्यास है।[1] और-और योग में सबका अधिकार नहीं, सामर्थ्य भी नहीं। सभी पथों पर चलने के लिए न्यूनाधिक परिमाण में पुरुषकार या आत्मचेष्टा की आवश्यकता है। किन्तु, प्रपत्तियोग में पुरुषकार की अपेक्षा नहीं, इसलिए वर्ण, आश्रम आदिनिर्विशेष सभी इसके अधिकारी हैं। 'प्रभु, मैं बहुत ही दीन-हीन हूँ, बहुत ही दुर्बल, मुझमें कोई सामर्थ्य नहीं—मैंने तुममें आत्मसमर्पण किया, तुम मेरा भार लो।' जीव जब सरल भाव से, व्याकुल हृदय से एक बार भी इस प्रकार भगवान् के चरणों में शरण लेता है, तभी भगवान् उसे ग्रहण करते हैं, अपना बना लेते हैं। उसके बाद से जीव का सारा भार साक्षात् रूप से उन्हीं के हाथों रहता है। वह आश्रितवत्सल हैं, शरणागत के पालक हैं—प्रपन्न का उद्धार करना ही उनका व्रत है। भगवत्प्रपत्ति स्वतन्त्र रूप से ही मोक्ष का साधन है, रामानुजानुयियों ने इसे बहुत-बहुत शास्त्रप्रमाणों से सिद्ध किया है। ब्राह्मपुराण में है कि ध्यानयोग-रहित होकर भी केवल प्रपत्ति के बल से मृत्यु के अतीत विष्णुपद प्राप्त किया जा सकता है। अहिर्बुध्न्य कहते हैं—सांख्य, योग, यहाँतक कि भक्ति के द्वारा जो सिद्ध नहीं होता, वह अनावर्त्य परमधाम एकमात्र प्रपत्ति से ही प्राप्त होता है।

प्रपत्तियोग के दो भेद हैं—आर्त्त और दृप्त। जो भगवान् की अहेतुक कृपा प्राप्त करके सद्गुरु के आश्रय और उपदेशग्रहण-पूर्वक, सत्-शास्त्र के अभ्यास और श्रवण आदि द्वारा यथार्थ ज्ञान लाभ करते हैं एवं परमानन्द-रूप भगवत्-अनुभव का विरोधी स्थूलदेह-सम्बन्ध असह्य मानकर एकमात्र भगवदनुभव के अनुकूल रूप और देह आदि की वांछा से सदा भगवान् की खोज में तत्पर रहते हैं, वह आर्त्त प्रपन्न हैं। और, जो बार-बार जन्म-मरण, सुख-दुःख, गर्भवास, स्वर्ग-नरक आदि से विरक्त होकर उन सबकी निवृत्ति एवं भगवत्प्राप्ति के लिए सद्गुरु के उपदेश के अनुसार वर्णाश्रम-विहित धर्म का अनुष्ठान तथा कायिक, वाचिक और मानसिक भगवत्कैंकर्य का अवलम्बन करते हैं, जो भगवान् से अपने 'अंगांगी' पिता-पुत्र, भर्त्ता-भार्या, नियन्ता-नियम्य, शरीरी-शरीर, धारक-

१. निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः।
संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि॥
यहाँ प्रपत्ति और संन्यास तुल्यार्थवाचक ही उल्लिखित हुआ है।

धार्य, रक्षक-रक्ष्य, भोक्ता-भोग्य आदि नित्यसम्बन्ध की खोज करके उनकी सर्वज्ञता और अपनी अकिंचनता का बोध करते हैं और अपना सारा भार उन्हीं को देकर निश्चिन्त हो उनके आश्रित रूप में अवस्थान करते हैं, वह दृप्त प्रपन्न हैं।

लोकाचार्य के निर्देशानुसार पुरुषार्थ-लाभ का पंचम उपाय आचार्याभिमान है। यह प्रपत्ति की अपेक्षा भी सुलभ उपाय है। प्रपत्ति भी बहुतों के लिए सम्भव नहीं होती; क्योंकि भगवान् में दृढ विश्वास तथा तद्भाव से अभिनिवेश नहीं होने से प्रपन्न नहीं हुआ जा सकता। प्रत्यक्ष भाव से भगवत्सत्ता का अनुभव नहीं कर पाने से उनका आश्रय कैसे ग्रहण किया जा सकता है? आचार्य या गुरु ही भगवान् के प्रेरित प्रतिनिधि हैं। माता जैसे रुग्ण स्तन्यपायी शिशु का रोग दूर करने के लिए स्वयं ही रोगनिवर्त्तक औषध का सेवन करके शिशु को चंगा करती हैं, भगवान् भी वैसे ही दुर्बल, असहाय और अपनी शक्ति के उत्थान में असमर्थ जीव के उपकार की कामना से किसी सेवक को गुरु के रूप में भेजते हैं। गुरु एक ओर जिस प्रकार शिष्य का भार स्वयं वहन करके शिष्य का उद्धार करते हैं, दूसरी ओर उसी प्रकार उसे श्रीभगवान् की दयादृष्टि के सामने अवस्थापित करते हैं। शिष्य के उद्धार के निमित्त ही गुरु को क्लेश सहन करना पड़ता है, बहुत त्याग स्वीकार करना होता है। जीव का उद्धार ही उनके देहधारण का एकमात्र उद्देश्य है। गुरु का आश्रय ग्रहण करके उनके आदेश का पालन करना—यही आचार्याभिमान है। यह स्वतन्त्र रूप से भी पुरुषार्थ-लाभ का उपाय है और अन्यान्य उपायों के सहकारी भाव से भी इसका उपायत्व है।

मुक्ति का स्वरूप :

सांख्याचार्य जिसे कैवल्य कहते हैं, विशिष्टाद्वैतवादियों के द्वारा भी वही स्वीकृत हुआ है। लोकाचार्य ने अपने 'अर्थपंचक' नाम के ग्रन्थ में 'आत्मानुभव' नामक जिस मुक्ति का वर्णन किया है, वह वास्तव में कैवल्य के अलावा और कुछ नहीं। उन्होंने स्पष्ट कहा है, उस अवस्था में यद्यपि प्रकृति और प्रकृत भाव से सम्बन्ध नहीं रहता, यद्यपि वह दुःखहीन और जन्म-मरणचक्र के अतीत विषय के सम्बन्ध से रहित आत्मा का विशुद्ध भावमात्र है, तथापि वह परम पुरुषार्थ नहीं। भगवदनुभव ही यथार्थ मोक्ष या परम पुरुषार्थ है। कैवल्य में भगवत्स्फूर्ति के अभाव के कारण आनन्द का विकास नहीं होता। वास्तव में, वह आत्मा के लिए प्रार्थनीय अवस्था नहीं। स्थूल देह ही भोगायतन है। इसी को आश्रय करके शुभ-अशुभ सारे कर्मों का उदय एवं सुख-दुःख का भोग होता है। यही विपरीत ज्ञान और संसार-भ्रमण का मूल कारण है। स्थूल देह से सम्बन्ध के कारण ही भगवत्स्वरूप तिरोहित हो जाता है। भक्त कहते हैं, कैवल्य में यद्यपि स्थूल देह नहीं रहती,[1] तथापि फिर से उसके ग्रहण की सम्भावना नष्ट नहीं होती। सांख्याचार्य जो भी कहें, भक्त कैवल्य-प्रार्थना नहीं करते।

---

१. यही विदेह-कैवल्य है। बृहद्ब्रह्मसंहिताकार (२।१३) कहते हैं कि कैवल्य में देह नहीं रहती। परन्तु, भक्तिशास्त्र में जिस कैवल्य का वर्णन मिलता है,

भक्त की प्रार्थनीय वस्तु भगवदनुभूति या मोक्ष है। जीव और भगवान्, दोनों ही जब नित्य पदार्थ हैं, तब दोनों का सम्बन्ध भी नित्य है—यह कहना व्यर्थ है। इस नित्य सम्बन्ध का आविष्कार ही साधना आदि का लक्ष्य है। जीव नित्य ही अणु और भगवान् विभु हैं; जीव अंग और आश्रित, भगवान् अंगी और आश्रय हैं, अतएव जीव जो नित्य ही भगवदाश्रित है, उसे अस्वीकार करने का उपाय नहीं। यह आश्रितभाव ही दास्य या कैंकर्य है—इसी का पूर्ण विकास मोक्ष है। इस अवस्था में प्रकृति-सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए ज्ञान की संकीर्णता नहीं रहती। मुक्तों के ज्ञान, आनन्द आदि गुण अपरिच्छिन्न हैं, इस अंश में मुक्तपुरुष का भगवान् से कोई भेद नहीं। रामानुजाचार्य ने स्पष्ट कहा है : "निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्।" (ब्रह्मसूत्रभाष्य, ४।४।१७), "अकर्मप्रतिहतज्ञानो मुक्तो विकारलोकान् ब्रह्मविभूतिभूताननुभूय यथाकामं तृप्यति।" (वही, ४।४।१८),[1] लेकिन याद रखना है, ब्रह्मज्ञ होने से भी जीव ब्रह्म नहीं होता, उसका जीवभाव सदा अक्षुण्ण रहता है। अतएव, भोगमात्र में ही ब्रह्मसाम्य रहते हुए भी जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार, नियमन आदि व्यापार में जीव का कभी कोई अधिकार नहीं रहता (द्रष्टव्य : ब्रह्मसूत्र, ४।४।१७)।[2] ईश्वरत्व-लाभ करने पर भी जीव की परमेश्वर या भगवान् की अधीनता अवश्य ही अव्याहत रहती है। यहाँतक कि, निर्मलता, सत्यसंकल्प आदि जो सारे ऐश्वरिक गुण मुक्त जीव में स्वभावतः आविर्भूत होते हैं, वह भी मूलतः भगवदधीन हैं।

प्रश्न हो सकता है, सभी तो स्वाधीनता चाहते हैं, अधीनता किसी को भी सुखदायी नहीं। ऐसी स्थिति में भगवदधीनता को जीव का परम पुरुषार्थ समझने का हेतु क्या है?

उसमें स्थूलदेह, वासना आदि रहती है, ऐसा लगता है। सांख्योक्त कैवल्य आत्मा की स्वरूप-अवस्थिति है—उस समय लिंगशरीर और उससे संलग्न वासना आदि नहीं रहतीं। इस प्रसंग में सांख्य और रामानुज-मत से प्रकृति का स्वरूप-लक्षण आलोच्य है। सांख्य की त्रिगुणात्मिका मूला प्रकृति रामानुज-मत से कार्य है। इसकी कारणावस्था ही वास्तविक प्रकृति या अचित्-तत्त्व है। वही प्रलयावस्था है। उस समय प्रकृति नामरूपहीन, अव्याकृत, तमोभूता, ब्रह्म की देहस्वरूपा तथा ब्रह्मभावापन्ना होती है।

१. द्रष्टव्य : ब्रह्मसूत्रभाष्य, ४।४।२१।

२. इस विषय में बड़गलइ और टेंगलइ-शाखाओं में कुछ अवान्तर भेद दिखाई पड़ता है। बड़गइल-शाखावालों का कहना है, जीव में सृष्टि-सामर्थ्य नहीं है, यहाँतक कि नित्य और मुक्त आत्मा भी सृष्टि आदि करने में असमर्थ है। टेंगलइ-शाखावाले इस प्रकार के शक्ति-संकोच को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार, उनकी शक्ति में भागवत आदेश अनुप्राणित होने से नित्य और मुक्त आत्मा भी सृष्टि आदि कर सकती है।

इसके उत्तर में रामानुज कहते हैं :[१] ऐसा प्रश्न देहाभिमान से उठता है, जिनमें देहातिरिक्त आत्मबोध जगा है, वे ऐसा प्रश्न कभी नहीं कर सकते। जिन्हें जैसा देह में आत्माभिमान है, उनका पुरुषार्थ-बोध भी वैसा ही है। बाघ को जिसमें जो पुरुषार्थ-प्रतीति उत्पन्न होती है, ऊँट को उसमें नहीं उत्पन्न होती। राम जो पाकर सुखी होता है, श्याम उससे सुख नहीं मानता—इसका एक ही कारण है, देहभेद से आत्माभिमान का वैचित्र्य। वास्तव में, बात यह है कि आत्मस्वरूप, देह से पृथक् और चिन्मय है। आत्मा परमात्मा का अंग अथवा विशेषण तथा नित्य ही उनके आश्रित है। जब आत्मा के यथार्थ स्वरूप में ही अभिमान होता है, अर्थात् आत्मा जब बन्धन से छुटकारा पाती है, तब स्वभावतया पुरुषार्थ-बोध भी उसका अनुसरण करता है। उस अवस्था में ज्ञानमयत्व एवं परमात्मा के अंगत्व के अलावा और किसी प्रकार से आत्मा का प्रकाश नहीं होता, इसलिए पुरुषार्थ-प्रतीति भी उस समय वैसी ही होती है। मुक्त पुरुष भगवत्-पारतन्त्र्य को ही जो परम पुरुषार्थ के रूप में सोचते हैं, उसका यही हेतु है। मुक्तात्मा के स्वातन्त्र्याभिमान नहीं होता; क्योंकि वैसा अभिमान देह-सम्बन्धमूलक है, वह कर्मजन्य विपरीतज्ञान के सिवा और कुछ नहीं। परमात्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थ, अर्थात् विषय की सुखात्मकता कर्मजन्य है। अतः, विषयमात्र ही परिच्छिन्न एवं अस्थायी है। जबतक कर्म है, तभी तक विषय सुखमय या दुःखमय लगता है। क्योंकि, कर्म ही सुख-दुःख का असाधारण हेतु है—स्वरूपतः विषय सुखमय नहीं है। इसीलिए, एक किसी को जिससे सुख होता है, उससे दूसरे को भी सुख होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु, कर्म की निवृत्ति हो जाने से वैसी प्रतीति और नहीं हो सकती। एकमात्र परब्रह्म अथवा परमात्मा ही स्वतः सुखमय, अतएव नित्यानन्द-स्वरूप हैं। विषय की सुखमयता या दुःखमयता कर्मसापेक्ष है, स्वाभाविक नहीं। कर्म के क्षय से जगत् ब्रह्म की ही विभूति जैसा प्रतिभात होता है, इसलिए वह नित्यानन्दमय-रूप में प्रकाश पाता है। पारतन्त्र्य को जो दुःख कहा जाता है, वह भगवत्-पारतन्त्र्य नहीं। भगवान् को छोड़कर दूसरे किसी पदार्थ की अधीनता जीव के लिए स्वभावसिद्ध नहीं, इसलिए दुःखकर है। शास्त्रों में पारतन्त्र्य का निन्दावाद उसी को लक्ष्य करके है। भगवत्-पारतन्त्र्य भगवत्-अंगभूत आश्रित जीव के लिए स्वाभाविक अवस्था है। वह पूर्णानन्दमय मुक्तभाव एवं साधनमात्र का चरम लक्ष्य है।

जैसे जीव नित्य है, वैसे ही भगवान् के प्रति दास्यभावमूलक भक्ति भी नित्य है। जिसे मोक्ष कहा जाता है, वह वस्तुतः भक्ति का ही अबाधित स्वाभाविक स्फूर्त्ति-मात्र है। प्रकृति-सम्बन्ध से जीव में जो सब कृत्रिम अभिमान का उदय होता है, वह सब ब्रह्मविद्या की प्राप्ति से तिरोहित हो जाता है। तब उसका स्वाभाविक दास्याभिमान अभिव्यक्त होता है—वह नित्य ही वर्त्तमान रहकर जीव के हृदय में परमानन्द का विधान करता है। भक्तों के मत से जो मुक्ति में भी 'मैं'-बोध का विनाश नहीं होता—यह कहना ही बाहुल्य है। किन्तु,

---

१. द्रष्टव्य : वेदार्थसंग्रह, पृ० २५१-२५२।

निर्वाण आदि मुक्ति में 'मैं' का वोध या अभिमान नहीं रहता, पर भक्त इन सबकी उपेक्षा करते हैं।[1]

बृहद्ब्रह्मसंहिताकार (२।१२) कहते हैं कि यह **सेवकभाव द्विविध** है। यद्यपि भक्तमात्र ही भगवान् का सेवक होकर रहने की इच्छा करते हैं, तथापि सभी एक ही प्रकार की सेवा की अभिलाषा नहीं करते। गन्ध-माल्य आदि सम्पादन एक कोटि की सेवा है—इसे कैंकर्य कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'रूपसेवा' नाम की और एक प्रकार की सेवा है। कोई-कोई भक्त स्वाभाविक रुचि के अनुसार सर्वदा रूप-सेवक होकर भगवान् के सन्निहित रहना पसन्द करते हैं। श्रीभगवान् सर्वसौन्दर्य के आधार हैं, अतुलनीय लावण्यशाली, अनन्त प्रेम-पारावार, नित्यकिशोरवयस्क, ऐश्वर्य, माधुर्य आदि अनन्त गुणों के एकमात्र आश्रय, सभी रसों की खान और विज्ञानघन सच्चिदानन्दविग्रह—भक्त उन्हीं के श्रीचरणों के आश्रित तन्मय प्रेम की प्रतिमूर्त्ति हैं। भक्त प्रेम से प्रेममय के मुखड़े की ओर केवल ताकते रहते हैं—ताकते हुए उस श्री-अंग की नित्य नूतन अपूर्व सुषमा का निरीक्षण करते हैं। उस कोटिसूर्यसमुज्ज्वल एवं कोटिचन्द्रसुशीतल अनिर्वचनीय मधुर वदन-कमल का निरन्तर निरीक्षण करके भी उन्हें तृप्ति नहीं होती। जितना ही देखते हैं, उतना ही लगता है, कुछ भी नहीं देख सका, अनन्त सौन्दर्य का नव-नव उन्मेष अनन्त भाव से आँखों के सामने निखर पड़ता है, किन्तु उससे प्यास बढ़ती ही है, मिटती नहीं। उस समय पलक मारने में भी कष्ट होता है—उस पल-भर का रूपदर्शन-विच्छेद भी उस समय दीर्घ युग के समान और असहनीय लगता है। इसी को 'रूपसेवा'[2] कहते हैं। 'उज्ज्वलनीलमणि' (काव्यमाला-संस्करण, पृ० ३८१) में श्रीमद्रूपगोस्वामी ने इसे रूढ भाव का अनुभाव मानकर वर्णन किया है। हम महाभाव की चर्चा के प्रसंग में अन्यत्र इसका वर्णन करेंगे।

उत्क्रमण-रहस्य :

विशिष्टाद्वैतवादियों के मतानुसार जीव का महाप्रयाण निम्नांकित क्रम से सम्पन्न होता है।

पहले मुमूर्षु भक्त की आत्मा सुषुम्णा नाडी में प्रवेश करके मस्तक पर उठती है। उसके बाद शिरःकपाल भेद करके ब्रह्मरन्ध्र से उत्क्रमण करके केवल सूक्ष्म शरीर के सहारे अर्चिः आदि पथों में जाती है। उत्क्रम-काल में किसी-किसी ज्ञानी के सारे ही कर्मों का

---

१. इस प्रसंग में भक्तप्रवर हनुमान् की एक उक्ति याद आती है :

भवबन्धच्छिदे तस्यै प्रार्थयामि न मुक्तये।
भगवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥

जिस मुक्ति में जीव और भगवान् का परस्पर दास-प्रभु-सम्बन्ध विलुप्त हो जाता है, वह केवल चिदेकरस ही हो या शून्यमय ही हो, भक्त उसका प्रार्थी नहीं।

२. 'पक्ष्मपातासहप्रेमवीक्षणं रूपसेवनम्।' (बृ० ब्रह्मसंहिता, २।१३)।

क्षय हो जाता है। किन्तु, उस समय कर्म के नहीं रहने पर भी देवयान-मार्ग पर चलने योग्य कर्मरचित सूक्ष्म शरीर ज्ञान के प्रभाव से वर्त्तमान रहता है। यद्यपि ज्ञान से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न नहीं होता, तथापि ज्ञान से ही वह प्रतिष्ठित रहता है। सूक्ष्म शरीर के नहीं रहने से एक ओर जैसे प्राकृतिक सुख-दुःख-साधन स्थूल शरीर का एवं सारे कर्मों का निरवशेष भाव से क्षय नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर वैसे ही ज्ञाननिमित्तक ब्रह्मलोक-प्राप्ति के लिए देवयान-पथ से चलने का कोई उपाय नहीं रहता। जो ज्ञानी आधिकारिक होते हैं, वे स्थूल देह का अवसान होने पर देवयान-गति नहीं लाभ करते। क्योंकि उनका कर्मफल अभुक्त रहता है, इसलिए उस कर्मफल का भोग करने के लिए उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ती है। भोग के अन्त में कर्म के क्षीण होने पर वे भी भवचक्र से छुटकारा पाते हैं। अर्चिः आदि पथों से जाने को ही देवयान-गति कहते हैं। इस रास्ते में विश्रामभूमि अनेक हैं। उन सबको पार करके आगे बढ़ना होता है। फिर, सूर्यमण्डल भेद करके, प्रकृति को पार करके विरजा-प्राप्ति होती है।[1] विरजा में अवगाहन करने से सूक्ष्मदेह और उससे संलग्न 'वासना-रेणु', दोनों ही धुल जाते हैं और तब विशुद्ध सत्ता की अवस्था प्राप्त होती है। अवगाहन के बाद आत्मा रजोविहीन या कुण्ठारहित होकर संकल्प करते ही विरजा पार करके भगवत्-धाम में प्रवेश करती है। वहाँ अमानव

---

१. बृहद्ब्रह्मसंहिता (३.१।४२-४४) में है कि घोर अन्धकारमय अविद्या या माया या प्रकृति के ऊपर की ओर सीमाहीन विरजा नदी है। नदी के एक पार में जड प्रकृति या त्रिगुणात्मक प्रधान है, जो श्रीभगवान् की एकपाद-विभूति है। दूसरे पार में चिन्मय परव्योम है, जिसे शास्त्र में भगवान् की त्रिपादविभूति कहा गया है। विरजा विश्व का आवरणभूत है। यह वेदान्त-स्वेदजनित जल से प्रस्नावित है, ऐसा विवरण अनेक स्थलों में पाया जाता है। श्रीकृष्णयामलतन्त्र में भी विरजा का वर्णन है। उसका भी सारांश ऐसा ही है। वहाँ है कि ब्रह्माण्ड के ऊपर महाविष्णुलोक है, उसके ऊपर देवीलोक, देवीलोक के बाद शिवलोक। 'देवी' शब्द से यहाँ दुर्गा या त्रिपुरसुन्दरी समझना होगा। शिवलोक सदाशिव का धाम है। सदाशिव योगपीठ या महायोनि-संयुक्त ज्योतिर्लिंग-स्वरूप हैं, इन्हीं की प्रकाशमूर्त्ति अर्द्धनारीश्वर हैं। श्रीकृष्णयामल-मत से यह शिवलिंग ही श्रीकृष्ण का लिंगात्मक तेज एवं देवी स्वयं राधिका हैं—माया-सम्पर्कवश योनिरूप में प्रकाशमान। इस लोक तक ही गुण की सीमा है। इसके बाद ज्योतिर्मयी अपार अनन्तगुण-समन्वित विरजा नदी है। इस नदी में अवगाहन करने से प्रकृति और पुरुष का स्वभाव विपर्यस्त हो जाता है—स्त्री पुरुष और पुरुष स्त्री होता है। इसके ऊपर जाने से निर्मल, निराधार भगवत्तत्त्व में मग्न हुआ जा सकता है।

दिव्य पुरुष उसका स्वागत करते हैं, उसके अनन्त जन्मों की सारी क्लान्ति, ताप और अवसाद उन दिव्य पुरुषों के मधुर करस्पर्श से पल में तिरोहित हो जाते हैं। मुक्त आत्मा उस समय ज्योतिर्मय पंचोपनिषदात्मक, अर्थात् त्रिगुणातीत शुद्धसत्त्वमय भागवती तनु प्राप्त करती है। यह अनन्त तेजोमय दिव्यदेह है। यह मन्त्रवपु आदि अनेक आख्याओं से अभिहित होती है। इस देह के जरा नहीं, जन्म-मरण नहीं, किसी प्रकार का विकार नहीं—यह भावमय एवं नित्य एकरूप होती है। यह आवरण नहीं करती, वरन् ज्ञानानन्द आदि आत्मशक्ति-समूह के विकास में सहायता करती है एवं भगवान् के स्वरूप, गुण, विभूति आदि का प्रकाश करती है। यह एकमात्र भगवत्सेवा के उपयोगी है। ऐसा लावण्यमय दिव्य शरीर प्राप्त करके आत्मा भगवान् के समीप पहुँचती है, अपने दास्य और उनके प्रभुत्व—दोनों में जो स्वाभाविक सम्बन्ध है, उसे समझती है तथा उनके एकनिष्ठ परिचारक-रूप में परिगृहीत होने के लिए प्रार्थनापूर्वक प्रणाम करके उनके श्रीचरणों में आत्मनिवेदन करती है। तब भगवान् स्वयं प्रेमपूर्ण नेत्र से उसकी ओर कटाक्षपात करते हैं एवं उसे देश, काल और अवस्थोचित सेवकभाव से वरण करते हैं। भक्त संजीवित होकर, विनयपूर्वक कृतांजलि होकर प्रभु के आदेश-पालन की प्रतीक्षा करते हुए सदा उनके समीप रहता है। फलस्वरूप, आत्मा भाव के आत्यन्तिक विकास के कारण निरतिशय प्रीतिलाभ करके अन्य विषय का अनुष्ठान, दर्शन, यहाँतक कि स्मरण करने में भी असमर्थ होकर फिर सेवकभाव से ही पहले की भाँति निर्निमेष नयन से, अविच्छिन्न दृष्टि से भगवान् के मधुर रूप का ही दर्शन करती रहती है। उसके बाद भगवान् उसकी ओर निहारकर हँसते हुए उसे बुलाते हैं और सभी क्लेशों को मिटानेवाले परमानन्ददायी अपने श्रीचरण-कमल उसके माथे पर रखते हैं—तब भक्त पूरी तरह अमृत-समुद्र में डूबकर चिरसुख में रहता है।[1]

आचार्य-परम्परा और सम्प्रदाय-भेद :

प्रसंगवश, हमने विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के किसी-किसी मत की चर्चा की। अधिक विस्तार से आलोचना का यह स्थान नहीं। किंवदन्ती है कि यह मत बहुत ही पुराना है। पहले पराशर ने विष्णुपुराण में इसका प्रतिपादन किया है। बाद में, व्यासदेव ने शारीरकसूत्र और महाभारत में इसका वर्णन किया है।[2] बोधायन ने वृत्तिग्रन्थ में इसी

१. द्रष्टव्य : श्रीवैकुण्ठगद्य (रामानुज-कृत), अर्थपंचक (लोकाचार्य-कृत) तथा बृहद् ब्रह्मसंहिता।

२. शारीरकसूत्र और महाभारत एक ही व्यक्ति द्वारा रचित नहीं माने जा सकते। पराशरपुत्र व्यास ही ब्रह्मसूत्रकार बादरायण हैं, इसका भी निःसंशय प्रमाण नहीं है। हाँ, पाराशर्य-कृत भिक्षुसूत्र की कथा का उल्लेख पाणिनि ने किया है, यह सत्य है। हमने ऊपर सिर्फ किंवदन्ती का उल्लेख किया। ऐतिहासिक विचार यहाँ अनावश्यक है।

का विस्तार किया। टंक (सुदर्शनभट्ट और वेदान्तदेशिक के मत से इनका दूसरा नाम ब्रह्मनन्दी है), द्रमिड आदि आचार्यों ने द्रमिडभाष्य[1] आदि में इसका सार-संकलन किया है। कलियुग में श्रीपरांकुशमुनि ने अपने द्रविडोपनिषद् में बीस से अधिक गाथाओं में इसका संग्रह और प्रवर्त्तन किया है। उसके बाद नाथमुनि ने न्यायतत्त्व, योगरहस्य आदि ग्रन्थों में इसका निरूपण किया। यामुनमुनि ने आगमप्रामाण्य, सिद्धित्रय आदि ग्रन्थों में इसका विवरण किया और रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य आदि में स्थापन किया। अतएव, रामानुज विशिष्टाद्वैत-मत के प्रतिष्ठाता-मात्र हैं, आदिप्रवर्त्तक नहीं। भर्त्तृहरि, भर्त्तृप्रपंच, भर्त्तृमित्र आदि के वेदान्तसूत्रों का भाष्य भी किसी हद तक विशिष्टाद्वैत-मत का समर्थक था, ऐसा लगता है। गुहदेव कपर्दी, भारुचि आदि प्राचीन आचार्यों के नाम भी इस प्रसंग में मिलते हैं।

प्राचीन काल में दक्षिण देश में, एक जातीय भक्तिसिद्ध महापुरुष प्रादुर्भूत हुए थे। तमिल-भाषा में 'अलवार' नाम से उनका उल्लेख है। ऐसे बारह अलवारों का पता और परिचय वैष्णव-साहित्य के इतिहास में मिलता है। उनमें से बहुत ही प्राचीन काल में जो चार जीवित थे, उनके नाम हैं—सरयोगी, भूतयोगी, महद्‌योगी और भक्तिसार।[2] मध्ययुग में पाँच सिद्धों का पता चलता है। यथा : शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त और गोदा (विष्णुचित्त की कन्या)। आधुनिक युग में भक्तांघ्रिरेणु, योगिवाह एवं परकाल, इन तीन का उल्लेख मिलता है। इन बारह भक्तों में शठकोप ने ही सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई थी। ये शूद्र जाति के थे। इनके पिता का नाम था कारि।[3] इसलिए, बहुत ग्रन्थों में शठकोप को 'कारिसूनु' कहा गया है परांकुश, वकुलाभरण, शठारि या शठद्वेषी आदि नामों से भी इनकी ख्याति थी। प्रवाद यह है कि जन्मावधि इन्होंने कभी भोजन नहीं

---

१. द्रमिडाचार्य ने ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषद् का भाष्य किया। उपनिषद्-भाष्य बड़ा विस्तृत था। श्रीवत्सांक मिश्र ने इस भाष्य की टीका की थी।

२. ये नाम तमिल-नाम के संस्कृत-अनुवाद-मात्र हैं।

३. काशी-संस्कृत-कॉलेज के पुस्तकालय में 'रामानुजीय गुरु-परम्परा' नाम की एक छोटी-सी हस्तलिखित पोथी है। उसमें श्रीनिवास-रचित 'दिव्यसूरिचरित्र' नाम के ग्रन्थ में शठकोप के जन्म एवं पूर्वपुरुषों का संक्षिप्त वृत्तान्त लिखा हुआ है। उस ग्रन्थ के चतुर्थ सर्ग में है कि पूर्वसमुद्र के पश्चिम तट पर पाण्ड्य-वंशीय राजा के राज्य में कुरुकापा नाम की एक नगरी थी। वहाँ पल्ली नाम का एक शूद्र रहता था। शठारि उसी के वंशधर हैं : पल्ली का पुत्र धर्मधर, उसका पुत्र चक्रपाणि, चक्रपाणि का पुत्र रत्नदास, उसका पुत्र पाटल-लोचन, पाटललोचन का पुत्र पार्कारि और पार्कारि का पुत्र कारि। शठकोप इसी कारि के औरस पुत्र थे। वेदान्तरामानुज-कृत 'दिव्यसूरिप्रभावदीपिका' में भी शठकोप के बारे में कुछ-कुछ चर्चा मिलती है।

किया, कभी यह रोये नहीं। कम उम्र में ही माँ-बाप इन्हें एक सूने मन्दिर में त्याग गये थे। वहीं मन्दिर के निकट स्थित एक इमली के पेड़ के नीचे यह सोलह वष तक अखण्ड योगमुद्रा में आसीन रहे, बाद में क्रमशः ऐश्वरिक कृपा प्राप्त करके इन्होंने सिद्धि पाई।

तृणवल्ली जिले के अधिवासी मधुरकवि नाम के एक सामवेदीय ब्राह्मण पण्डित अपने अध्ययन आदि समाप्त करके तीर्थयात्रा में अयोध्या गये। कहा जाता है, एक दिन सन्ध्या समय वहाँ से स्वदेश की ओर निहारते ही एक विराट् ज्योतिःस्तम्भ उन्हें दिखाई पड़ा। उसका अनुसरण करके आते हुए वह पूर्वोक्त इमली के पेड़ के पास पहुँचे और उन्होंने उसके नीचे समासीन शठकोप के दर्शन किये और यथासमय उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। शठकोप के सारे तत्त्वोपदेशों को उन्होंने लिपिबद्ध किया। उन उपदेशों के नाम हैं '**तिरुवायमोलि**' अथवा मुँह से निकली वाणी। ये उपदेश दक्षिण में **द्रविडवेद** या **तमिलवेद** के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1]

कुलशेखर नाम के सिद्ध भक्त त्रावणकोर के राजा थे। उनके द्वारा रचित '**मुकुन्दमाला**' नामक ग्रन्थ का पता चलता है। योगिवाह जाति के पारिया या चण्डाल थे।[2]

---

१. शठकोप या परांकुश-प्रोक्त चार सहस्र संख्यक 'प्रबन्धचतुष्टय' द्रविडवेद के नाम से विख्यात है। उसके सम्बन्ध में परकाल नाम के सिद्ध ने जो छह प्रबन्ध लिखे थे, वही द्रविडवेद का षडंग नाम से विख्यात है। अन्यान्य सूरियों द्वारा रचित चौदह प्रबन्ध उसके उपांगभूत हैं। 'मार्कण्डेयपुराण' में इसी द्रविडवेद के बारे में यह उक्ति पाई जाती है : 'संस्कृतश्रुतयो यद्वद् द्राविडश्रुतयस्तथा। नित्यास्तद्वत् प्रणीयन्ते मुनिभिश्च कलौ युगे॥' इस प्रबन्धचतुष्टय को 'वेद' कहने का तात्पर्य यह है कि यह अपौरुषेय रचना है, शठकोप इसके रचयिता नहीं हैं। आर्षज्ञान एवं दिव्यज्ञान—ये दोनों ज्ञान ही अलौकिक हैं। किन्तु, आर्षज्ञान में वक्ता का दोष, भ्रम-प्रमाद आदि की सम्भावना है, दिव्यज्ञान सम्पूर्णतया निर्दोष है। इसका कारण यह है कि आर्षज्ञान योग से अभिव्यक्त होता है, दृष्टान्त पराशर। दिव्यज्ञान-लाभ के लिए योग आदि व्यक्तिगत किसी प्रकार की चेष्टा की आवश्यकता नहीं। यह अहेतुक भगवत्प्रसाद से आविर्भूत है, दृष्टान्त शठकोप। कहना नहीं होगा, दिव्यज्ञान का माहात्म्य योगज्ञान से अनन्तगुना अधिक है।

२. किंवदन्ती है कि यह भक्त अन्त्यज थे, इसलिए रंगनाथ-मन्दिर में नहीं जा सकते थे। वह प्रतिदिन सबेरे कावेरी में स्नान करके वहीं रंगनाथ का भजन करते थे। उनकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर रंगनाथ ने भार्गव नाम के एक ब्राह्मण को यह आदेश दिया कि वह उन्हें (योगिवाह को) कन्धे पर उठाकर मन्दिर में लायें। (द्रष्टव्य : 'कॉण्ट्रिब्यूशन्स ऑव साउदर्न इण्डिया टु इण्डियन कल्चर' : एस्० के० आयंगर, पृ० २६७-२६८)।

वैष्णव-पदसंग्रह में इनके कुछ पद मिलते हैं। परन्तु चोल-राज्य के एक कर्मचारी थे। इन्होंने बहुत-से ग्रन्थों की रचना की थी। शठकोप के उपदेश की व्याख्या इन्हीं के द्वारा की गई है। कहा जाता है कि एक विवाह के बरातियों पर दस्युवृत्ति करते समय इन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हुई।

इन बारह अलवारों के बाद जिन्होंने वैष्णव-धर्म के प्रचार का भार लिया, वे, **आचार्य** नाम से विख्यात हैं। वे आचार्य पण्डित थे और नाना प्रकार से विचार करके भक्तिमूलक भागवत-धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर गये हैं। आचार्य-परम्परा में गौरव और प्राचीनता की दृष्टि से **नाथमुनि** ही सर्वप्रथम गणनीय हैं। इनकी जीवन-कथा बहुत ही अद्भुत है। प्रसिद्धि है कि यह पाँच सौ वर्षों तक जीवित रहे। यह वीरनारायणपुर ग्राम के निवासी थे। यह तीर्थयात्री पर्यटक वैष्णवों के मुँह से शठकोप के दस पदों का गान सुनकर एकबारगी विमोहित हो गये थे। उस समय शठकोप के सारे ही ग्रन्थ एक प्रकार से लुप्त हो चुके थे। नाथमुनि उसी समय से उन लुप्त ग्रन्थों के उद्धार के लिए बद्धपरिकर हुए। किन्तु, कुम्भकोण, शठकोप के जन्मस्थान आदि अनेक स्थानों में निरन्तर खोज-बीन करके भी उन्हें सफलता नहीं मिली। परन्तु, इस सिलसिले मे शठकोप के विषय पर अवलम्बित मधुरकवि-विरचित केवल ग्यारह पद उन्हें मिले। नाथमुनि विशिष्ट पाण्डित्य-सम्पन्न महापुरुष थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। उनके न्यायतत्त्व और योगरहस्य का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। वेदान्तदेशिक के 'न्यायसिद्धांजन' में न्यायतत्त्व का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि नाथमुनि ने मधुरकवि के शिष्य परांकुशपूर्ण से सुना था कि एकान्त भाव से शठकोप का ध्यान करके, नियमपूर्वक एकासन में बैठकर उनके प्रबन्ध का बारह हजार बार चिन्ता करने से शठकोप प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं। यह सुनकर उन्होंने यथाविधि उपासना करके सचमुच ही प्रत्यक्ष रूप में शठकोप का दर्शन किया था। शठकोप ने उनके प्रति कृपा करके उन्हें दिव्यचक्षु प्रदान किया, चित्-अचित् और ईश्वर-तत्त्व का रहस्य समझा दिया, सभी दर्शनों का तात्पर्य बताकर अष्टांगयोग के गुह्य रहस्य की शिक्षा दी और स्वप्न में उन्हें उनके भावी गुरु की मूर्त्ति भी दिखा दी। एक प्रकार से, नाथमुनि से ही विशिष्टाद्वैत-दर्शनप्रणाली का सूत्रपात माना जा सकता है। नाथमुनि के पुत्र **ईश्वरमुनि** पिता जैसी ख्याति तो अवश्य अर्जित नहीं कर सके, परन्तु ईश्वरमुनि के पुत्र **यामुनमुनि** ने महापण्डित का सम्मान प्राप्त किया था। यामुन विवाहित और गृहस्थ थे। नाथमुनि के प्रधान शिष्य पुण्डरीकाक्ष के छात्र राममिश्र के प्रोत्साहन और प्रेरणा से ईश्वरमुनि ने अपने पुत्र यामुन की उपनयन के तुरत बाद वेद की शिक्षा दी थी। यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय, आगमप्रामाण्य, गीतार्थसंग्रह, महापुरुषनिर्णय, काश्मीरागमप्रामाण्य, स्तोत्ररत्न आदि विविध ग्रन्थों की रचना की थी। रामानुज ने बहुत स्थानों में यामुनाचार्य के पदांक का अनुसरण करके अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है—यामुन के विद्यावैभव और प्रतिभा का यह प्रकृष्ट प्रमाण है।

यामुन के बाद स्वनामख्यात **रामानुजाचार्य** (सन् १०१७–११३७ ई०) का नाम ही उल्लेख योग्य है। रामानुज यामुन की पौत्री के पुत्र थे। यामुन मुनि ने रामानुज को तीन काम करने का आदेश दिया। यह आदेश अलौकिक भाव से रामानुज को ज्ञापित हुआ। पहला आदेश—वैष्णवमत से ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना और दूसरा तथा तीसरा आदेश सहस्रनाम का भाष्य एवं शठकोप की सहस्रगीतिका की भाष्य-रचना। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य की स्वयं रचना की तथा श्रीभाष्य नाम से उसे प्रकाशित किया। अपने शिष्य कुरेश के पुत्र पराशरभट्ट से उन्होंने सहस्रनाम के भाष्य की रचना कराई। यह ग्रन्थ 'भगवद्गुणदर्पण' नाम से प्रसिद्ध है। तीसरे भाष्य की रचना के लिए उन्होंने अपने मामा श्रीशैलपूर्ण के पुत्र कुरुकेश को नियुक्त किया। पूर्ण होकर इस ग्रन्थ ने षट्सहस्रश्लोकात्मक आकार ग्रहण किया। श्रीभाष्य के अलावा रामानुज ने वेदान्तसार और वेदान्तप्रदीप नामक ब्रह्मसूत्रवृत्ति, गीताभाष्य, वेदार्थसंग्रह, नित्याराधनविधि तथा गद्यत्रय (शरणागतिगद्य, श्रीरंगगद्य और श्रीवैकुण्ठगद्य—इन तीनों ग्रन्थों की समष्टि) ये कतिपय ग्रन्थ रचे।

रामानुज के बाद उनके सम्प्रदाय में 'तत्त्वमुक्तावली' के रचयिता **गौड पूर्णानन्द कविचक्रवर्त्ती** तथा **पिल्लई लोकाचार्य** **वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक** (या वेदान्ताचार्य) ने आविर्भूत होकर दार्शनिक साहित्य की विशेष पुष्टि की। लोकाचार्य वेंकटनाथ के समकालीन होते हुए भी उम्र में बड़े थे। उनका जन्मकाल क्रम से सन् १२१३ और १२६८ ई० है। लोकाचार्य टेंगलइ और वेंकटनाथ बड़गलइ-शाखा के थे। लोकाचार्य १८ रहस्यग्रन्थों की रचना करके सुधी-समाज में आशातीत यश और गौरव से विभूषित हुए थे। इन ग्रन्थों में तत्त्वत्रय, अर्थपंचक, तत्त्वशेखर, श्रीवचनभूषण, प्रमेयशेखर आदि अग्रगण्य हैं।[1] इनमें 'श्रीवचनभूषण' बहुत ही उत्कृष्ट तत्त्वग्रन्थ है। कहना न होगा, ऐसा दुर्लभ गुह्यतत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह होगा। परन्तु, इसका आदर सभी सम्प्रदाय के वैष्णव करते हैं।[2]

तत्त्वांश में, वेंकटनाथ से लोकाचार्य बहुत उन्नत थे, परन्तु दार्शनिक विचार-कौशल तथा वावदूकता में वेंकटनाथ भारतवर्ष के एक बहुत ही उज्ज्वल नक्षत्र थे। यहाँ उनके जीवनचरित की चर्चा का अवसर नहीं, पर वह एक असाधारण तीक्ष्णधीशक्ति-सम्पन्न पुरुष थे, यह निस्सन्देह है। वह प्रसिद्ध शांकरवैदान्तिक विद्यारण्यस्वामी तथा माध्व-सम्प्रदाय के आचार्य अक्षोभ्य मुनि के समसामयिक थे और दोनों के शास्त्रार्थ-विचार में मध्यस्थ हुए थे। संस्कृत और तमिल में उनके रचे विभिन्न विषय के बहुतेरे ग्रन्थ हैं।[3] प्रत्येक ग्रन्थ ही

---

१. उनके अन्यान्य ग्रन्थों के नाम हैं—अर्चिरादि, प्रपन्नपरित्राण, सारसंग्रह, संसार-साम्राज्य, नवरत्नमाला, नवविधसम्बन्ध, मुमुक्षुप्पडि, यादृच्छिकप्पडि, परन्दप्पडि, तनिद्वयम्, तनिचरमम्, तनिप्रणवम् और श्रियःपतिप्पडि।

२. काशी-संस्कृत-कॉलेज-पुस्तकालय में इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि संगृहीत है। कई साल हुए, यह बँगला में अनुवाद-सहित प्रकाशित हुआ है।

३. उनके रचे ग्रन्थों की संख्या सौ से भी अधिक होगी। राममिश्र शास्त्री १२६ कहते हैं। इस विषय में वेदान्तदेशिक अप्पय्यदीक्षित से तुलनीय हैं।

उनकी लोकोत्तर प्रतिभा का परिचायक है। उन्होंने शतदूषणी में, शांकरमत में एक सौ दोषों का उद्भावन कर अपनी बुद्धिमत्ता का निदर्शन उपस्थित किया है। श्रीभाष्य की 'तत्त्वटीका' नाम की जो बृहत् टीका उन्होंने संकलित की थी, उसका अब कुछ ही अंश मिलता है। पंचरात्ररक्षा, सिद्धान्तरत्नावली, यामुन-कृत स्तोत्ररत्न की टीका, स्वकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका-सह तत्त्वमुक्ताकलाप, न्यायसिद्धांजन, रामानुज-कृत गीताभाष्य की टीका तात्पर्यचन्द्रिका, प्रपत्तिविषयक निक्षेपरक्षा और न्यायदशक, रहस्यत्रयसार, परमतभंग,[1] अधिकरणसारावली, वेदान्तकौस्तुभ, वादित्रयखण्डन आदि उनके बड़े उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थ हैं। संकल्पसूर्योदय प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर रचित होते हुए भी रूपक के छल से श्रीवैष्णव-सिद्धान्त का प्रतिपादक है। उनकी सेश्वरमीमांसा जैमिनि के कर्ममीसांसासूत्र की सेश्वर-पक्ष में व्याख्या है। यादवाभ्युदय, हंससन्देश, सुभाषितनीवी, पादुकासहस्र, दयाशतक, यतिराजसप्तति आदि सुन्दर काव्य हैं। उनके ग्रन्थों की आलोचना से लगता है, वह जो 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र', 'कवितार्किकसिंह' आदि उपाधियों से विभूषित हुए थे, वह निर्मूल नहीं है।

वेदान्तदेशिक के बाद हम श्रीशैलेश के शिष्य **वरवरमुनि** या **रम्यजामातृमुनि** या **मनबल महामुनि** का नामोल्लेख कर सकते हैं। ये सन् १३७० ई० में आविर्भूत हुए थे और ७३ वर्ष जीवित रहे। इनके रचे ग्रन्थों में श्रीवचनभूषण तथा तत्त्वत्रय की टीकाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। यह यदि श्रीवचनभूषण की टीका नहीं रचते, तो सम्भवतः बहुत पहले ही वह ग्रन्थ लुप्त हो गया होता। इन्होंने बीस श्लोकों में 'यतिराजविंशति' नाम से रामानुज की प्रशस्ति लिखी थी। इनकी उपदेशरत्नमाला और अर्थिप्रबन्ध तमिल-भाषा में हैं। रामानुज के शिष्य वरदविष्णु के पौत्र **वरदाचार्य** महापण्डित थे। उनका 'तत्त्वसार' प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[2] रामानुज के दूसरे शिष्य प्रणतार्त्तिहर के प्रपौत्र **आत्रेय रामानुज** वरदा-

---

१. ये दो ग्रन्थ तमिल-भाषा में हैं। परमतभंग में विरुद्ध दार्शनिक मतों का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त स्थापित हुआ है। भरद्वाजवंशीय श्रीनिवासाचार्य ने 'रहस्यत्रयसार' के अन्तर्गत तमिल-गाथा की एक विशद संस्कृत-टीका की रचना की थी। 'रहस्यत्रयसार' बत्तीस अध्यायों का एक बृहत् ग्रन्थ है। 'रहस्यत्रयसाराधिकारसंग्रह' उसी का संक्षेप है। इसपर वेदान्तरामानुज के एक शिष्य ने व्याख्या लिखी थी।

२. इसका दूसरा नाम वेदान्ततत्त्वसार है। रामभिश्र शास्त्री ने वेदार्थसंग्रह की भूमिका (पृ० ६) में तत्त्वसार को सुदर्शनभट्ट-कृत बताया है। बहुतेरे इसे रामानुज-कृत ही मानते हैं। किन्तु, रेवेरेण्ड जॉन्सन ने अँगरेजी-अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ का एक संस्करण 'पण्डित' पत्र में प्रकाशित किया था। उसकी भूमिका में उन्होंने दिखाया है कि यह रामानुज-कृत नहीं है। राजगोपाल चारियर ने अपने 'वैष्णवाइट रिफॉर्मर ऑव इण्डिया' (पृ० ८०) में तत्त्वसार को वरदाचार्य-रचित बताया है।

चार्य के शिष्य थे। वेदान्तदेशिक इसी आत्रेय रामानुज के शिष्य थे। वरदाचार्य के गुरुदेव विष्णुचित्त (सन् १२२५ ई०) कुरुकेश के शिष्य थे, ऐसा पता चलता है। उनकी रची विष्णु-पुराण की टीका प्राचीन विद्वत्समाज में बहुत आदृत था और आज भी उसका प्रचार है। वरदाचार्य के दूसरे शिष्य कुरेश के प्रपौत्र वेदव्यास नामक सुदर्शनभट्ट ने श्रीभाष्य पर 'श्रुतप्रकाशिका' नाम की टीका एवं वेदार्थसंग्रह की व्याख्या का संकलन करके वैष्णव-समाज का प्रभूत उपकार किया था। उनकी उपनिषद् की टीका भी कुछ-कुछ मिलती है। श्रीमद्भागवत का शुकपक्षीय नाम की जो टीका पण्डित-मण्डली में प्रचलित है, बहुतों का विश्वास है, वह इन्हीं सुदर्शनभट्ट द्वारा रचित है। **अप्पय्यदीक्षित** (सन् १५५२–१६२४ ई०) ने बहुत-से वैष्णवग्रन्थों, विशेषतः वेंकटनाथ-कृत ग्रन्थ की टीका लिखी थी। शैव होते हुए भी अप्पय्यदीक्षित का वैष्णवधर्म में असाधारण पाण्डित्य था। **चण्डमारुताचार्य**-रचित शतदूषणी की टीका 'चण्डमारुत' (सन् १६०० ई०) एवं **श्रीनिवास** की यतीन्द्रमत-दीपिका (सन् १६५० ई०) ने वर्त्तमान वैष्णव-समाज में ख्याति लाभ की है। **रंगरामानुज** (सन् १८०० ई०) ने विशिष्टाद्वैत-मत से उपनिषद् की व्याख्या की थी--आज भी उसका पठन-पाठन होता है।

दक्षिण देश में, **श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में दो प्रधान भेद** दिखाई पड़ते हैं। ये दो शाखाएँ टेंगलइ (दक्षिण पथ) और बड़गलइ (उत्तर पथ) नाम से प्रसिद्ध हैं। किसी-किसी विषय में इनमें मतवैषम्य दिखाई देता है।[1] बड़गलइ-शाखा की अपेक्षा टेंगलइ-शाखा में कृपा अथवा प्रपत्ति की प्रधानता अधिक है। बड़गलइ शाखावालों के मत से भगवत्कृपा-लाभ में कर्म आदि की सापेक्षता है। इनका कहना है, कर्म और ज्ञान भगवत्प्राप्ति का साक्षात् उपाय नहीं है; इनकी उपयोगिता केवल भक्ति के अंग के रूप में है। भगवान् साक्षात् रूप से एकमात्र भक्ति द्वारा ही मिलते हैं। टेंगलइ-शाखावालों का कहना है, भगवत्कृपा अहेतुक है—यह क्यों होती है, कब होती है, कोई नहीं कह सकता। वस्तुतः, इसका कोई मूल नहीं। इनके अनुसार कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि जिन किन्हीं उपायों से मोक्षलाभ हो सकता है, उनमें किसी की प्रधानता और किसी की गौणता मानने का कोई हेतु नहीं। बड़गलइ-शाखावालों के मत से प्रपत्ति भगवत्प्राप्ति का उपाय-विशेष है, परन्तु टेंगलइ-मत से यही एकमात्र उपाय है। प्रपत्ति से दूसरे किसी उपाय की तुलना नहीं हो सकती। फलतः, बड़गलइ-मतावलम्बियों का कहना है, दूसरे उपाय का सहारा लेने का सामर्थ्य या अधिकार न हो, तो प्रपत्ति ग्रहण करना उचित है। परन्तु, टेंगलइ-मतवालों की धारणा है, जीवमात्र को पूर्ण भाव से भगवान्

१. **गोविन्दाचार्य ने अष्टादशविषय में, दोनों शाखाओं में मतभेद दिखाया है। द्रष्टव्य** : 'The Astadasa bhedas, or the eighteen points of Doctrinal differences between the. Tengalais of the Vadgalais of the Visistadvait Vaisnava School south india : G. A. Govindacharya (J.R.A.S., 1910, pp. 1103–1112)।

का शरणापन्न होना ही होगा। इसमें सबलता और दुर्बलता का विचार नहीं। उनका आश्रय लिये विना दूसरा कोई भी उपाय फल नहीं दे सकता। विशुद्ध प्रपत्ति ही श्रेष्ठ उपाय है। इसके साथ दूसरे उपाय का मिश्रण युक्तिसंगत नहीं है। बड़गलइवालों के मत से कैवल्यमुक्ति स्थायी नहीं है, टेंगलइवालों के सिद्धान्त के अनुसार कैवल्य नित्य अवस्था है।[१] इस अवस्था जैसे जड़ जगत् में पतन की सम्भावना नहीं रहती, वैसे ही भगवत्-धाम में जाने का भी कोई उपाय नहीं। मोक्षावस्था में भगवदानन्द का विकास होता है, इस सम्बन्ध में भी दोनों शाखाओं में कुछ-कुछ मतानैक्य देखा जाता है। बड़गलइ-शाखावाले मुक्त आत्मा की आनन्द-उपलब्धि में वैचित्र्य स्वीकार नहीं करते। टेंगलइ-शाखावाले कहते हैं, यद्यपि भगवदानन्द में न्यूनाधिक्य नहीं, तथापि जीवमात्रके ही स्वभावगत वैचित्र्य के अनुरूप सेवाभेद अवश्यम्भावी है, इसलिए भगवदानन्द का आस्वादन सभी जीव के लिए एक-सा नहीं होता।

श्री अथवा शक्तितत्त्व के सम्बन्ध में भी दोनों शाखाओं में मतभेद है। बड़गलइ-शाखावाले कहते हैं, नारायण की भाँति श्री का भी मोक्षदान का सामर्थ्य है, टेंगलइ-शाखावाले इसे स्वीकार नहीं करते।[२] उनके मत से श्री केवल मध्यवर्त्तिनी होकर जीव को

---

१. कैवल्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणा ही इस मत-वैषम्य का हेतु है। बड़गलइ-मतवाले जिसे कैवल्य कहते हैं, वह एक प्रकार की प्रकृतिलीन अथवा प्राकृत भाव में लीन अवस्था है। उसमें अचित्-सम्बन्ध तिरोहित नहीं होता। अतएव, उस अवस्था से व्युत्थान अवश्यम्भावी है। किन्तु, टेंगलइ-मतवाले कहते हैं, कैवल्य भगवत्-धाम में स्थिति नहीं होने पर भी प्रकृति-वियुक्त रूप में आत्मा की स्वरूपावस्थिति है। इसीलिए, जैसे वहाँ से ऊर्ध्वगति रुद्ध होती है, वैसे ही अधोगति या विच्युति भी रुद्ध होती है।

२. वेदान्तरामानुजमुनि ने 'श्रीतत्त्व सिद्धांजन' नामक ग्रन्थ में आलोचना करके दिखाया है कि श्री और भगवान् परस्पर मिलित रूप से ही जगत के कारण तथा मोक्षदायक एवं आश्रयणीय हैं—"श्रीश्रीशौ मिलितावेव जगद्धतुविमुक्तिदौ। प्रपत्तव्यौ च।" पर, इस विषय में भाष्यकार का स्पष्ट मत व्यक्त नहीं है, इसलिए बहुतों ने बहुत प्रकार की कल्पना का आश्रय लिया है। किसी का विश्वास है, रामानुज श्री के ब्रह्मत्व को स्वीकार करते थे, और कोई-कोई कहते हैं, भाष्यकार ने श्री की जगत्कारणता तक स्वीकार नहीं की है, पर जितना-भर स्वीकार किया है, वह सृष्टि आदि व्यापार में अनुमन्तृता या प्रेरकता आदि हेतु से। किन्हीं का मत है, पुरुषकार-रूप में ही श्री ज्ञान के विषयीभूत होती हैं—उनके अणुत्व या विभुत्व की समालोचना निरर्थक है। वेदान्तरामानुज वेंकटनाथ के अनुवर्त्ती थे। वेंकटाचार्य ने अपने 'लक्ष्म्युपायत्व-दीप' नामक निबन्ध में इसी सिद्धान्त को स्थापित किया है—श्री के कारणत्व व्यापकत्व, निरन्तृत्व आदि का प्रदर्शन किया है, और जो श्री की पुरुषकारता-

भगवान् का कृपा-पात्र बनने में सहायता करती हैं। व्यापकता के सम्बन्ध में भी दोनों में कुछ-कुछ मतभेद मिलता है। बड़गलइ-शाखावाले श्री की स्वरूप-व्याप्ति को स्वीकार करते हैं, टेंगलइ-शाखावाले केवल विग्रहव्याप्ति और गुणव्याप्ति को मानते हैं। टेंगलइ-मत से जीव में केवलमात्र गुणव्याप्ति है, श्री में गुणव्याप्ति एवं विग्रहव्याप्ति दोनों हैं। भगवान् में गुण और विग्रहव्याप्ति के अतिरिक्त स्वरूप-व्याप्ति भी है। भगवान् के वात्सल्य तथा दयालुता के बारे में भक्तमात्र ही अवश्य एकमत हैं, परन्तु उस विषय में सब की धारणा एक जैसी नहीं। बड़गलइ-शाखावाले कहते हैं, वात्सल्यवश भगवान् जीव का दोष नहीं देख पाते। किन्तु, टेंगलइ-शाखावाले कुछ और आगे जाते हैं। उनका मत है, भगवान् जीव के केवल दोषदर्शी ही नहीं, दोष के भोक्ता भी हैं। उत्तर-सम्प्रदाय कहते हैं, परदुःख-निराकरण की इच्छा ही दया है, परन्तु दक्षिण-सम्प्रदाय कुछ और आगे बढ़कर उस लक्षण का परिवर्त्तन करते हुए कहते हैं, परदुःख में दुःख का अनुभव ही दया है। ऐसे ही अन्य अनेक विषयों में भेद है। यह शाखा-भेद कब हुआ था, इसका पता नहीं चलता। किन्तु, लोकाचार्य एवं वेदान्तदेशिक के समय से ही इस साम्प्रदायिक कलह ने तीव्र रूप धारण किया, यह ऐतिहासिक सत्य है।

मात्र को स्वीकार करते हैं, उनके मत का खण्डन करते हुए श्री के उपायत्व को श्रुति, स्मृति और शास्त्र-सम्प्रदाय के अनुसार सिद्ध किया है। अतएव, उनके मत से भी 'लक्ष्मीविशिष्टभगवच्चरणारविन्दशरणागति' ही मोक्ष का एकमात्र साधन है।

हंस-सम्प्रदाय, निम्बार्क-मत या द्वैताद्वैत-सिद्धान्त

यहाँ हम निम्बार्क-मत की थोड़ी-बहुत चर्चा करेंगे। निम्बार्काचार्य भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैतवादी थे। भेदाभेद-सिद्धान्त भारतीय दर्शन के इतिहास में अभिनव तत्त्व नहीं। निम्बार्क के पहले भास्कराचार्य[1] इस मत के समर्थक थे। उनका भाष्य प्रकाशित हुआ है। उसमें भेदाभेद-सिद्धान्त का ही समर्थन मिलता है। प्राचीन आचार्यों में भी किसी-न-किसी रूप में इस मत का प्रचार था, ऐसा लगता है। ब्रह्मसूत्र में उडुलोमि नाम के आचार्य का उल्लेख है, वह भी भेदाभेदवादी थे। किन्तु, उनके मत से निम्बार्क के मत का भेद है। उडुलोमि जीव और ब्रह्म में बद्ध अवस्था में भेद और मुक्त अवस्था में अभेद को अस्वीकार करते हैं। परन्तु, निम्बार्क कहते हैं, दोनों का भेदाभेद स्वाभाविक है, अतएव वह बद्धावस्था में भी जैसा है, मुक्तावस्था में भी वैसा ही वर्त्तमान रहता है।

आचार्य-परम्परा :

कहा जाता है, सनकादि महर्षियों को निगूढ ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने के लिए भगवान् हंसरूप में अवतीर्ण हुए। नारद हंसरूपी भगवान् के अनुचर थे। निम्बार्क नारद

---

१. निम्बार्क, निम्बादित्य, निम्बभास्कर, नियमानन्द आदि अनेक नामों का उल्लेख दार्शनिक साहित्य के इतिहास में मिलता है। उनमें 'निम्बार्क' नाम ने ही सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई। प्रवाद है, इनका पहले का नाम भास्कर था। इसीलिए, बहुत लोग इन्हें प्राचीन भाष्यकार भेदाभेदवादी भास्कराचार्य से अभिन्न अनुमान करते हैं। पर, वास्तव में ऐसी कल्पना का कोई मूल नहीं है। भाष्यकर्त्ता भास्कर ईसा की नवीं सदी में हुए थे। वह रामानुज के पूर्ववर्त्ती थे; क्योंकि श्रीभाष्य आदि बहुत-से ग्रन्थों में उनका उल्लेख मिलता है। न्यायाचार्य उदयन ने अपनी 'न्यायकुसुमांजलि' में (द्वितीय स्तबक) भास्कर का उल्लेख करते हुए समालोचना की है: 'ब्रह्मपरिणतेरिति भास्करगोत्रे युज्यते।' उदयन का आविर्भाव-काल ९०६ (तर्काम्बरांक) शकाब्द या सन् ९८४ ई० है। शंकरमतविमर्दक भास्कराचार्य शंकर के परवर्त्ती एवं उदयनाचार्य के पूर्ववर्त्ती थे। श्रीनिवास के लघुस्तवराज में 'नियमानन्द' नाम मिलता है। यथा: "जय जयेङ्गितज्ञाता नियमानन्द आत्मवान्। नियमेन वशे कुर्वन् भगवन्मार्गदर्शकः॥" नन्ददास-कृत 'निम्बार्कदशश्लोकी' की टीका में, 'निम्बार्क' नाम है: "भवतापप्रहर्त्तारं वाञ्छितार्थप्रवर्षिणम्। आश्रयं सु-विहङ्गानां निम्बार्कं प्रभुमाश्रये॥" सुन्दरभट्ट ने 'सिद्धान्तसेतु' में कहा है: "आद्याचार्यो भगवान् सम्प्रदायप्रवर्त्तको नियमानन्दाख्यो निम्बार्कापरनामा।" श्रीनिवास-कृत 'वेदान्तकौस्तुभ' में इन्हें 'निम्बभास्कर' कहा गया है। कोई-कोई निम्बार्क को भास्कर का सृष्टिकर्त्ता मानते हैं।

के शिष्य और भगवान् के सुदर्शन चक्र के अवतार थे। अरुणि मुनि के औरस पुत्र निम्बार्क जयन्ती देवी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। उनके शिष्य **श्रीनिवास** भगवान् के शंख के अवतार थे, ऐसी प्रसिद्धि है। इन्होंने निम्बार्क के 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर 'वेदान्तकौस्तुभ' नाम की उत्कृष्ट टीका लिखी। गुरुपरम्परा-क्रम में **देवाचार्य** श्रीनिवास से अधस्तन हैं। यह भगवान् के पद्म के अवतार तथा 'सिद्धान्तजाह्नवी' नामक ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के रचयिता हैं। **सुन्दरभट्ट** ने 'सिद्धान्तजाह्नवी' पर 'सेतु' नाम की एक उत्कृष्ट टीका लिखी थी। सुन्दरभट्ट के बाद प्रधान आचार्य का नाम **काश्मीर केशवभट्ट** है। यह एक दिग्विजयी पण्डित थे और प्रस्थानत्रय पर ही अनेक पाण्डित्यपूर्ण निबन्धों की रचना करके विद्वत्समाज को चमत्कृत किया था। इनके गुरु का नाम **मुकुन्द** है। इनका प्रधान ग्रन्थ है 'वेदान्तकौस्तुभ' की टीका—'कौस्तुभप्रभा'। इसके सिवा 'तैत्तिरीय-प्रकाशिका', 'तत्त्वप्रकाशिका' आदि अनेक ग्रन्थों में इनकी विद्वत्ता और असाधारण प्रतिभा का ज्वलन्त निदर्शन है। **ब्रह्मचारी वनमाली मिश्र** का 'वेदान्तसिद्धान्तसंग्रह' या 'श्रुति-सिद्धान्त' सात अध्यायों का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

इस सम्प्रदाय का मूल प्रामाणिक ग्रन्थ निम्बार्क-रचित 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक वेदान्त-भाष्य है। 'शारीरकमीमांसावाक्यार्थ' के नाम से भी बहुत स्थानों में इस ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। निम्बार्क के 'दशश्लोकी' ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप से ज्ञेय पंचविध पदार्थों का निरूपण है। उपास्य का स्वरूप, उपासक का स्वरूप, कृपाफल, भक्तिरस एवं प्राप्ति के विरोधी का स्वरूप—यह अर्थपंचक बहुत ही सुन्दर और सहज भाव से दस श्लोकों में आलोचित हुआ है। 'सविशेषनिर्विशेषश्रीकृष्णस्तवराज' भी स्वयं निम्बार्क-रचित २५ श्लोकों का स्तोत्रविशेष है। 'श्रुतिसिद्धान्तमंजरी' नाम से इसकी एक टीका प्रकाशित हुई है।

चित्-तत्त्व :

निम्बार्क के मतानुसार चित्, अचित् और ब्रह्म के भेद से **तत्त्व तीन प्रकार** के हैं। उनमें **चित्-तत्त्व ही जीवात्मा** है। यह देह आदि जड पदार्थसमूह से पृथक्, ज्ञानस्वरूप होते हुए भी नित्यज्ञान का आश्रय, अर्थात् नित्यज्ञाता, अणुपरिमाण, अहंप्रतीति का विषय एवं कर्तृत्वसम्पन्न है। जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न तथा बन्धन और मोक्ष की योग्यता-विशिष्ट है। भगवान् श्रीपुरुषोत्तम जीवमात्र के ही अन्तरात्मा हैं—जीवमात्र ही उनका व्याप्य, आधेय एवं स्थिति आदि विषय में सर्वतः स्वभावतः उनके अधीन हैं। ईश्वर प्रेरक, जीव प्रेर्यमाण है। **नित्य, मुक्त** और **बद्ध**—इन तीन प्रकार के जीव का वर्णन शास्त्र में मिलता है। नित्यगण सदा ही संसार-दुःख से निर्मुक्त, स्वभावतः भगवदनुभावित और भगवत्-स्वरूप गुण आदि विषयों में अनुभवानन्द-सम्पन्न हैं। जो समाधिनिष्ठ योगी हैं, उन्हें भी वैसा अनुभवानन्द होता तो है, पर वह नित्य जीव के अनुभव के समान सदा-कालीन नहीं होता और स्वाभाविक भी नहीं। प्रकृति-सम्बन्ध से ही दुःख आदि का उद्रेक

होता है—देह आदि दुःख आदि के साधन हैं। इस सम्बन्ध को ही बन्धन कहते हैं—इसका मूल कारण अनादि कर्मरूपी अविद्या है। जीव जब इस बन्धन को छिन्न करके बाहर आता है, तभी उसे मुक्त जीव कहते हैं। मुक्ति द्विविध है, इसलिए मुक्त जीव भी दो प्रकार के हैं। 'वेदान्तकौस्तुभ' आदि ग्रन्थों में यद्यपि 'कार्यकारणप्रकृतिनिवृत्तिपूर्वकभगवद्-भावापत्ति' को ही मुक्ति कहा गया है, तथापि बाद के किसी-किसी ग्रन्थ में प्रत्यगात्मा के स्वरूप-लाभ को भी मुक्ति में गिना गया है। कहना नहीं होगा, यह हमारे पूर्वालोचित कैवल्य का नामान्तर है। इस अवस्था में, अर्थात् विश्वात्मक भगवद्भाव की प्राप्ति नहीं होने तक परमानन्द का विकास नहीं होता। जो अनादिकर्मजन्य देव आदि देहों में और तत्सम्बद्ध वस्तुओं में आत्मा और आत्मीय रूप में अभिमान करते हैं, वे बद्ध जीव हैं। इनमें अवस्था का तारतम्य है, इसीलिए कोई बुभुक्षु है और कोई मुमुक्षु। सद्गुरु का आश्रय लेकर उनके उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करने से श्रीभगवान् की अहेतुक कृपा का विकास होता है। फलस्वरूप, जीव परामुक्ति लाभ करता है। और तब, अर्चिः आदि मार्गों में प्रवेश करके जीव प्रकृति-मण्डल के अतीत परमपद या ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

अचित्-तत्त्व :

अचित्-तत्त्व तीन प्रकार का है—**प्राकृत, अप्राकृत** और **काल**। त्रिगुण का आश्रय-द्रव्य प्राकृत है—यह कारणरूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य है। प्रधान, माया, अव्यक्त आदि कारणावस्था के नाम हैं और महत्तत्त्व से ब्रह्माण्ड तक जगत् कारणावस्था के अन्तर्गत है। अचित् की सत्ता भगवत्सापेक्ष है—इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं। प्रकृति नित्य कालाधीन तथा परिणामादिविकारशील है। यह कर्मसमूह का क्षेत्र और परार्थक है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के द्वारा प्रकृति क्षेत्रज्ञ आत्मा की देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि रूपों में परिणत होकर जीव का बन्धन-साधन करती है और मोक्ष का प्रतिबन्धक होती है। अचित्-तत्त्व का अप्राकृत अंश विशुद्ध सत्त्व है। अचेतन होते हुए भी यह प्रकृति और काल से बहुत ही भिन्न है, आदित्यवत् समुज्ज्वल तथा प्रकृति-मण्डल के बाहर विराजमान है। नित्यविभूति, विष्णुपद, परमव्योम, परमपद, ब्रह्मलोक आदि इसी के नामान्तर हैं। यह भगवान् के अनादि संकल्पवश उनका एवं उनके नित्य और मुक्त भक्तों के भोग्य, भोगोपकरण और स्थान-रूप में अनेक भाव धारण करता है। यह कालातीत है, इसलिए परिणाम आदि विकारों से शून्य है।[१] काल नित्य एवं विभु और भूत-भविष्य आदि व्यवहारों का असाधारण कारण है। लौकिक ज्ञानमात्र में ही

१. द्रष्टव्य : "कलामुहूर्त्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः।" नित्यविभूति अपरिच्छिन्न है, पर लीला के लिए भगवत्संकल्प से प्राकृत-देशवर्त्ती होकर यह अवतार-विभूति में परिणत होती है। उस समय परिच्छिन्न-सी लगते हुए भी यह वास्तव में अपरिच्छिन्न होती है; क्योंकि तब भी उसमें अचिन्त्य शक्ति से सम्बन्ध रहता है।

कालबोध अनुप्रविष्ट रहता है। यह सृष्टि आदि का सहकारी तथा प्राकृत वस्तु-मात्र का नियामक, किन्तु भगवान् के अधीन है।

ब्रह्मतत्त्व :

निम्बार्क-मत से ब्रह्म जगत्-कर्तृत्व आदि गुणों का आश्रय है। श्रीकृष्ण या वासुदेव ही परब्रह्म हैं। यह दोषहीन, कल्याण-गुण के आकर, सत्य और ज्ञानस्वरूप, अनन्त, सच्चिदानन्दविग्रह हैं—इनकी शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है। यह एक ओर जैसे गोपी-कान्त, दूसरी ओर वैसे ही रमानाथ हैं। गोपी प्रेम की अधिष्ठात्री और रमा या लक्ष्मी ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री हैं। अतएव, भगवान् जैसे ऐश्वर्य के आधार हैं, वैसे ही माधुर्य के भी आश्रय हैं। पुराण आदि में जिन्हें सत्यभामा कहा गया है, वही रमा या भू-भक्ति हैं। भगवान् मुक्तगम्य, योगिध्येय, भक्तवत्सल, ब्रह्मा आदि देवों द्वारा अर्चित, कर्मफलदाता, कृपालभ्य, स्वतन्त्रसत्त्वयुक्त, यज्ञ आदि के भोक्ता और मुमुक्षु के एकमात्र जिज्ञास्य हैं। उनके स्वरूप की भाँति उनकी देह भी अनन्त असंख्येय कल्याण-गुण का आश्रय है। निरतिशय सौन्दर्य, मृदुलता, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य आदि सद्‌गुणों ने नित्य उनकी देह को भूषित कर रखा है। उनकी देह में इन्द्रिय आदि के विभाग की कल्पना करना अनावश्यक है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् और एकरस हैं। जो सब मुक्त पुरुष भगवत्-साम्यलाभ करते हैं, उनका और नित्यगण का रूप भी वैसा ही गुणशाली है। इन सब देहों के संस्थान भगवान् की अनादि और अनन्त इच्छा से सिद्ध हैं, अतएव स्वाभाविक हैं। आत्मा जैसे नित्य है, ये सब देह भी वैसे ही नित्य हैं। किन्तु, बन्धन की अवस्था में जीव की नित्यदेह आवृत रहती है, पर जब जीव भगवत्प्रसाद से साक्षात्कार लाभ करके प्रकृति-सम्बन्ध से विमुक्त होता है, तब वह अपनी नित्यसिद्ध देह से योगलाभ करता है। यह सब देह निर्विकार हैं, अतएव जन्य नहीं हैं। उत्सव के समय भृत्यगण जैसे राजा के निकट पूर्वसिद्ध वस्त्र आदि पाते हैं, वैसे ही प्रकृति से बाहर होकर भगवद्-राज्य में प्रवेश करने के समय भगवान् पूर्वसिद्ध नित्य निर्विकार भगवत्सेवोपकरण के योग्य देह जीव को दान करते हैं।

ब्रह्म चित् और अचित् से नित्य विलक्षण हैं, पर चित् और अचित् दोनों तत्त्व ही सदा ब्रह्मात्मक हैं। अणु एवं अल्पज्ञ जीव बद्धावस्था में भी व्यापक, अच्युतस्वभाव सर्वज्ञ ब्रह्मपदार्थ से भिन्न होकर भी ब्रह्मांश होने के नाते उससे अभिन्न है। वृक्ष से पत्ता, प्रदीप से प्रभा, गुणी से गुण एवं प्राण से इन्द्रिय जैसे अलग रहने या कार्य करने में समर्थ नहीं; और इसीलिए वे वृक्ष आदि के अंश भी वृक्ष आदि से अभिन्न हैं, वैसे ही मुक्ति में भी पृथक् स्थिति आदि के अभाववश अभेद के होते हुए भी जीव में भेद रहता है। श्रुति ने भी '**स्वेन रूपेणैव सम्पद्यते**' कहकर यही दिखाया है। परस्पर भेद नहीं रहने से दोनों की स्वरूपहानि का प्रसंग अनिवार्य हो पड़ता है। मुक्तावस्था में प्रत्यगात्मा परमात्मा से अविभक्त रूप में अपने को अनुभव करता है। परमात्मा जीव के स्वांशी हैं, जीव उनका अंश है। इसीलिए, जीव स्वभावतः ईश्वरात्मक और उनसे अविभाज्य है। यद्यपि स्वरूपतः

ब्रह्म और जीव में स्वाभाविक विभाग है, तथापि दोनों में पूर्वोक्त प्रकार का विभागसहिष्णु स्वाभाविक अविभाग भी वर्त्तमान है। दोनों के स्वरूप-विभाग को अस्वीकर करना समीचीन नहीं; क्योंकि ऐसी बहुत श्रुतियाँ हैं, जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अचेतन पदार्थ भी ब्रह्म से स्वरूपगत अविभाग-सम्पन्न है। अतएव, 'विभागसहिष्णु अविभाग' ही जीव और ब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध है, यही श्रुति का अभिप्राय है।

ब्रह्म ही जगत् के उपादान और निमित्त हैं। वह कृतिमान् (=कर्त्ता) और फिर वही कृतित्व-विषय (=कर्म) हैं, इसीलिए वह अभिन्ननिमित्तोपादान हैं। वह स्वाभाविक सूक्ष्मावस्थापन्न शक्ति एवं तत्तद्गत सद्रूप कार्य को स्थूल रूप में प्रकाशित करने से जैसे जगत् के उपादानकारण हैं, वैसे ही जीव के साथ उनके स्वकृत पूर्वकर्म के फल और उसके भोग के साधनों की योजना करने से जगत् के निमित्तकारण भी हैं। जीव अनादि कर्म-संस्कार का वशीभूत है। उसका ज्ञान बहुत ही संकुचित है, इसलिए वह भोग-स्मरण करने में समर्थ नहीं। अतएव, कर्मफल-भोग के उपयोगी ज्ञान का प्रकाश करके फल और उसके भोग के साधन के साथ जीव को योजित करना ही ब्रह्म का निमित्तत्व है।[1]

परिणाम-तत्त्व :

परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और अच्युतविभव हैं—वह 'स्वात्मक और अधिष्ठित' अपनी शक्ति को विक्षिप्त करके जगत् के आकार में अपनी आत्मा को परिणत करते हैं। उनके स्वभावसिद्ध अनन्त शक्ति हैं। उन सब शक्तियों के विक्षेप से ही सृष्टि आदि व्यापार सम्पन्न होते हैं। सर्वशक्ति का ऐसा विक्षेप ही परिणाम का स्वरूप है। केशव काश्मीरी कहते हैं : परिणाम दो प्रकार का है। पहला स्वरूप-परिणाम है, दूसरा शक्तिविक्षेपात्मक परिणाम। सांख्याचार्य ब्रह्मानधिष्ठित स्वतन्त्र प्रकृति के स्वरूप-परिणाम को अंगीकार करते हैं, इसलिए स्वरूप-परिणाम सांख्यसिद्धान्त है। परन्तु, उपनिषद्-मतावलम्बी वैदान्तिक जैसा परिणाम स्वीकार करते हैं, उसमें स्वरूप की प्रच्युति न होकर भी कार्य की उत्पत्ति उपपन्न होती है। आकाश से शब्द, उर्णनाभि से तन्तु, मन से काम आदि और समुद्र से ऊर्मि की उत्पत्ति शक्तिविक्षेपात्मक परिणाम का स्थूल दृष्टान्त है। आकाश आदि की शक्ति स्वाभाविक होने पर भी परिमित है, पर स्वभावसिद्ध ब्रह्मशक्ति अचिन्त्य, अनन्त और अमेय है, वह निर्विकार और अच्युत रहकर भी जगत् की सृष्टि आदि कार्य कर सकते हैं यही उनकी विशिष्टता है। शास्त्र में बहुत स्थलों में वर्णित है कि भगवान् ने प्रधान और पुरुष में प्रविष्ट होकर स्वेच्छा से उन्हें क्षुब्ध किया। ऐसे स्थानों में क्षोभ कहने से शक्ति का विक्षेप ही समझना होगा। परिणाम का ऐसा स्वरूप नहीं मानने से ब्रह्म के सर्वज्ञत्व तथा

---

१. "परापरादिशब्दाभिधेयानां स्वस्वाभाविकीनां सूक्ष्मावस्थापन्नानां शक्तीनां तत्तद्गतसद्रूपकार्याणां च स्थूलतया प्रकाशकत्वमुपादानत्वम्। स्वस्थानादिकर्म-संस्कारवशीभूतात्यन्तसङ्कुचितभोगस्मरणार्हज्ञानप्रकाशनेन तत्तत्कर्मफल-तत्तद्भोगसाधनैः सह योजयितृत्वं निमित्तत्वम्।" (वेदान्तकौस्तुभ)

अन्यान्य शास्त्रनिर्दिष्ट स्वाभाविक धर्म की संगति नहीं की जा सकती । और, विवर्त्तवाद में प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त, दोनों ही असम्भव हो जाते हैं; क्योंकि कार्यमात्र ही यदि भ्रमकल्पित हो, तो किसी की ज्ञान-सम्भावना नहीं रहती । विशेष करके भ्रान्ति-विषयक ज्ञान भी भ्रमात्मक ही रहेगा । इस कारण श्रुतिवाक्य को भी भ्रान्त पुरुष की उक्ति के रूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा । विवर्त्तवाद मानने से एकविज्ञान से सर्वविज्ञान का दृष्टान्त पाने का उपाय नहीं । रज्जु के ज्ञान से सर्प का ज्ञान होना सम्भव नहीं । यदि कार्यजगत् को ब्रह्म के विवर्त्तरूप में मिथ्या न मानकर सत्य भी माना जाय, तो भी अद्वैतवाद शिथिल हो पड़ेगा । अतएव, निम्बार्क-मत से विवर्त्तवाद सर्वथा असंगत है ।

ब्रह्म-सम्प्रदाय, मध्वमत या द्वैत-सिद्धान्त

निम्बार्क-सम्प्रदाय के सिद्धान्त के बारे में दो-चार बातें कही गईं। अब प्रसंगतः मध्व-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ चर्चा करेंगे। भारतीय दर्शन के इतिहास में मध्वाचार्य का स्थान ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त निम्न नहीं। शंकराचार्य ने जिस प्रकार अपने अद्वैतवाद से सारा द्वैताभास वर्जित करने की चेष्टा की थी, उसी प्रकार मध्वाचार्य ने अपने प्रचारित द्वैत-सिद्धान्त को सभी प्रकार की अद्वैत-गन्ध से अछूता रखने का प्रयास किया था।[1] यह प्रयास कहाँतक सफल हुआ था, नहीं कहा जा सकता; पर दार्शनिक इतिहास में मध्वस्वामी ने एक ऊँचा स्थान अधिकृत किया था, इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं।

मध्वाचार्य और शिष्य-सम्प्रदाय :

मध्वाचार्य का, पिता का दिया हुआ नाम था वासुदेव, किन्तु विद्वत्समाज में वह **आनन्दतीर्थ** तथा **पूर्णप्रज्ञ** नाम से ही परिचित हुए थे। कल्यब्द ४३००, अर्थात् सन् ११९९ ई०[2] में, मध्यगेह नाम के ब्राह्मण के औरस पुत्र के रूप में वेदवती या वेदविद्या या

१. श्रीशंकर ने ब्रह्म में स्वगत भेद तक को स्वीकार नहीं किया। उनके मत से भेदमात्र ही मायाकल्पित, अतएव मिथ्या है, पारमार्थिक नहीं। मध्वसिद्धान्त इसी की स्वाभाविक प्रतिक्रिया-मात्र है। फलतः, इस मत में भेद नित्य एवं पारमार्थिक गिना जायगा, इसमें अचरज की कौन-सी बात है? मध्वाचार्य ने जब जन्म लिया, तब उस अंचल में इक्कीस प्रकार के शास्त्रविरुद्ध मत प्रचलित थे—शंकरमत उन्हीं में अन्यतम था। नारायण ने अपने 'मध्वविजय' में उस समय के मायावाद की प्रबलता के बारे में बहुत-सी बातें लिखी हैं।

२. आचार्य के स्वरचित 'भारततात्पर्यनिर्णय' में उनका आविर्भाव-काल यही मिलता है। श्रीकुर्मम में सम्प्रति जो शासनलिपि मिली है, उससे, सम्पादक श्रीकृष्णशास्त्री का अनुमान है कि आचार्य का जन्म सन् १२३८ ई० में हुआ था। कहना व्यर्थ है कि अब भी यह मत सर्ववादिसम्मत रूप से स्वीकृत नहीं हुआ है। इस प्रसंग में एक बात आलोच्य प्रतीत होती है। प्रवाद है कि एक समय विद्यारण्य ('पंचदशी' आदि ग्रन्थों के रचयिता) एवं अक्षोभ्यमुनि में शास्त्रार्थ हुआ था। विद्यारण्य घोर अद्वैतवादी, अक्षोभ्य मध्वसम्प्रदायाचार्य, अतएव घोर द्वैतवादी थे। इस विचार से मध्यस्थ होने के लिए श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध दार्शनिकाचार्य वेदान्तदेशिक बुलाये गये थे। वेदान्तदेशिक सभा में आने को तैयार नहीं हुए, तो दोनों ने अपना-अपना वक्तव्य लिखकर

देवता नाम की माता के गर्भ से दक्षिण कनारा के उदीपी जिले के अन्तर्गत विश्वग्राम में श्रीमध्वाचार्य ने जन्म ग्रहण किया था। यह स्थान प्रसिद्ध शांकर मठ शृंगेरी से प्राय: ४० मील पश्चिम में है। बचपन में आचार्य दैहिक व्यायाम में खूब पटु थे। किन्तु दैहिक, यहांतक कि मानसिक उत्कर्ष भी उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था। उन्होंने जिस लोकोत्तर अध्यात्मशक्ति के साथ जन्म लिया था, उसी का अनुशीलन और प्रचार उनका व्रत था। इसलिए, बहुत ही कम उम्र में संन्यास लेने के लिए वह उत्कण्ठित हो पड़े थे। परन्तु, चूँकि वह माता-पिता के इकलौते पुत्र थे (क्योंकि बहुत पहले ही उनके दो बड़े भाई स्वर्ग सिधार चुके थे), इसलिए उनके एकान्त अनुरोध से वह संन्यास नहीं ले सके। बाद में जब उनके एक छोटा भाई हुआ, तब उन्होंने जरा भी देर नहीं की और उदीपी के पीठपुर के अनन्तेश्वर-मन्दिर के संन्यासी अच्युतप्रेक्ष से संन्यास की दीक्षा ले ली। उसी समय से वह 'पूर्णप्रज्ञ' नाम से प्रसिद्ध हुए। यह घटना उनकी २५ वर्ष की अवस्था में घटी थी, विशेषज्ञों का ऐसा अनुमान है।[१] बाद में, आचार्याभिषेक प्राप्त करके उन्होंने 'आनन्दतीर्थ' नाम ग्रहण किया। इसके बाद ही वह दिग्विजय के लिए निकले। सबसे पहले विष्णुमंगल नाम के नगर में उन्होंने कई योगविभूतियाँ (यथा : अमित भोजन, थोड़े-से अन्न से बहुत लोगों को भरपेट भोजन कराना आदि) दिखाई थीं। उसके बाद त्रिवेन्द्रम् में उस समय के शृंगेरीमठाध्यक्ष **विद्याशंकर** से शास्त्रीय विचार में प्रवृत्त हुए। विद्याशंकर सन् १२२८ ई० में मठाधीश के आसन पर प्रतिष्ठित हुए थे। सम्भवतः, इसके कुछ ही दिनों के बाद यह विचार-गोष्ठी संघटित हुई थी। प्रसिद्धि है कि विचार में मध्वाचार्य पराजित और अवमानित हुए थे। सम्भवतः, इस पराजय की स्मृति आचार्य के मन में सदा जागरूक थी। रामेश्वर में भी शास्त्रार्थ हुआ था। रामेश्वर से श्रीरंगम् होकर आचार्य उदीपी लौटे। उनका आर्यावर्त्त-परिभ्रमण इसके बाद की घटना है।

उनके पास भेजा। वेदान्तदेशिक ने प्रत्युत्तर में अपनी राय लिख भेजी। अद्वैतवादी कहते हैं कि "अक्षोभ्यं क्षोभयामास विद्यारण्यो महामुनिः।" इस श्लोक से वेदान्तदेशिक ने अद्वैत-पक्ष की ही जयघोषणा की। पर, द्वैतवादी कहते हैं कि देशिक ने इस प्रकार उत्तर दिया था :

असिना तत्त्वमसिना परजीवप्रभेदिना।
विद्यारण्यमहारण्यमक्षोभ्यमुनिरच्छिनत् ॥

कहना नहीं होगा, यह उक्ति द्वैतपक्ष का समर्थक है। जो हो, इस किंवदन्ती के अनुसार अक्षोभ्यमुनि विद्यारण्य और वेदान्तदेशिक के समकालीन थे, यह जाना जाता है। यदि अक्षोभ्यमुनि अक्षोभ्यतीर्थ से भिन्न हों, तो वह उडपी ग्राम के मूल मध्वमठ अथवा उत्तराढ़ी मठ की गुरु-परम्परा में आद्याचार्य से क्रमिक संख्या में पाँचवें हैं।

१. द्रष्टव्य : कृष्णस्वामी अय्यर-प्रणीत 'Sri Madhva and Madhvaism', पृ० २१-२२।

उस समय देश जंगलों से भरा था। बहुत स्थानों में दस्युओं और जंगली जानवरों का उपद्रव था। इसके सिवा और भी जो कितने विघ्न थे, उनका अन्त नहीं। इन सब विघ्नों को पार करके, मुसलमान और दूसरे म्लेच्छ तथा विरोधी राजाओं को प्रबोधित करके आचार्य गंगाद्वार या हरिद्वार पहुँचे। वहाँ कुछ दिन उपवास, मौनधारण एवं ध्यान का अभ्यास करके व्यासासन के लिए उत्तराखण्ड के किसी एकान्त प्रदेश में गये। बदरिकाश्रम या उसके पास के किसी रमणीय स्थान में कुछ दिन तपश्चर्या करने के बाद व्यासदेव उनके निकट प्रत्यक्ष हुए। उनके आदेश से वह हरिद्वार लौट आये और विष्णु का माहात्म्य-ख्यापन तथा ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना में लगे।

मध्वाचार्य के बाद उनका आसन शोभनभट्ट ने **पद्मनाभतीर्थ** नाम ग्रहण करके अधिकृत किया। उनकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार है: **नरहरितीर्थ—माधवतीर्थ—अक्षोभ्यतीर्थ—जयतीर्थ—विद्याधिराजतीर्थ—राजेन्द्रतीर्थ—विजयध्वजतीर्थ** आदि।

मध्वाचार्य वायु के अवतार माने जाते थे। बहुत-से ग्रन्थ लिखकर उन्होंने मायावाद का खण्डन, विष्णु की प्रधानता का प्रचार और द्वैतसिद्धान्त की स्थापना का प्रयास किया था। उनके ब्रह्मसूत्रभाष्य के बारे में पहले ही कहा जा चुका है। गद्यभाषा के अलावा ब्रह्मसूत्र के सम्बन्ध में उनका एक अनुव्याख्यान और एक अणुभाष्य है—दोनों ही श्लोकनिबद्ध रचनाएँ हैं। ऋग्भाष्य, महाभारततात्पर्यनिर्णय, गीतातात्पर्यनिर्णय, गीताभाष्य, दशोपनिषद्-भाष्य, भागवततात्पर्यनिर्णय, तन्त्रसार, श्रीकृष्णामृतमहार्णव, कर्मनिर्णय, विष्णुतत्त्वविनिर्णय, प्रमाणलक्षण, कथालक्षण, उपाधिखण्डन, मायावादखण्डन, प्रपंचमिथ्यात्वानुमानखण्डन, तत्त्वसंख्यान, तत्त्वोद्योत आदि ग्रन्थों की पंक्ति-पंक्ति में उनकी अगाध विद्या और गहरी भगवद्भक्ति का निदर्शन देदीप्यमान है।

उनके एक शिष्य **त्रिविक्रम** (गृहस्थ) ने ब्रह्मसूत्रभाष्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' नाम की टीका लिखी, दूसरे शिष्य **पद्मनाभतीर्थ** ने उनके अनुव्याख्यान पर 'सन्न्यायरत्नावली' नाम से एक उत्कृष्ट व्याख्याग्रन्थ लिखा। त्रिविक्रम के पुत्र **नारायण** ने 'मणिमंजरी' और 'मध्वविजय' नामक ग्रन्थों का संकलन किया। इन दोनों ग्रन्थों में शंकराचार्य को महाभारत में प्रोक्त मणिमान् नामक दैत्य का अवतार तथा मध्वाचार्य को वायु का अवतार[1] प्रतिपादित करने की चेष्टा की गई है। ये दोनों ही ग्रन्थ साम्प्रदायिक विद्वेष से पूर्ण और ऐतिहासिक

---

१. वायु के त्रिविध स्वरूप की बात 'यस्य वायो दैवस्य बलित्था' इत्यादि श्रुति में मिलती है। तन्त्रसार, कृष्णामृतमहार्णव, गीतातात्पर्यनिर्णय आदि ग्रन्थों में मध्वाचार्य को उनमें से तीसरा रूप बताया गया है। यथा: "यस्य त्रीण्युदितानि वेदवचने रूपाणि दिव्यान्यलं बट्तद्दर्शनमित्थमेव निहितं देवस्य भर्गो महत्। वायो रामवचोनयं प्रथमकं पृक्षो द्वितीयं वपुर्मध्वो यत्तत् तृतीयमेतदमुना ग्रन्थः कृतः केशवे॥" इससे ज्ञात होता है कि पहला रूप हनुमान् है, दूसरा रूप भीम और तीसरा रूप मध्वाचार्य।

दृष्टि से उपेक्षा करने योग्य हैं। किन्तु, प्रत्नतत्त्व की गवेषणा में कुछ भी उपेक्षणीय नहीं। अक्षोभ्यतीर्थ के एक शिष्य **जयतीर्थ** अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी ग्रन्थावली द्वैतमतजिज्ञासुओं के लिए अमूल्य रत्नस्वरूप है। उनकी न्यायसुधा, वेदान्तभाष्य की टीका तत्त्वप्रकाशिका, ऋग्भाष्यटीका, वादावली, तत्त्वोद्योतटीका, गीतातात्पर्यनिर्णयव्याख्या, न्यायदीपिका आदि गम्भीर दार्शनिक विचारपूर्ण निबन्ध हैं।

ब्रह्मण्यतीर्थ के शिष्य **व्यासतीर्थ** ने मध्वप्रणीत छान्दोग्य, बृहदारण्यक, आथर्वण, माण्डूक्य, कठ, तलवकार और तैत्तिरीय उपनिषद्-भाष्य की विवृति की रचना की थी। किन्तु, उनकी सबसे प्रमुख कृति है, जयतीर्थरचित 'तत्त्वप्रकाशिका' की 'तात्पर्यचन्द्रिका' नाम की टीका। इस ग्रन्थ में उन्होंने यथेष्ट पाण्डित्य का परिचय दिया है। त्रिविक्रम के तत्त्वप्रदीप, पद्मनाभ की सन्न्यायरत्नावली, जयतीर्थ की न्यायसुधा आदि ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ अस्पष्टता थी, उन सब स्थानों को उन्होंने यथासम्भव स्पष्ट और विशद करके समझाने की चेष्टा की है। व्यासतीर्थ ने अपने विद्यागुरु लक्ष्मीनारायण का नामोल्लेख मंगलाचरण-श्लोकावली में ही किया है। इस चन्द्रिका पर सुधीन्द्र के शिष्य **राघवेन्द्रयति**-रचित 'प्रकाश' नाम की एक टीका मिलती है। इसमें चन्द्रिका के गूढार्थ को प्रकाशित करते हुए मध्वसिद्धान्त की उज्ज्वलता दिखाई गई है। 'प्रकाश' के अलावा राघवेन्द्र ने और भी बहुत-से ग्रन्थों का संकलन किया था। उनमें न्यायसुधा की टीका 'परिमल', वादावलीटीका, 'तत्त्वोद्योतटीकाविवृति' एवं तत्त्वप्रकाशिका-टीका 'भावदीप' प्रमुख हैं। उनकी 'तत्त्वमंजरी' ब्रह्मसूत्रीय मध्वभाष्य का सारसंग्रह-स्वरूप है और 'मन्त्रार्थमंजरी' मध्वाचार्य के ऋग्-भाष्योक्त अर्थ का संक्षिप्त वर्णन है। मध्वगुरु ने ऋग्वेद के १००१ सूक्तों में से ४० सूक्तों की, अग्न्यादि पक्ष, विष्णुपक्ष और अध्यात्मपक्ष इन तीन रूपों में व्याख्या की है। राघवेन्द्र ने अपने ग्रन्थ में उस व्याख्या के तात्पर्य का संकलन किया है। आचार्य के ईश एवं माण्डूक्योपनिषद्-भाष्य पर उनका विवरण मिलता है।

रघुवर्यतीर्थ के शिष्य **रघूत्तम**-कृत **परब्रह्म**प्रकाशिका आचार्य-रचित बृहदारण्यको-पनिषद्-भाष्य की टीका है। व्यासतीर्थ के शिष्य **वेदेश** ने भिक्षु जयतीर्थ की तत्त्वोद्योतटीका पर उत्कृष्ट व्याख्या की रचना की थी। इसके सिवा आचार्य के छान्दोग्य, ऐतरेय, काठक और तलवकार-उपनिषद्-भाष्य पर भी उनका विवरण मिलता है। उनमें पहला ग्रन्थ 'पदार्थकौमुदी' नाम से प्रसिद्ध है। भेदोज्जीवन, न्यायामृत, तर्कताण्डव आदि ग्रन्थों के निर्माता **व्यासराजस्वामी** ईसा की सोलहवीं शती में वर्त्तमान थे। सम्पूर्ण दार्शनिक साहित्य में द्वैतसिद्धान्त के परिपोषक उपपत्तिप्रधान विचार-ग्रन्थों में 'न्यायामृत' का स्थान बहुत ऊँचा है। श्रीशंकराचार्य-प्रवर्त्तित निर्विशेषाद्वैतवाद एवं मायावाद में जितने भी प्रकार के दोष निकल सकते हैं, उनमें से प्रत्येक का युक्ति से प्रतिपादन करके व्यासराज ने द्वैतदर्शन का गौरव बढ़ाया है। द्वैत एवं अद्वैतदर्शन के जिज्ञासुओं के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है। किसी समय इसकी इतनी अधिक प्रतिष्ठा हुई थी कि सुप्रसिद्ध

दार्शनिक **मधुसूदनसरस्वती** को अद्वैतवाद की मर्यादा बचाने के लिए इनके विरुद्ध लेखनी उठानी पड़ी थी। उनकी 'अद्वैतसिद्धि' की रचना इसी का परिणाम है। **व्यासरामाचार्य** की 'न्यायामृततरंगिणी' न्यायामृत की टीका है और एक हिसाब से यह अद्वैतसिद्धि का खण्डन है। विट्ठलाचार्य के पुत्र और तीर्थाचार्य के शिष्य **श्रीनिवास** ने भी न्यायामृत की एक टीका रची थी। उनके और ग्रन्थों में आचार्य-कृत माण्डूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषद्-भाष्य की विवृत्ति तथा जयतीर्थ-रचित तत्त्वोद्योतटीका की गीतातात्पर्यनिर्णयटीका एवं न्यायदीपिका की व्याख्या 'किरणावली' प्रधान हैं। श्रीमद्भागवत पर **विजयध्वजतीर्थ**-रचित पदरत्नावली नाम की जो टीका है, वही मध्व-सम्प्रदाय के अनुगत प्रधान व्याख्या है। विजयध्वज के गुरु **राजेन्द्रतीर्थ** का जीवनकाल १२५४ शकाब्द या सन् १३३१ ई० है। अतएव, विजयध्वज का समय ईसा की चौदहवीं शती का मध्यभाग माना जा सकता है।[१]

प्रपंच या भेदपंचक :

मध्वाचार्य घोर द्वैतवादी थे। उनके मत से भेद स्वाभाविक एवं नित्य है। उन्होंने अनेक स्थानों पर शांकर वैदान्तिक की उपाधि और मायाविषयक सिद्धान्त के, शास्त्रीय प्रमाण एवं युक्ति द्वारा, निराकरण की चेष्टा की है। उनके अनुसार यह स्वाभाविक भेद पाँच प्रकार का है। इस पाँच प्रकार के भेद को ही शास्त्र की परिभाषा में 'प्रपंच' शब्द से अभिहित किया जाता है। यह अनादि एवं सत्य है— भ्रान्तिकल्पित नहीं। ईश्वर जीव और जड पदार्थ से भिन्न हैं। जीव जड पदार्थ और दूसरे जीव से भिन्न हैं और एक जड वस्तु दूसरी जड वस्तु से भिन्न है।[२] जबतक यह तात्त्विक भेदबोध उदित नहीं होता, तबतक मुक्ति की आशा दुराशा है। अभेदज्ञान से ही बन्धन होता है, इसलिए ऐसे ज्ञान की निवृत्ति नहीं होने तक बन्धन से छुटकारा पाने की सम्भावना नहीं। भगवान् के सारे गुण जैसे सत्य हैं, वैसे ही जीव, ईश्वर आदि भेद भी सत्य हैं। जगत् सत्य है और पंचभेदयुक्त जगत् का प्रवाह भी सत्य है। नित्य वस्तुगत भेद नित्य है, और अनित्य वस्तुगत भेद अनित्य।

पदार्थ-निरूपण :

मध्वमत से पदार्थ दस प्रकार के हैं। यथा : द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। आपातदृष्टि से यह पदार्थ-विभाग कुछ अंशों में वैशेषिक एवं मीमांसक-सम्मत विभाग के अनुरूप लगता है। किन्तु, विशेष विचार से यह पता चलता है कि मध्वसिद्धान्त ने इस विषय में अन्य दर्शनों के पदांक का अनुसरण

---

१. जयतीर्थ की मृत्यु सन् १२६८ ई० में हुई, बहुतों का ऐसा अनुमान है। यदि यह सत्य हो, तो भी राजेन्द्रतीर्थ के समय से कोई सामंजस्य नहीं रहता।

२. जीवेश्वरभिदा चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जडजीवभिदा तथा॥
मिथश्च जडभेदोऽयं प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्यो ह्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्॥ —तत्त्वनिर्णय।

नहीं किया है। इसका समर्थन और तुल्य मत अन्यत्र नहीं मिलता। उद्दिष्ट पदार्थसमूह में द्रव्य बीस विभागों में बँटा हुआ है। यथा : परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अंहकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। गुण रूप-रस आदि एवं सौन्दर्य-धैर्य-शौर्य आदि भेद से अनेक प्रकार के हैं। कर्म विहित, निषिद्ध और उदासीन—ये तीन प्रकार के हैं। साक्षात् रूप से या परम्परा से जो पुण्य या पाप का असाधारण कारण है, वही कर्म है। वैशेषिकोक्त उत्क्षेपण आदि कर्म भी परम्परा-क्रम से धर्म या अधर्म उत्पन्न करता है। 'निष्फल कर्म मत करो' ('न कुर्यात् निष्फलं कर्म') इस श्रुतिवाक्य से ज्ञात होता है कि व्यर्थ कर्म पापजनक है। विहित कर्म के दो प्रकार हैं—काम्य और अकाम्य। जो फल की इच्छा से किया जाता है, वह काम्य और जो ईश्वर-प्रसाद के लिए किया जाता है, वह अकाम्य कर्म है। कर्म ब्रह्मा आदि सभी जीवों के लिए काम्य है। लेकिन, ब्रह्मा, वायु, सरस्वती और भारती की भगवद्ज्ञान तथा भक्ति से भिन्न और कोई कामना नहीं। ब्रह्मा आदि के भी काम्य कर्म हैं, इसका प्रमाण यह है कि ब्रह्मा का सत्यलोकाधिपत्य, वायु की वायुलोकप्राप्ति आदि प्रारब्ध कर्म का फल है। प्रारब्ध कर्म काम्य के अन्तर्गत है, वह निवृत्त कर्म नहीं। निवृत्त कर्म की सार्थकता अपरोक्ष ज्ञान के उदय में है, लौकिक ऐश्वर्यलाभ आदि में नहीं। किन्तु, ब्रह्मा आदि की कामना इतर पुरुषों की भाँति केवल आत्मभोग के लिए नहीं होती। सत्यलोक आदि के आधिपत्य द्वारा जगत्सृष्टि आदि सम्पादनपूर्वक भगवान् का प्रीति-साधन—यही उनकी कामना का स्वरूप है। ब्रह्मा आदि देवपद का लाभ-रूप जो कर्मफल है, वह भागवत में भी है। भगवान् के आदेश से ही भीम ने काम्यास्त्र स्वीकार किया था। आधिकारिक देवताओं की स्वाधिकार-कामना भगवत्प्रीतिफलक है। एकमात्र भगवान् के ही काम्य कर्म नहीं होते। लेकिन, पुत्र के लिए कृष्ण (और रुक्मिणी) ने रुद्र की जो तपस्या की थी, सुना जाता है, वह लीलावश और दैत्यों को मोहने के लिए। उन्हें अपना कोई प्रयोजन नहीं। ऋषभ तथा नारायण आदि अवतारों में तपश्चर्या का जो वर्णन मिलता है, उसका भी एकमात्र उद्देश्य है विपक्ष-मोहन और सज्जन-शिक्षा। रुद्र आदि का कर्म निषिद्ध कर्म के अन्तर्गत है।[1] उदासीन कर्म परिस्पन्दनात्मक है—यह बहुत प्रकार का है। यह चेतन और अचेतन—दोनों का धर्म है। नित्य और अनित्य-भेद से भी कर्म को दो भागों में बाँटा जा सकता है। नित्य कर्म ईश्वर आदि चेतन का स्वरूपभूत है। सृष्टि, संहार आदि कर्म जैसे ईश्वर के स्वरूपभूत हैं, गमन आदि कर्म भी वैसे ही जीव के स्वरूपभूत हैं—अतिरिक्त नहीं। इसलिए, इस प्रकार का कर्म नित्य है। पर, जीव का स्वरूप-कर्म बन्धनावस्था में अभिव्यक्त नहीं होता, यही विशेष है। कर्म की नित्यता को अनेक दार्शनिक स्वीकार ही

---

१. मध्व-सम्प्रदाय जो घोर शिवद्वेषी और अन्ततः शिव को न्यून बनानेवाला है, वह इसी से खूब समझा जा सकता है। उनके ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इसका स्पष्ट निदर्शन है।

नहीं करते। वे कहते हैं, क्रिया नित्य नहीं हो सकती। ऐश्वरिक क्रिया नित्य होने से सर्वदा सृष्टि, संहार आदि विरोधी क्रियाओं के युगपत् समावेश की प्रसक्ति होती है। गमन भी सदाकालीन होता है। लेकिन, वास्तव में ऐसा नहीं होता। इसके उत्तर में माध्वमतानुयायी कहते हैं : क्रिया मात्र की ही दो अवस्थाएँ हैं—एक अव्यक्त या शक्ति की अवस्था, दूसरी व्यक्त अवस्था। सृष्टिकाल में जो क्रिया अभिव्यक्त होती है, कालान्तर में वह शक्ति-रूप में अवस्थित रहती है। अर्थात्, ईश्वर जब सृष्टि नहीं करते, तब भी उनमें सृष्टि-विषयक क्रियाशक्ति विद्यमान रहती है। विशेषतः, उपनिषद् में ज्ञान और क्रिया को आत्मा का स्वभावसिद्ध धर्म ही कहा गया है। मुक्त पुरुष की गमन आदि क्रियाएँ भी[१] ईश्वर-क्रियावत् नित्य हैं। उस क्रिया की भी उत्पत्ति और विनाश सम्भव नहीं; क्योंकि प्रकृति-सम्बन्ध नहीं होने से उसका उपादान नहीं। देह आदि अनित्य वस्तु को आश्रय करके, जिस क्रिया का उद्‌भव होता है, वह अनित्य क्रिया है। संसारी जीव की चिन्तन आदि क्रियाएँ भी अनित्य हैं—मुक्ति में ये नहीं रहतीं।

मध्वमत में नित्य एवं अनित्य—ये दो प्रकार के सामान्य अंगीकृत हुए हैं। जाति एवं उपाधि भी सामान्य के ही प्रकार-भेद हैं। इस मत के माननेवाले सामान्य को प्रति व्यक्ति में अनुगत कहकर स्वीकार नहीं करते। जीवत्व, देवत्व आदि सभी वस्तुएँ भावी एवं नित्य हैं। ब्राह्मणत्व आदि जातियों को नित्य भी कहा जा सकता है, अनित्य भी। क्योंकि, औपाधिक ब्राह्मणत्व जो शरीरसापेक्ष और अनित्य है, उसकी उत्पत्ति और विनाश दोनों ही हैं। स्वाभाविक ब्राह्मणत्व आदि मुक्तावस्था में भी अनुवर्त्तन करते हैं। गीतातात्पर्य में आचार्य ने कहा है : **विप्रत्वाद्यास्तत्र पुण्याः स्वाभाव्या एव मुक्तिगाः।'** मुक्ति होने पर भी मनुष्य का वर्ण एवं आश्रम-सम्बन्ध रहता है। मुक्ति में जीव को केवल स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति होती है। जीव स्वभावतः पशु, पक्षी, वृक्ष आदि अनेकजातीय है। संसार-अवस्था में उसकी स्वाभाविक स्थिति का व्यतिक्रम होता है। परन्तु, संसारनिवृत्त होने से जिस जीव का जो स्वरूप है, उसे वही मिलता है। इसीलिए, मुक्त जीवों में भी स्थावर, जंगम, मनुष्य विप्र आदि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। इसी तरह, उपाधि भी दो प्रकार की है—नित्य और अनित्य। सर्वज्ञत्व आदि नित्य एवं प्रमेयत्व आदि अनित्य उपाधि के दृष्टान्त हैं।

भेद नहीं रहने पर भी जिस भेद का व्यवहार होता है, उसके निर्वाहक पदार्थ का का नाम **विशेष** है। यह सभी पदार्थों में है; केवल द्रव्य में है, ऐसी बात नहीं। इसकी संख्या अनन्त है। जो विशेष नामक अलग पदार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनका मत भ्रान्त है। गुण एवं गुणी का सम्बन्ध अभेद, भेद अथवा भेदाभेद जो भी स्वीकार किया जाय, सर्वत्र ही विशेष नहीं मानने से संगति नहीं होती। यदि घटरूप गुणी से रूपात्मक गुण का अभेद-पक्ष ग्रहण किया जाय, तो 'घट में रूप है' इत्याकार भेदज्ञान के नाश से

१. **"स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा।" आदि उपनिषद्-प्रोक्त क्रियाएँ ही मुक्त पुरुष की क्रियाएँ है।**

रूप का अविनाश, घट और रूप इन दोनों शब्दों की परस्पर की आवश्यकता, 'लीन घट' यह सहप्रयोग, घट और रूप, इन दो शब्दों की अपर्यायिता, घट का ज्ञान होने पर भी रूपविषयक सन्देह—ये सब अनुभवसिद्ध व्यवहार-वैचित्र्य भेद विना उपपन्न नहीं होते। अतएव, इस वैचित्र्योपपादन के लिए भेदप्रतिनिधि 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना आवश्यक होती है। यह सब अबाधित व्यवहार या प्रत्यय भ्रमात्मक नहीं। इसीलिए, अभेदवादी को भी अगत्या भेद-व्यवहार के निर्वाह के लिए विशेष को अंगीकार करना पड़ता है। उसी प्रकार गुणी और गुण में भेद या भेदाभेद मानने पर भी 'विशेष' स्वीकार्य है।[1] परमात्मा में भी 'विशेष' मानना आवश्यक है। श्रुति में, भगवान् में आनन्द आदि धर्म की प्रसिद्धि है। और, श्रुति में ही स्थानान्तर में आनन्द को ब्रह्म का स्वरूप भी कहा गया है। ब्रह्म और उसके धर्म में भेद और भेदाभेद-पक्ष निन्दित हुआ है। अतएव, ब्रह्म और तद्धर्म, जो श्रुति के मत से अत्यन्त अभिन्न है, यह मानना ही होगा। ऐसे स्थल में भेदव्यवहार विशेष को नहीं मानने से निर्वाह नहीं होता। कहना व्यर्थ है, विशेष भेद नहीं, भेदप्रतिनिधि-मात्र है। एक वस्तु में एक ही विशेष रहेगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस वस्तु में जितना विशेष मानने की आवश्यकता है, उतना माना जा सकता है। परमेश्वर में अनन्त-संख्यक विशेष विद्यमान हैं।[2] विशेष में और अन्य विशेष मानने का प्रयोजन नहीं। विशेष स्व-निर्वाहक है। विशेष दो प्रकार के हैं—नित्य और अनित्य। नित्यद्रव्यगत विशेष नित्य है और अनित्यद्रव्यगत विशेष अनित्य।

विशेषण के सम्बन्धवश विशेष्य का जो आकार है, वही **विशिष्ट** नामक पदार्थ है।[3] यह भी नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार का है। सर्वज्ञत्व आदि गुणविशिष्ट परब्रह्म

---

१. द्रष्टव्य : अनुव्याख्यान (जन्माधिकरण) : मध्वसिद्धान्तसार (पृ० ७–१०): वादावली (पृ० ९७) आदि।

२. यह विशेष पदार्थ, जो वैशेषिकों के 'अन्त्यविशेष' से भिन्न है, वह निस्सन्देह है। वैशेषिक आचार्यों ने नित्य द्रव्य में विशेष को स्वीकार किया है, पदार्थान्तर में नहीं। और, ऐसे प्रति द्रव्य में मात्र एक विशेष माना है, एकाधिक नहीं! वे कहते हैं, अनित्य द्रव्य में गुण, क्रिया आदि भेदनिबन्धन व्यावृत्ति-बुद्धि होती है। परन्तु आत्मा, काल, दिक्, मन, परमाणु, आकाश आदि नित्य द्रव्य में केवल तद्द्रव्यनिष्ठ एक व्यावर्त्तक धर्म या विशेष स्वीकृत होता है। अत्यन्त भिन्न पदार्थ में भी जो भेद-प्रतीति होती है, उसके निर्वाह के लिए माध्वमतवाले भेदप्रतिनिधि विशेष मानते हैं। भेद-प्रतीति जितने प्रकार की हो, उतना संख्यक विशेष मानने में आपत्ति नहीं।

३. इस पदार्थ की सत्ता के बारे में अन्यान्य सम्प्रदाय के दार्शनिक आपत्ति करते हैं। वे कहते हैं, विशेष्य, विशेषण और तत्सम्बन्ध—एतद्व्यतिरिक्त 'विशिष्ट' नामक किसी पृथक् पदार्थ का प्रमाण नहीं है। पहली बात, यदि विशिष्ट कार्य हो, तो उसका उपादानकारण चाहिए। मान लीजिए, 'दण्डी'

नित्य और दण्ड आदि विशेषणविशिष्ट दण्डी आदि अनित्य हैं। अंशातिरिक्त अंशी भी एक अलग पदार्थ है—यह अनुभवसिद्ध है। आकाश आदि नित्यांशी और पट आदि अनित्यांशी हैं। नित्यांशी का अंश जो कार्यारम्भक है, वह कहना नहीं होगा। यदि आकाश को अंशी के रूप में स्वीकार नहीं किया जाय, तो आकाश में विहग आदि की देह की सत्ता और उसके अभाव की उपपत्ति नहीं होती। यह अंशी और अंश, जो कार्य एवं कारण से पृथक् है, उसे अवश्य मानना होगा।

नामक पदार्थ। इसका उपादान केवल दण्ड या केवलमात्र पुरुष है। यह विचार्य है। केवल एक द्रव्य कार्यद्रव्य का उपादान नहीं होता, अतएव केवलमात्र दण्ड या पुरुष उपादान नहीं हो सकता। और, यदि यह कहा जाय कि दण्ड एवं पुरुष दोनों मिलकर कार्यारम्भक हैं, तो आरब्ध कार्य में दण्डत्व और पुरुषत्व, इन दो जातियों के समावेश से जातिसांकर्य दोष होगा। दण्ड आदि के पृथक् उपादानत्व में दो विशेष पदार्थों का स्वीकार अनिवार्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में दो मूर्त्त द्रव्यों की अल्प प्रदेश में अवस्थिति माननी पड़ती है, किन्तु यह संगत नहीं। एक बात और। विशेषण या विशेष्य के द्वारा आरब्ध द्रव्य चेतन भी नहीं हो सकता, अचेतन भी नहीं हो सकता। चेतन नहीं होने का कारण यह कि 'मैं दण्डी', इस प्रकार के अनुभवसिद्ध ज्ञान का अभावप्रसंग हो पड़ता है। ऐसी आपत्तियों के उत्तर में माध्वमतवाले कहते हैं कि 'विशिष्ट' पदार्थ का स्वातन्त्र्य स्वीकार किये बिना उपाय नहीं। 'दण्डी', इस विशिष्ट व्यवहार का मूल विशिष्ट ज्ञान अवश्य ही है, यह मानना होगा। इस विशिष्ट ज्ञान का जो विषय है, वही 'विशिष्ट' पदार्थ है। दण्ड, पुरुष और उसके सम्बन्ध में ज्ञान के द्वारा विशिष्ट व्यवहार का उपपादन नहीं किया जा सकता। वह समूहावलम्बन ज्ञान है। दण्ड आदि बहुत हैं, उनके द्वारा एकत्वोल्लेखी प्रत्यय नहीं हो सकता। 'पुरुषगत ऐक्य का भान होता है', यदि यही कहा जाय, तो प्रश्न यह होता है कि ज्ञान के विषय जैसे दण्ड आदि बहु हैं, वैसे ही पुरुष एक है। अतएव, ज्ञान के बहुत्व का भान न होकर केवल ऐक्य का भान होने का कारण क्या है? और, यदि पुरुषनिष्ठ एकत्व ही प्रतीति का विषय हो, तो 'एक पुरुष' ज्ञान का ऐसा आकार होन चाहिए। 'दण्डी' ही यदि न रहे, तो वहाँ अन्यगत एकत्व के भान की ही क्या सम्भावना है? प्रतियोगी के भेद से अत्यन्ताभाव का भेद स्वीकृत होता है। तदनुसार, दण्डाभाव का प्रतियोगी पुरुष भी नहीं, दण्ड भी नहीं, परन्तु दोनों से अलग दण्डी नामक 'विशिष्ट' पदार्थ है। विशिष्ट पदार्थ का उपादान विशेष्यसन्निधाननिमित्तक विशेषण अथवा विशेषणसन्निधाननिमित्तक विशेष्य है। विशेष्यविशेषण एक होने पर भी उसकी आरम्भकता है। केवल दीर्घ तन्तु द्वारा भी

शक्ति भी पृथक् पदार्थ है। यह चार प्रकार की है। यथा : अचिन्त्यशक्ति, आधेय-शक्ति, सहजशक्ति एवं पदशक्ति। अचिन्त्यशक्ति एकमात्र परमेश्वर में ही पूर्णरूप से विराजमान है, अन्यत्र वह आपेक्षिक-मात्र है। यह अघटितसंघटनापटीयसी है। इस शक्ति-निबन्धन परमात्मा में ही युगपत् आसीनत्व और दूरगामित्व, अणुत्व और महत्त्व आदि सारे विरोधी धर्मों का समावेश सम्भव होता है। इस अचिन्त्यशक्ति का ही दूसरा नाम ऐश्वर्य है।

कार्यमात्र की अनुकूल शक्ति ही सहजशक्ति है। इसका नामान्तर स्वभाव है। दण्ड आदि में घट आदि कार्य के अनुकूल अतीन्द्रिय शक्ति की सत्ता को स्वीकार करना होता है। सहजशक्ति पदार्थ-मात्र में ही है। नित्य पदार्थ में जो शक्ति है, वह नित्य है; अनित्य पदार्थ में जो है, वह अनित्य है। आधेयशक्ति स्वाभाविक नहीं, वह आहित है। प्रतिष्ठा आदि के द्वारा प्रतिमा आदि में अविद्यमान देवता-सन्निधान उत्पन्न होता है, यह आधेयशक्ति का दृष्टान्त है।[1] पद एवं पदार्थ के वाच्यवाचकसम्बन्ध का नाम पद-शक्ति है। यही स्वाभाविक सम्बन्ध है। यह केवल स्वर, ध्वनि, वर्ण, पद एवं वाक्यगत है। पदशक्ति दो प्रकार की है—मुख्य और परममुख्य। सभी शब्द की परमात्मा में परममुख्य वृत्ति और अन्यत्र मुख्य वृत्ति होती है।

सादृश्य भी माध्वमत से पृथक् पदार्थ है। यह भी दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। प्रागभाव, ध्वंस, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—ये अभाव के चार प्रकार हैं। अन्योन्याभाव पदार्थस्वरूप है, भेद के अतिरिक्त नहीं। जिस अभाव का प्रतियोगी अप्रामाणिक है, वही अत्यन्ताभाव है।

द्रव्यविभाग :

पदार्थ-समुद्देश्य में द्रव्य का स्थान प्रधान है। वैशेषिकों के द्रव्य नौ प्रकार के हैं, मध्वदर्शन में बीस प्रकार के द्रव्य हैं। दो विवादशील वस्तुओं में जो द्रवण प्राप्य है, वही

पट आरम्भ हो सकता है। एकमात्र द्रव्य जैसे गुण का उपादान है, वैसे ही वह द्रव्य का भी उपादान हो सकता है। असमवायिकारण सभी कार्यों का रहेगा, इसका भी कोई नियम नहीं। सृष्टि के प्रारम्भ में परमाणुगत क्रिया का कोई असमवायिकारण नहीं। और, यदि वह नियम मानना ही हो, तो विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध को ही उक्त प्रकार की कारण-श्रेणी के अन्तर्गत किया जा सकता है। (द्रष्टव्य : मध्वसिद्धान्तसार)।

१. कामिनी के पदस्पर्श से अशोकवृक्ष में असमय फूल का खिलना, माघ महीने के भूमिकर्षण से पाकजरूप परम्परा-क्रम से हैमन्तिक शस्य की उत्पत्ति, औषधलेपन द्वारा कांसे के पात्र का धावन, धूम आदि वासना द्वारा मालतीलता में कुसुमोदय, यह सब आधेयशक्ति का निदर्शन है।

द्रव्य है।[1] जिसका परिणाम होता है, या जिस रूप में परिणाम होता है, उसे भी द्रव्य कहा जा सकता है। बीस प्रकार के द्रव्य का जो पहले उल्लेख किया गया, उनमें प्रकृति शब्द से केवला प्रकृति, ब्रह्माण्ड, अन्धकार, वासना, काल एवं प्रतिबिम्ब केवला विकृति, महत् आदि तत्त्वनिचय, प्रकृति-विकृति एवं परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश और वर्ण अभिव्यंजक मात्र हैं। परमात्मा आदि प्रकृति भी नहीं, विकृति भी नहीं। अभिव्यंजक द्रव्य-समूह में परमात्मा अनन्त अवतार का, लक्ष्मी भी उसी प्रकार सीता, रुक्मिणी आदि अवतारावली का, सांश जीव अंश का एवं निरंश जीव पराधीन शरीर आदि का व्यंजक है। उसी प्रकार अव्याकृत आकाश और वर्ण में व्यंजकता है—आकाश पराधीन मूर्त्त सम्बन्धरूप विशेषयुक्त होकर अभिव्यक्त होता है और वर्ण-वर्णान्तर की व्यंजना करता है।

परमात्मा :

परमात्मा अनन्त गुणों से पूर्ण हैं। उनका प्रत्येक गुण ही अवधिहीन एवं निरतिशय है, इसलिए पूर्ण हैं। वह कैसी वस्तु हैं, यह नहीं कहा जा सकता, सोचा भी नहीं जा सकता। लक्ष्मी आदि के ज्ञान आदि से परमात्मा का ज्ञान, आनन्द आदि अनन्तगुना अधिक हैं। उनका प्रत्येक गुण ही अनन्त है। यही उनका सजातीयानन्त्य है। और फिर, ज्ञान, आनन्द, बल, शक्ति आदि अनन्त हैं, इसलिए उनमें विजातीय आनन्त्य भी है। उनमें श्रुत, अश्रुत, विरुद्ध, सभी गुण नित्य विराजमान हैं।[2] लक्ष्मी का ज्ञान वहुल, अत्यन्त विशद एवं स्पष्ट है, परन्तु परमात्मा का ज्ञान महाशुद्ध चैतन्यस्वरूप है—यह अशेष विशेष का स्पष्ट दर्शनात्मक, नित्य एकप्रकार, सूर्यप्रभावत् निरन्तर अखिल वस्तु का प्रकाशक, निर्लेप, वीतदोष तथा सर्वदा विकारहीन है।

लक्ष्मी के ज्ञान में विशेष भान नहीं होता, ब्रह्मा के ज्ञान में स्पष्टता नहीं। अन्यान्य मुक्त पुरुषों का ज्ञान समुद्रतरंग के सदृश है। वास्तव में, ऐश्वरिक ज्ञान जैसी पूर्णता दूसरे किसी भी ज्ञान में नहीं। ऐश्वरिक आनन्द आदि को भी ऐसा ही अपरिमित समझना होगा। परमात्मा निरन्तर सृष्टि आदि आठ प्रकार के कार्य करते हैं।[3] वह सर्वज्ञ हैं।

---

१. द्रव्यं तु द्रवणप्राप्यं द्वयोर्विवदमानयोः।
पूर्वं वेगाभिसम्बन्धाद्वाकाशस्तु प्रदेशतः ॥ (भागवत)

इसलिए, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, काल और वर्ण व्यापक होने से भी प्रदेशतः गमनप्राप्य होने के नाते द्रव्यपदवाच्य हैं।

२. द्रष्टव्य : 'गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्त्यश्रुता अपि' इत्यादि। परम मुख्य वृत्ति में वही सभी शब्दों के वाच्य हैं, इसीलिए सब प्रकार के पद की प्रवृत्ति के निमित्त हैं, इसी कारण उन्हें सभी गुणों से पूर्ण कहा जाता है। अणुभाष्य में है : "अवान्तरकारणं च प्रकृतिः शून्यमेव च। इत्याद्यन्यत्र नियतैरपि मुख्यतयोदितः। शब्दैरतोऽनन्तगुणो यच्छब्दा योगवृत्तयः॥'

३. शैव और शाक्त आगम में परमेश्वर को पंचकृत्यकारी कहा गया है।

सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, अज्ञान या आवरण, बोधन, बन्ध और मोक्ष—इन आठ प्रकार के कार्यों में एकमात्र परमात्मा के सिवा दूसरे किसी भी चेतन पुरुष को अधिकार नहीं। प्रकृति आदि जड पदार्थ, ब्रह्मा आदि जीव एवं स्वयं महालक्ष्मी से भी परमात्मा का जो वैलक्षण्य है, उसे कहना नहीं होगा। उनके देह है, इसलिए उनका जगत्-सृष्टि आदि का कर्त्तृत्व अनुपपन्न नहीं होता। किन्तु, उनकी देह बद्ध जीव की सुपरिचित जड देह की भाँति अनित्य नहीं है। वह ज्ञानानन्दात्मक और अप्राकृत है—इसीलिए नित्य है। उनका मस्तक, मुख, भुजा, उँगली आदि सारे अवयव ही चिदानन्दमय हैं।[1] वह स्वतन्त्र हैं, जीव परतन्त्र। वह एकमात्र हैं; क्योंकि उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं, इसीलिए कोई उनकी समानता नहीं पा सकता, अभेद तो दूर की बात है। चेतन होने पर भी जीव नित्य परतन्त्र ही रहता है। स्वातन्त्र्य या पारमैश्वर्य-लाभ उसके लिए असम्भव है, अतएव उसकी आशा करना भी धृष्टता ही है। परमेश्वर अनन्तरूप हैं, पर निरंश होने के कारण जीव एकरूप है। उनका प्रतिरूप ही सर्वगुणपूर्ण है—जीव की भाँति उनके रूप में कोई विशेष नहीं। वह अवतार-रूप चिदानन्दमय और पूर्ण हैं। मूलरूप और आविर्भूत रूप—दोनों में गुणतः या स्वरूपतः कोई भेद नहीं। उनमें देश, काल और गुणगत परिच्छेद नहीं है, इसलिए उनके प्रत्येक रूप में ही यह त्रिविध आनन्त्य वर्त्तमान रहता है। उनसे उनके अवतार (मत्स्य आदि), अवयव (कर, चरण आदि), गुण (ज्ञान, आनन्द आदि) एवं क्रिया (सृष्टि आदि) का कोई प्रभेद नहीं। विद्या, अविद्या, त्रिगुण, देहोत्पत्ति, सुख-दुःख—यह सब उनकी इच्छा के अधीन है, इसलिए वह नित्यमुक्त हैं। उनकी देह अप्राकृत है, यह पहले ही कहा जा चुका है। केवल यही नहीं, वह अन्याभिमानहीन प्राकृत शरीर में वास ही नहीं करते। परन्तु, ब्रह्मा आदि जीवमात्र की ही प्राकृत देह में जो उनका अधिष्ठान है, वह उनके नियामक या अन्तर्यामी रूप में। उन सबकी प्राकृत देह के अभिमानी ब्रह्मा आदि जीव हैं। इसीलिए, वहाँ भगवान् का अधिष्ठान असंगत नहीं। प्राकृत देह में स्थिति जीव की ही होती है, इसीलिए शास्त्र में, बहुत स्थलों में भगवान् को देहविहीन भी कहा जाता है। मध्वमतानुयायी कहते हैं, वहाँ देहविहीन शब्द से 'प्राकृत देह-रहित'—यही अर्थ समझना उचित है। लक्ष्मी के बारे में भी यही समझना होगा। इसीलिए, सीता ने स्वसृष्ट आत्म-प्रतिकृति में स्वयं प्रवेश नहीं किया, स्वांश (इन्द्र) को ही प्रवेश कराया था।

---

१. तस्मादानन्दचिद्देहं चिदानन्दशिरोमुखम्।
चिदानन्दभुजं ज्ञानसुखैकपदसाङ्गुलिम्॥
आकेशादानखाग्रेभ्यः पूर्णचित्सुखशक्तिकम्॥ (बृहद्भाष्य)

श्रीकृष्णावतार में प्राकृत देह त्याग कर वैकुण्ठ जाने की जो बात है, वह वस्तुतः श्रीकृष्णदेह नहीं, अपितु असुर-मोहन के लिए तत्काल कल्पित देह है। वास्तव में, श्रीकृष्ण ने देहत्याग नहीं किया।

लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न एवं एकमात्र परमात्मा के ही अधीन हैं। ब्रह्मा आदि लक्ष्मी के पुत्र हैं, उन्हीं से उत्पन्न और प्रलयकाल में उन्हीं में लीन होते हैं। अतएव, ब्रह्मा आदि जो परमात्मा की भाँति लक्ष्मी के भी अधीन हैं, यह स्वीकार्य है। परमात्मा के कटाक्षबल से बलवती होकर लक्ष्मी अपांग-लव-मात्र में विश्व की सृष्टि आदि अष्टविध कार्य का सम्पादन करती हैं। भगवत्प्रियता, भगवद्भक्ति तथा भगवद्ज्ञान के विषय में लक्ष्मी मुक्त जीवों से भी करोड़-गुनी श्रेष्ठ हैं। माध्वमतवाले कहते हैं, जगत् के प्रलयकाल में मनुष्य यम में लीन होता है, यम सुदर्शन में, सुदर्शन रुद्र में, रुद्र ब्रह्मा में एवं ब्रह्मा दुर्गा में लीन होते हैं। ब्रह्मा का प्रलय हो जाने से दुर्गा चक्ररूपिणी होकर वर्त्तमान रहती है। भगवान् की भाँति लक्ष्मी भी नित्यमुक्त एवं गुणपूर्ण हैं। परन्तु, नित्यमुक्त और आप्तकाम होकर भी वह सदा भगवान् की उपासना करती हैं। वह स्वभावतः हरिभक्ति-परायण मुक्त भक्तों की आदर्श-स्वरूपा हैं। भगवान् और लक्ष्मी अनादिनित्य और अनादिमुक्त हैं। सर्वगुणपूर्ण होने के कारण लक्ष्मी भी 'सर्व' शब्द से वाच्य हैं, किन्तु मुख्य भाव से नहीं।

भगवत्प्रकृति जड और अजड भेद से दो प्रकार की है। उनमें जड प्रकृति अवरा एवं अजड प्रकृति चित्स्वरूपा और परा है। जड प्रकृति अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध है। इसके आठ भेद हैं। चित्-प्रकृति अनादि, अनन्त, साक्षात् नारायण-महिषी, ब्रह्मदेव की प्रसूति श्री है। परमात्मा आत्माराम होते हुए भी लक्ष्मी के प्रति अनुग्रहपूर्वक उनमें स्वस्त्री-रूप में प्रविष्ट होकर रूपान्तर से क्रीडा करते हैं।[१] श्री, भू, दुर्गा, ह्री, दक्षिणा, सीता, जयन्ती, भृणी, सत्या, रुक्मिणी आदि सब लक्ष्मी के रूप हैं। लक्ष्मी की मूर्त्ति वस्तुतः अनन्त है, परन्तु अनन्त होते हुए भी उनमें दक्षिणामूर्त्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। उससे जो सुखोदय होता है, उसमें वैशिष्ट्य रहता है। दूसरी देवियाँ जैसी सर्ववेदाभिमानिनी हैं, लक्ष्मी भी वैसी ही वेदाभिमानिनी हैं, परन्तु यह समस्त देवी-वर्ग से ऊपर हैं। यह भगवान् के ऊरुस्थल में स्थित हैं, यज्ञनामधारिणी हैं, भगवान् के साथ नित्य रतिसुख में निमग्न दक्षिणामूर्त्ति हैं। भगवान् के सम्भोग से पहले इन्हीं में सुखोदय होता है, उसके बाद दूसरी-दूसरी देवियों में उस सुख का संचार होता है। भगवान् की भाँति इनकी देह भी अप्राकृत चिन्मय, नित्य एवं ह्रानोपादान-रहित हैं। यह भी देशतः और कालतः व्यापक और अनन्त हैं, पर इनमें गुणगत आनन्त्य नहीं है।

---

१. आचार्य-कृत ऐतरेय-भाष्य में लिखा है : "प्रादुर्भावस्थितं रूपं यच्च भूमौ पुमात्मकम्। विष्णोस्तदपि देवीषु स्थितं स्त्रीरूपकात्मना॥ एवमन्योन्यतो विष्णुरतः स्वस्मिन्न वान्यतः। रमया रममाणोऽपि तत्स्थेनैव स्त्रियात्मना। रमते नान्यतः क्वापि रतिर्विष्णोः सुखात्मनः। रमया रमणं तस्माद् रमाया रतिपात्रता॥ नैवास्या रतिदातृत्वं विष्णोर्न ह्यन्यतो रतिः॥" आचार्य के इस वर्णन से ज्ञात होता है कि आनन्दात्मक भगवान् लक्ष्मी के साथ क्रीडाच्छल से भी उनमें अवस्थित अपने रूप से ही विहार करते हैं।

जीव :

जीव अज्ञान, दुःख, भय, मोह आदि दोषों से युक्त एवं संसारी है। यहाँतक कि ब्रह्मा एवं वायु या प्राण भी इन सबके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते। कहा गया है कि अज्ञान ने चार बार, भय ने दो बार और शोक ने दो बार ब्रह्मा पर आक्रमण किया था।[1] परन्तु, रुद्र आदि में भय आदि जैसा स्थायी है, ब्रह्मा में वैसा स्थायी नहीं है, इतना ही अन्तर है।[2] और एक बात। ब्रह्मा में जो मोह है, वह मिथ्या ज्ञान नहीं, केवल नियत अपरोक्ष ज्ञान का अभाव-मात्र है।

जीवों की संख्या अनन्त है। तत्त्वनिर्णय में है—अतीत, अनागत जितने क्षण हैं, अतीत अनागत जितने परमाणु हैं, जीवराशि उससे भी अनन्तगुनी है। प्रति परमाणु-प्रदेश में भी अनन्त प्राणी हैं। जीवसंख्या, जो सिर्फ व्यक्तिगत भाव से अनन्त है, वह नहीं, 'गण'-गत भाव में भी वही है। यह गण त्रिविध है—मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी एवं तमोयोग्य। मुक्त तथा अन्धतमस्-प्राप्त जीव-सहित जीव के पाँच प्रकार के गण मान लिये जाते हैं। मुक्तियोग्य जीव पाँच प्रकार के हैं। जैसे : ब्रह्मा, वायु आदि देवता, नारद आदि ऋषि, विश्वामित्र आदि चिरपितृगण, रघु, अम्बरीष आदि चक्रवर्त्ती तथा उत्तम मनुष्य। उत्तम मनुष्यों में कोई-कोई एकगुणोपासक, कोई-कोई चतुर्गुणोपासक हैं। केवल आत्मबोध से ईश्वर की जो उपासना है, वह एकगुणोपासना है। बहुतेरे ऐसी उपासना के द्वारा देह रहते ही मुक्तिलाभ करते हैं। उनका उत्क्रमण नहीं होता। तृणजीव (स्तम्भ) आदि एकगुणोपासक श्रेणी में आते हैं। ईश्वर का सत्, चित्, आनन्द और आत्मारूप में जो उपासना की जाती है, वही चतुर्गुणोपासना है। तृणजीव के सिवा सभी चतुर्गुणोपासक हैं। मध्यम मनुष्य नित्यसंसारी हैं। ये निरन्तर पृथ्वी, स्वर्ग और नरक में घूमते हुए सुख-दुःख भोगते हैं। इनकी संख्या भी अनन्त है। दैत्य, राक्षस, पिशाच और अधम मनुष्य—ये तमोयोग्य जीव हैं। जीवमात्र ही परस्पर भिन्न एवं परमात्मा और लक्ष्मी से पृथक् हैं। संसार-अवस्था में, यहाँतक कि मुक्ति हो जाने पर भी जीव में तारतम्य रहता है। क्योंकि,

---

१. विष्णु की सूक्ष्मा प्रकृति, जो श्री, भू, दुर्गा आदि विभिन्न नामों से आख्यात होती हैं, वही ब्रह्मा आदि की भयदायिनी हैं। यह एकमात्र विष्णु की ही वशीभूत हैं। मृत्यु या अव्यक्त इन्हीं का नामान्तर है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में है : "सर्वे विमोहितधियस्तव माययैव ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः।" यहाँ, ब्रह्मा आदि भी जो भगवान् की माया से मोहित होते हैं, वह भी स्पष्ट कहा गया है।

२. मध्वमतानुयायी कहते हैं, रुद्र आदि अज्ञान में ही अवस्थित हैं; ब्रह्मा का अज्ञानसम्बन्ध सामयिक है। पंचभूत से अविद्या का उद्धार करके भगवान् ने जब ब्रह्मा में निक्षेप किया था, तभी एकमात्र उन्हें अज्ञान-सम्बन्ध हुआ था। ब्रह्मा ने तुरत ही उस अज्ञान को बाहर निकालकर फेंक दिया था।

यह स्वभावसिद्ध है। मोक्ष योग्य जीवों में स्थावर का स्थान सबसे नीचे है। उसके बाद ही पशु, पक्षी आदि जंगम जीव हैं। उसके बाद मनुष्य का स्थान है। मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। चक्रवर्त्ती का स्थान ब्राह्मण से भी ऊपर है। बहुत स्थलों में चक्रवर्त्ती को अधम देव या उत्तम मनुष्य के रूप में वर्णित किया गया है। चक्रवर्त्ती मुक्त मनुष्य ब्रह्मानन्द का बिन्दुमात्र भागी है। चक्रवर्त्ती में ब्रह्मानन्द का जितना प्रकाश होता है, उसे 'मान' मानकर अन्यान्य स्तरों के आनन्द का परिमाण आँका जाता है। इसीलिए, चक्रवर्त्ती एकानन्दस्वरूप है। इसके बाद क्रम से मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व चिरपितृगण, आजानजदेव, कर्मजदेव आदि की अवस्थिति है। देवगन्धर्व देवों द्वारा स्वमुख से आज्ञापित होते हैं। सिद्ध, चारण, किन्नर, किम्पुरुष, विद्याधर, यक्ष, नाग, बेताल आदि देवगन्धर्व के समकक्ष हैं। चिरपितृगणों में विश्वामित्र, ब्रह्मपुत्र वशिष्ठ आदि के समान हैं। आजानजदेव देवों के भृत्यों के समान हैं। कार्त्तवीर्य, पृथु, दुष्यन्तपुत्र भरत, शशबिन्दु, मान्धाता, ककुत्थ आदि कर्मजदेवता की श्रेणी में हैं। ये सदा भगवदाविष्ट रहते हैं। पुराण आदि में बलि-अद्‌भुत, शम्भु, विधृत, ऋतुधामा, बृहस्पति, शुचि, इन सात कर्मदेवताओं का उल्लेख मिलता है। सप्त पिता, नौ करोड़ देवता, पावक, प्रह्लाद, तापस स्वायम्भुव और वैवस्वत मनु के अलावा एकादश मनु, च्यवन और उतथ्य ऋषि, प्रियव्रत और गयराजा, तुम्बरु (गन्धर्वराज), धृतराष्ट्र, चित्ररथ, हाहा, हूहू आदि आठ गन्धर्व; उर्वशी, मेनका, घृताची, रम्भा आदि ९२ अप्सराएँ — ये सब जीव कर्मज देवता की समभूमि में हैं। सनक आदि भी इसी स्तर में हैं। जीवगत यह तारतम्य स्वाभाविक होने के कारण मुक्ति में भी निवृत्त नहीं होता[1] तार्किक मत से सभी मुक्त आत्माएँ समान हैं; क्योंकि इक्कीस प्रकार के दुःखों का ध्वंस ही मुक्ति है, यह सबके ही हुआ है। परन्तु, परमात्मा सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता हैं, इसलिए सर्वोत्तम हैं। रामानुज-मत से भी ब्रह्मा आदि जीवगत तारतम्य केवल संसार-अवस्था में है — मुक्तावस्था में जीव सभी परस्पर और परमात्मा से अंशतः साम्यविशिष्ट हैं। श्री-सम्प्रदाय में भी तारतम्यवाद नहीं है, ऐसी बात नहीं। परन्तु, मध्व-सम्प्रदाय का मत इतना व्यापक रूप में नहीं।

---

१. मुक्तजीव-मात्र ही निर्दोष हैं। परन्तु, मुक्तों के भी काम, संकल्प और आनन्द में तारतम्य है। यदि यह नहीं होता, तो मुक्त जीव मंगल-अनुष्ठान क्यों करते हैं? द्रष्टव्य :

योगिनां भिन्नलिङ्गानामाविर्भूतस्वरूपिनाम् ।
प्राप्तानां परमानन्दं तारतम्यं सदैव हि ॥

(आचार्य-कृत गीताभाष्य)

पर, मुक्त पुरुषों की साम्यप्राप्ति की बात जो शास्त्र में मिलती है, उसका तात्पर्य यह है कि सभी मुक्त पुरुष में दुःखाभाव, परमानन्द और लिंग-भेद समान रूप से ही होता है। पर, ज्ञानभेद से इस परमानन्द के आस्वादन में तारतम्य होता है।

अव्याकृत आकाश :

वैशेषिक जिसे दिक् कहते हैं, माध्वों का अव्याकृत आकाश बहुत कुछ वही है।[१] सृष्टि अथवा प्रलय के समय इसका किसी प्रकार का विकार नहीं होता। यह साक्षिगोचर तथा प्रदेशपदवाच्य है। इसकी उत्पत्ति भी नहीं, विनाश भी नहीं, इसलिए यह नित्य है। यह एक, व्याप्त और स्वगत है। तामस अहंकार से जो आकाश उत्पन्न होता है, वह भूताकाश है, अव्याकृत आकाश नहीं। इसके पूर्व, दक्षिण आदि स्वाभाविक अवयव हैं। तार्किक लोग जो सूर्योदय-स्वरूप उपाधि द्वारा दिक् में पूर्व आदि व्यवहार का उपपादन करते हैं, उससे अनेक दोष का प्रसंग होता है। पूर्व आदि विशिष्ट दिक् उपाधिनिमित्तक होने से अँधेरे में विशिष्ट दिक् की प्रतीति नहीं होती। विशिष्ट दिक् की प्रतीति के विना मूर्त्तान्तरावष्टब्ध भाग त्याग करके कोई दूसरे भाग में हाथ नहीं पसारता। विशिष्ट दिक् का भान जब अन्धकार में भी होता है, तब अन्धकार में भी पूर्वत्व आदि का बोध भी होता है। इसलिए, पूर्वत्व आदि भी औपाधिक नहीं है। एक बात और। जहाँ सूर्योदय आदि उपाधि नहीं हैं, वहाँ भी बहुत स्थलों में पूर्व आदि व्यवहार देखा जाता है। वैकुण्ठ और अनन्तासनस्थ परमात्मा के नगर, दोनों के ही पूर्व आदि भाग में जय आदि और प्राण आदि द्वारपाल हैं, यह सुना जाता है। किन्तु, वहाँ सूर्योदय नहीं है। क्योंकि, श्रुति में है : **'सकृद् दिवा ह्यस्य भवति।'** वैकुण्ठधाम के मुक्त जीव का नित्य ही दिन है। उनके प्रकाश का आविर्भाव अथवा तिरोभाव नहीं। वहाँ अन्धकार रह नहीं सकता। भगवान् के तेज एवं लक्ष्मी-स्वरूप माणिक्य आदि के तेज से भगवत्-धाम नित्य उज्ज्वल है। भगवान् का प्रकाश अनन्त सूर्य के प्रकाश से भी अधिक है। शेषनाग के मूर्धस्थ रत्न की भी प्रकाशकता है। और, सूर्योदय के विना भी भगवद्देह पूर्व आदि भाग के कर में शंख आदि धारण की बात मिलती है। भगवत्स्वरूप जो चन्द्र, सूर्य, तारा आदि की ज्योति से प्रकाशमान होता है, वह भी श्रुति में स्पष्ट ही कहा गया है। चौदह भुवन उत्पन्न होने के पहले ही परमात्मा के नाभिकमल-स्थित ब्रह्मा ने चारों ओर निहारकर मुखचतुष्टय पाया था—यह भागवत में है।[२] उस समय सूर्योदय की सम्भावना ही नहीं थी। अतएव, प्रकृत सिद्धान्त यह है कि सूर्योदय-दर्शन से कभी-कभी ही दिग्भ्रम दूर होता है। पिता-पुत्र की भाँति पूर्व आदि भाग सापेक्ष हैं, इसलिए किसी के लिए जो पूर्व है, वह सबके लिए पूर्व ही होगा, यह सम्भव नहीं।

अव्याकृत आकाश नहीं मानने से जगत् 'मूर्त्त-निबिड' ही पड़ता है। श्रुति में आकाश की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति—दोनों ही प्रकार का वर्णन मिलता है। एक वस्तु में वह सम्भव नहीं होता। इसीलिए, द्विविध आकाश स्वीकार करना पड़ता है। अव्याकृत

---

१. न्यायसुधा में है : 'साक्षिसिद्धमेव गगनं तद्भागा एव दिशो न द्रव्यान्तरम्।'

२. तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायामवस्थितो लोकमपश्यमानः।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्रश्चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ॥

आकाश, जो प्रदेश या अवकाश (स्पेस)-मात्र है, वह पहले ही कहा जा चुका है। इसकी उत्पत्ति स्वीकार करने से उसके पूर्वप्रदेश के अभाव के कारण मूर्त्त पदार्थ की निबिडता हो जाती। भूताकाश की उत्पत्ति के भी पहले अव्याकृत आकाश की सत्ता अवश्य स्वीकार्य है। साक्षी ही उसका प्रमाण है। अव्याकृत आकाश नीरूप, कूटस्थ, नित्य, साक्षीसिद्ध, विभु और निष्क्रिय है, परन्तु भूताकाश रूपयुक्त, पंचभूत से आविष्ट देहाकार में विकारशील है, तामसाहंकार का कार्य परिच्छिन्न और गतिशील है।

इस अव्याकृत आकाश का अभिमानी ब्रह्मा भी नहीं, परमात्मा भी नहीं, किन्तु लक्ष्मी हैं। ब्रह्मा इसलिए नहीं कि प्रलय में ब्रह्मा नहीं रहते, पर आकाश रहता है। परमात्मा नहीं; क्योंकि उन्हें कुछ में भी अभिमान नहीं। अभिमान विना अभिमान्यमान पदार्थ नहीं रह सकता।

प्रकृति और गुणत्रय :

साक्षात् अथवा परम्परा से जो विश्व का उपादान है, वही प्रकृति है। प्रकृति साक्षात् रूप में काल और सत्त्व आदि गुणत्रय का उपादान एवं परम्परा से महत् आदि तत्त्वों का भी उपादान है। उपादान है, इसलिए वह द्रव्य है। प्रकृति त्रिगुण से अतिरिक्त, जडरूपा, परिणामिनी, नानारूपा, महाप्रलय के बाद नई सृष्टि का उपादानभूत होने के नाते नित्य और क्षण, लव आदि काल का उपादान होने के कारण व्यापक है। इसकी अभिमानिनी रमा है। जीवमात्र का ही जो लिंगशरीर है,[1] उसी की समष्टि प्रकृति है—और प्रकृति लिंग-शरीर-भिन्न भी है। लिंगशरीर-भिन्न प्रकृति के अंश से त्रिगुण की सृष्टि होती है। महा-प्रलय में प्रकृति अकेली रहती है। उस समय भगवान् सृष्टि के इच्छुक होकर महत् आदि की सृष्टि के लिए प्रकृति को सत्त्वराशि, रजोराशि और तमोराशि, इन तीन भागों में विभक्त करते हैं। तम से रज परिमाण में दुगुना है और रज से सत्त्व भी परिमाण में दुगुना है। तमोगुण का परिमाण महत्तत्त्व से दसगुना है। महत्तत्त्व के चारों ओर यह दसगुनी तमोराशि घेरे हुए है। इसे अनेक ग्रन्थों में गुणत्रय की साम्यावस्था कहा गया है, परन्तु वास्तव में यह त्रिगुण नहीं। गरुड और रुद्र इस तमोव्याप्त देशस्थ विष्णु-स्वरूप को प्रत्यक्ष करते हैं।[2]

मूला प्रकृति से जब त्रिगुण की उत्पत्ति होती है, तब पहले रज और तम द्वारा अमिश्रविशुद्ध-सत्त्वगुण उत्पन्न होता है। परन्तु, रजोगुण और तमोगुण क्रमशः सत्त्वतम और सत्त्वरज द्वारा मिश्रित रूप में उत्पन्न होता है, मिश्रण का अनुपात यह है—रजोगुण में रज १, सत्त्व १०० और तम १/१००; तमोगुण में तम १, सत्त्व १० और रज १/१०। गुण-समूह के इस वैषम्य को ही सृष्टि कहते हैं। साम्यावस्था प्रलय है। अतएव, सत्त्व सदा ही

१. सभी जीव के देह हैं, नहीं तो परमात्मा जैसा नित्यमुक्त होने से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती। सृष्टि आदि प्रवाह नित्य है। इसलिए, स्थूलदेहव्यापक सूक्ष्म शरीर स्वीकार्य है। यही लिंगदेह या प्रकृति है।

२. 'गिरिशो गरुडश्चैव तमोमात्रगतं हरिम्। पश्यतः।' (अनुव्याख्यान)

शुद्ध, तम और रज इतर गुणद्वय में मिश्रित है। मुक्त पुरुष लीलावश शुद्धसत्त्वमय देह-ग्रहण और उसके द्वारा पर्याप्त भोग-सम्पादन करके स्वेच्छा से उसका त्याग करते हैं। वह देह रज और तमोगुण में मिश्रित सत्त्वगुण से घटित नहीं होने के कारण उन्हें भोगजन्य बन्धन नहीं होता। यह लीलाविग्रह है। यह भी प्राकृत देह है।[1] कोई-कोई कहते हैं,मुक्तजीव भी पांचभौतिक देह से भोग कर सकते हैं। उससे बन्धन नहीं होता या हमलोगों की भाँति सुख-दुःख नहीं होता; क्योंकि वह देह कर्मजन्य नहीं, केवल स्वेच्छा-परिगृहीत है।

महत्तत्त्व-अहंकार-बुद्धि-मन :

महत्तत्त्व का उपादान साक्षात् भाव से त्रिगुण का अंश है। त्रिगुण का सारा-का-सारा महत्तत्त्व-रूप में परिणत नहीं होता। क्योंकि, मूला प्रकृति महत् से दसगुनी अधिक है। एक बात और—प्रलय के समय महत् त्रिगुण में लीन होता है। उस समय वह बारह भागों में विभक्त होता है—उसका १० भाग शुद्ध सत्त्व में, १ भाग रज में और १ भाग तम में प्रवेश करता है। सृष्टि के समय शुद्धसत्त्व का १० भाग और रज का १ भाग तमोगुण में मिश्रित होता है। इसका परिमाण तमोगुण से दसगुना कम है। ब्रह्मा, वसु और उनकी भार्याएँ महत् में अभिमानशील हैं। इस तत्त्व के तम के अंश से अंहकार उत्पन्न होता है। उसमें जिस परिमाण में रजोगुण रहता है, उसका १० भाग सत्त्वगुण और दशमांश तमोगुण मिला रहता है। गरुड, शेष, इन्द्र, काम, रुद्र आदि और उनकी पत्नियाँ अंहकार-तत्त्व में अभिमानशील हैं। अंहकार के तीन भेद हैं— वैकारिक, तैजस और तामस। बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व से उत्पन्न होता है और तैजस अंहकार द्वारा उपचित होता है। ब्रह्मा आदि से उमा तक देवता इसके अभिमानी हैं। ज्ञानरूपा बुद्धि गुणविशेष है। यह तत्त्व में परिगणित नहीं। मनस्तत्त्व वैकारिक अंहकार से उत्पन्न होता है। इसके देवता या अभिमानी हैं—रुद्र, गरुड, शेष, काम, इन्द्र, अनिरुद्ध, ब्रह्मा, सरस्वती, वसु और चन्द्र। जो मन इन्द्रिय-रूप में परिचित है, वह तत्त्व नहीं। नित्य और अनित्य भेद से वह दो प्रकार का है। नित्यमन परमात्मा, लक्ष्मी एवं ब्रह्मा आदि सर्वजीव का स्वरूपभूत है। इसी को साक्षी कहते हैं।[2] यह आत्मस्वरूप या चैतन्यस्वरूप है। बद्ध जीव का मन चेतन और

---

१. श्री-सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार शुद्धसत्त्व अप्राकृत वस्तु है, इसलिए लीलादेह अप्राकृत है। वह भी जड पदार्थ है, यद्यपि प्राकृतिक जड पदार्थ से भिन्न है। परन्तु, कोई-कोई आचार्य शुद्ध सत्त्व को चिन्मय वस्तु भी जो नहीं मानते हैं, ऐसा नहीं। ईसाई, मुस्लिम और सूफी धर्माचार्यों और ग्रीक आदि पाश्चात्य तथा बौद्ध आदि प्राच्य दार्शनिक तत्त्वविदों ने भी किसी-न-किसी रूप में इसे स्वीकार किया है। तन्त्र में भी इसके रहस्य के निर्णय की चेष्टा है।

२. प्रत्यक्ष साक्षी भी षडिन्द्रिय-भेद से सात प्रकार के हैं। परमात्मा, लक्ष्मी और मुक्तजीव का प्रत्यक्ष शुद्ध चैतन्यमय है। यही साक्षी-ज्ञान हैं। बद्ध जीवों का प्रत्यक्ष इन्द्रियाधीन और प्राकृत है।

अचेतन—उभयात्मक है। मुक्तजीवों का मन चेतन है। भगवान् जीवदेह में रहकर जीव की इन्द्रियों द्वारा भोग करते हैं। अनित्य मन बाह्य पदार्थ है, आत्मस्वरूप नहीं। यह ब्रह्मा आदि सभी जीवों में है। यह पंचविध है—मन, बुद्धि, अंहकार, चित्त और चेतना। संकल्प-विकल्प मन का कार्य है।

इन्द्रिय :

मन की तरह इन्द्रिय के भी दो प्रकार हैं। जो तत्त्वरूप हैं, वे अनित्य हैं और तत्त्वभिन्न इन्द्रिय नित्य एवं साक्षी-पदवाच्य है। दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्मभेद से द्विविध हैं। अनित्य इन्द्रियाँ तैजस अंहकार से उत्पन्न होती हैं। नित्येन्द्रियाँ परमात्मा, लक्ष्मी एवं जीवमात्र की स्वरूपभूत हैं। किन्तु, इसमें कुछ वैशिष्ट्य है। परमात्मा और लक्ष्मी की दस इन्द्रियों में प्रत्येक, यहाँतक कि उनके केश, नख आदि भी रूप, रस आदि सभी पदार्थों के ग्राहक हैं। मुक्त एवं बद्ध जीव की इन्द्रियाँ अपने-अपने योग्य पदार्थ के उद्भासक हैं। अतएव, माध्व-मत से प्रत्येक जीव के ही स्वरूपभूत नित्येन्द्रियाँ और अंहकारजात तत्त्वभूत अनित्य-इन्द्रियाँ हैं। ब्रह्मा आदि के भी स्थूल इन्द्रियाँ हैं, यह स्वीकार करना होगा। उनकी सूक्ष्म इन्द्रियाँ ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत पंचभूत की सृष्टि के बाद अंहकार और भूतपंचक से क्रमशः उपचित होकर स्थूलभावापन्न होती हैं। स्वरूप-इन्द्रिय को साक्षी कहते हैं। मुक्तावस्था में इसके द्वारा साक्षात् रूप से सभी पदार्थों का ज्ञान होता है। परन्तु, बद्ध अवस्था में भी इसकी उपयोगिता है। आत्मा, मन, मनोधर्म, सुख-दुःख आदि, अविद्या, काल, अव्याकृत आकाश – ये सभी साक्षिगोचर हैं।[1] रूप-रस आदि साक्षात् रूप से बाह्य इन्द्रियों के विषय हैं फिर भी परम्परा से साक्षी-ग्राह्य हैं। अतीन्द्रिय पदार्थ-मात्र ही साक्षी द्वारा प्रतिभात होते हैं।

तन्मात्रा और पंचभूत :

शब्द, स्पर्श आदि विषयपंचक तन्मात्रा शब्द से अभिहित होते हैं। ये तत्त्व के अन्तर्गत हैं और तामसाहंकार-जन्य द्रव्यपदार्थ हैं। इसके सिवा आकाश आदि के गुण जो शब्द आदि हैं, वे तत्त्व या द्रव्यात्मक नहीं। उन सभी तन्मात्राओं द्वारा तामसाहंकार से ही आकाश आदि पंचभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द से आकाश उद्भूत होता है; इसका परिमाण अंहकार-तत्त्व से दसगुना कम है। आकाश की तरह वायु आदि तत्त्व भी स्पर्श आदि तन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं। बाद का तत्त्व पहले के उत्पन्न तत्त्व से दसगुना न्यून है। इसीलिए, आकाश से वायु का परिमाण दसगुना कम है। अग्नि आदि तत्त्वों के परिमाण

---

१. आत्मा, मन आदि साक्षिवेद्य हैं, माध्वमतानुयायियों ने इस सम्बन्ध में अनेक युक्तियाँ दी हैं। विशेष जिज्ञासु अनुव्याख्यान आदि उनके आकर-ग्रन्थों में इसकी आलोचना देख सकते हैं। 'मध्वसिद्धान्तसार' में भी इसका संक्षिप्त वर्णन है।

के बारे में भी यही एक ही नियम समझना होगा। आकाश, वायु आदि तत्त्व व्यतिरिक्त भी हैं। प्राण आदि नित्य वायु ईश्वर, लक्ष्मी और मुक्त जीव के स्वरूपभूत, अनित्य प्राण आदि संसारी जीवों में रहते हैं। अग्नि आदि भी तत्त्वभिन्न वायु की भाँति नित्य-अनित्य भेद से दो प्रकार के हैं। नित्य अग्नि आदि ईश्वर आदि के स्वरूपभूत हैं।

ब्रह्माण्ड का परिमाण पृथ्वी के परिमाण का अर्द्धांश है। श्रीमद्भागवत आदि के अनुसार, निर्णयकार कहते हैं कि यह ५० कोटि योजन विस्तृत है। ब्रह्माण्ड के बाहरी देश में पृथ्वी आदि अव्यक्त तक तत्त्वसमुदाय की आवरण-माला वलय के आकार में अवस्थित है। यह सारे ही प्राणियों का आवास-स्थान और चतुर्दशलोकात्मक है।

अविद्या :

पंचभूत की सृष्टि हो जाने पर उसके तमोगुण-अंश से पंचपर्वा अविद्या की सृष्टि होती है। माध्वमतानुयायी कहते हैं, ब्रह्माण्ड के बाह्यदेश में पंचभूत से ही यद्यपि अविद्या की सृष्टि हुई थी, तथापि भगवान् ने ब्रह्मा में उसका प्रक्षेप किया और सृष्टि के समय वह ब्रह्मा की देह से निकलकर आती है, इसलिए कहीं-कहीं उसको ब्राह्मी सृष्टि कहा गया है। यह अविद्या चार प्रकार की है—जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला और माया। अविद्या जीवाश्रित एवं प्रत्येक जीव के लिए पृथक्-पृथक् है। सर्वजीवाश्रित एकमात्र अज्ञान को माध्वमतानुयायी स्वीकार नहीं करते। श्री जैसे विद्याभिमानिनी देवता हैं, दुर्गा वैसे ही अविद्याभिमानिनी देवता।

वर्ण और अन्धकार :

अकार आदि रूप में वर्ण इक्यावन हैं। लौकिक और वैदिक सारे ही शब्द वर्णात्मक हैं। वर्णसमूह, देवता की भाँति नित्य—क्रमरहित और व्यापक द्रव्यविशेष है। ये ज्ञान द्वारा अभिव्यक्त और आनुपूर्वी-विशेष की प्राप्ति से पदार्थ के वाचक होते हैं।[1] अन्धकार भी एक प्रकार का द्रव्य है। जो तेज के अभाव को अन्धकार कहते हैं, उनका मत समीचीन नहीं है। शास्त्र में चक्र आदि के द्वारा अन्धकार-छेदन का वर्णन मिलता है। जड प्रकृति से उत्पन्न अत्यन्त निबिड द्रव्यविशेष नहीं होने से इस प्रकार का छेदन सम्भव नहीं होता। कौरव-पाण्डव के युद्ध के समय में सूर्य रहते हुए भी श्रीकृष्ण ने

१. प्रलयकाल में सारे ही वर्ण विभिन्न प्रदीपों के आलोक की भाँति घन सम्बद्ध रहते हैं। सृष्टिकाल में परमात्मा उच्चारणपूर्वक तत्तद् वर्णों को विभक्त करते हैं। ताराष्टाक्षर को विभक्त करने के समय नारायण-अष्टाक्षर-सम्बद्ध ताराष्टाक्षर का उच्चारण करके विभक्त करते हैं। उसके बाद ताराष्टाक्षर से नारायणाष्टाक्षर का उच्चारण करके उद्धार करते हैं। एक दीपक से जैसे दूसरे दीपक को जला लिया जाता है, यह भी वैसा ही है। नित्य होने के नाते वर्ण और देवता क्रमविशिष्ट नहीं, परन्तु ब्रह्मबुद्धि से अभिव्यक्ति-क्रम अपेक्षा करके क्रमवान् कहा जाता है।

अन्धकार की सृष्टि की थी और वह सबको उपलब्धिगोचर भी हुई थी। श्रीमद्भागवत में है कि ब्रह्मा ने अन्धकार को पी लिया था (द्रष्टव्य : तृतीय स्कन्ध)। इससे भिन्न आवरकत्व तथा स्वतन्त्र रूप से उपलब्धि-योग्यता भी अन्धकार की आलोकाभावता का विरोधी प्रमाण है।

वासना-काल-प्रतिबिम्ब :

वासना या संस्कार भी एक प्रकार का द्रव्य है—यह पूर्वानुभव से उत्पन्न होता है और मन में रहता है। इसका प्रवाहगत प्रारम्भ ढूँढ़े नहीं मिलता। जो सब पदार्थ स्वप्न में देखे जाते हैं, वे वासना से बनते हैं। काल आयु का व्यवस्थापक द्रव्य है। यह ज्ञान आदि बहुरूप-युक्त है—अखण्ड नहीं। प्रकृति से इसकी उत्पत्ति होती है। इसका विनाश भी है। अतएव, यह नित्य द्रव्य नहीं है, यह कहना ही नहीं होगा। पर, यह व्यापक, स्वगत और सर्वाधार है, इसमें सन्देह नहीं। काल-प्रवाह नित्य है। कार्यमात्र ही उत्पत्ति के विषय में काल के अधीन है। माध्वमत से प्रतिबिम्ब भी एक अलग द्रव्य है। यह बिम्ब का अविनाभूत एवं बिम्बसदृश है, किन्तु मिथ्या नहीं। नित्य और अनित्य—इसके ये दो भेद हैं। परमात्मा से भिन्न सारे ही चेतन पदार्थ परमात्मा के प्रतिबिम्ब, अतएव नित्य हैं। लक्ष्मी, ब्रह्मा आदि के भी प्रतिबिम्ब हैं। वह भी नित्य हैं। अधम श्रेणी के देवता उत्तम देवता के प्रतिबिम्ब-स्वरूप हैं।

कतिपय प्रसिद्ध गुण :

गुण का विशेष विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं। किन्तु, कुछ प्रसिद्ध गुणों के सम्बन्ध में माध्वमतानुयायी क्या कहते हैं, यहाँ वही आलोच्य है। पहले, शुक्ल आदि भेद से रूप के सात प्रकार हैं। शुक्ल आदि प्रत्येक रूप के ही नित्य और अनित्य, उद्भूत एवं अनुद्भूत—ये दो अवस्थाएँ हैं। सातों प्रकार के नित्य रूप ही परमात्मा और लक्ष्मी में उपलब्ध हैं। जीव के भी स्वरूपभूत अनेक प्रकार के वर्ण हैं। मुक्त पुरुषों में सबके ही वर्ण अलग-अलग हैं। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में जो '**श्यामावदाताः शतपत्र-लोचनाः**' आदि वर्णन मिलते हैं। आचार्य ने अणुव्याख्यान, छान्दोग्यभाष्य आदि ग्रन्थों में उसे मुक्तात्मा के वर्णन के दृष्टान्त-रूप में ग्रहण किया है। पांचरात्र में अनेक स्थानों में ऐसा वर्णन मिलता है। प्रकृति के लोहित शुक्ल और नील रूप भी नित्य हैं। महत्तत्त्व का रूप सुवर्णाभ है। पृथ्वी, जल और तेज का रूप अनित्य एवं उद्भूत है, पर आकाश का रूप अनुद्भूत है। पृथ्वी में सातों प्रकार के रूप हैं, जल और तेज का रूप शुक्ल एवं शुक्लभास्वर है। आकाश और अन्धकार का वर्ण नील है। वासना और प्रतिबिम्ब में भी अनेक प्रकार के रूप हैं। रूप की तरह षड्विध रस नित्य और अनित्य-भेद से दो प्रकार का है। ईश्वर और लक्ष्मी का रस मधुर है। जल का रस भी वैसा ही है। पृथ्वी और वासना में छह प्रकार के रस की सत्ता मिलती है। गन्ध दो प्रकार की है—सुरभि और असुरभि। ईश्वर, लक्ष्मी और मुक्त पुरुष में नित्य सुगन्ध है। पृथ्वी और वासना में दोनों ही प्रकार की गन्ध मिलती है। स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, द्रवत्व, गुरुत्व, मृदुत्व,

काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गाम्भीर्य, सौन्दर्य प्रभृति रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि बहुतेरे गुण माध्वमतानुयायी स्वीकार करते हैं। उन सभी गुणों की विस्तृत आलोचना यहाँ सम्भव नहीं। परन्तु, प्रसंगतः किसी गुण की, प्रयोजन के अनुसार, चर्चा की जायगी।

मोक्षलाभ का क्रम :

माध्वमत में मोक्षलाभ का क्रम इस प्रकार है। परमेश्वर के अनुग्रह से अपरोक्ष ज्ञान या भगवद्दर्शन होता है। भगवान् का दर्शन पाने से उनकी अनन्त कल्याण-गुणराशि का ज्ञान होता है तथा उनके प्रति अखण्ड प्रेम-प्रवाह उत्पन्न होता है। यह प्रेम कितना गम्भीर है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसके उदय से अपनी आत्मा और आत्मीयवर्ग की स्मृति तक लुप्त हो जाती है। जगत् के जितने भी प्रकार के व्यवधान हैं, सबकी मिली हुई शक्ति से भी उसका प्रवाह रुद्ध नहीं होता। इस प्रेम का पारिभाषिक नाम है 'परम भक्ति'। इसका फल है भगवान् का आत्यन्तिक प्रसाद या परम अनुग्रह। इसी अनुग्रह से परमार्त्ति-रूप संसार से जीव को मुक्ति मिलती है। स्वर्गलाभ और जनलोक आदि ऊर्ध्वलोकों में गति भगवान् के अधम और मध्यम अनुग्रह के फलस्वरूप होती है। परन्तु, प्रकृति, अविद्या आदि के आवरण से छुटकारा उनके परम अनुग्रह के विना सम्भव नहीं। भगवद्दर्शन से आत्मसंश्लिष्ट प्रकृति, सत्त्व आदि गुण, कर्म और सूक्ष्मदेह दग्ध होती है। परन्तु, जबतक प्रारब्ध कर्म रहता है, वह दग्ध इन्धन की भाँति बार-बार आविर्भूत और तिरोहित होता है। अज्ञान का आश्रय जीव ही है, अन्तःकरण नहीं। जीव यद्यपि स्वप्रकाश है, तथापि ईश्वर की इच्छा से स्वप्रकाश वस्तु भी अविद्या से आवृत हो सकती है।

यह मुक्ति चार प्रकार की है। यथा : **कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिः आदि मार्ग** और **भोग**। उनमें अपरोक्ष ज्ञान से सारे संचित पाप और अनिष्ट पुण्यकर्म का सम्यक् विनाश होता है—यही कर्मक्षय है।[1] विनाश शब्द से केवल ध्वंस या विनाश ही नहीं समझना चाहिए। किसी-किसी कर्म का अवश्य ध्वंस होता है। परन्तु, कोई-कोई विशिष्ट अनिष्ट पुण्य सुहृदों में और कोई-कोई पाप शत्रुओं में संचारित होता है। प्रारब्ध कर्म अपरोक्ष ज्ञान से भी विनष्ट नहीं होता। उसका क्षय एकमात्र भोग से ही होता है। यहाँतक कि ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र आदि देवता भी प्रारब्ध कर्म के फलभोग के लिए बाध्य हैं। ब्रह्मा का प्रारब्ध पुण्यात्मक है। उसका फल है सत्यलोक का आधिपत्य और भोगानुभव तथा भोगकाल है सौ ब्रह्मकल्प। इसी प्रकार, गरुड और शेष का प्रारब्ध है पुण्य-पापात्मक और भोगकाल है पचास ब्रह्मकल्प। इन्द्र और काम का बीस ब्रह्मकल्प तथा चन्द्र-सूर्य का दस ब्रह्मकल्प तक अपने-अपने पुण्य-पापात्मक प्रारब्ध का फलभोग होता है। श्रेष्ठ

---

१. चौदह वर्ष और उससे अधिक उम्र में किये गये कर्म से कम-से-कम दस बार जन्म-ग्रहण करना होता है। यदि संचित कर्म का विनाश नहीं होता, तो मोक्ष-प्राप्ति की कभी सम्भावना नहीं रहती।

मनुष्य का भोगकाल एक ब्रह्मकल्प होता है। प्रारब्ध के क्षय हो जाने पर ब्रह्मनाडी के अवलम्बन से जीव का उत्क्रमण होता है। यह ब्रह्मनाडी और सुषुम्णा-नाडी मूलाधार से मस्तक तक श्वेतवर्ण सरलरेखा जैसी या लम्बी शलाका जैसी देह के भीतर विराजमान है। इसके पाँच भेद हैं। देह आदि प्रतीक का अवलम्बन न करके जिन जीवों का अन्यत्र अपरोक्ष ज्ञान उदय होता है, उनमें कोई-कोई सुषुम्णा-पथ से उत्क्रमण करता है। उस समय जीव को कोई बोध नहीं रहता—विष्णु के अपने तेज से हृदय का अगला भाग उज्ज्वलता से प्रकाशित होता है। इसी को ब्रह्मद्वार कहते हैं। उसी राह से जीव को साथ लेकर हृदयस्थ भगवान् बाहर होते हैं। प्राण उनका अनुगमन करता है—अन्यान्य देवता, विद्या, कर्म और योग्यता उसी प्रकार प्राण का अनुसरण करते हैं। चलते-चलते रास्ते के लोकों के वासी ऊर्ध्व को जाती हुई मुक्तात्मा को देखकर, यह सोचकर कि उनके साथ भगवान् अवश्य हैं, तरह-तरह से उनका सत्कार करते हैं। इस प्रकार, क्रमशः वैकुण्ठलोक की प्राप्ति होती है और वहाँ भगवान् के तृतीय रूप का साक्षात्कार होता है। माण्डूक्यभाष्य में है कि भगवान् का यह तृतीय रूप व्यवहार-जगत् में नहीं दिखाई देता—वह द्वादशान्त में अवस्थित एवं मुक्तात्मा का उपलभ्य है। देह आदि प्रतीक के अवलम्बन से जो अपरोक्ष ज्ञान लाभ करते हैं, अन्तकाल में उनमें भगवत्स्मृति अवश्य जाग उठती है। अज्ञानियों के मृत्युकाल में भगवत्स्मृति नहीं जगती—यहाँतक कि जिन ज्ञानियों का प्रारब्ध क्षय नहीं हुआ, उनके भी नहीं जगती। कर्ममिश्र ज्ञानियों का मन देहत्याग के समय वैष्णवी माया के प्रभाव से बहिर्मुख हो पड़ता है। उस समय भगवत्प्रकाशमय सुषुम्णा-पार्श्वस्थ नाडी से जाना होता है और क्रमशः अर्चिः आदि लोक की प्राप्ति होती है। और फिर, वायुलोक में जाने से वायु द्वारा चालित होकर ब्रह्मलोक में गति होती है। स्वदेह में लय के बाद ब्रह्मा ज्ञानी को वैकुण्ठ तक पहुँचा देते हैं। अर्थात्, ब्रह्मलोकवासी सभी ब्रह्मा के प्रारब्ध-भोग के अन्त में उनके साथ ही समान परमपद लाभ करते हैं। पर, जो अपरोक्ष ज्ञानी एकगुणोपासक हैं, वे ज्ञान प्राप्त करके देह से उत्क्रमण नहीं करते—प्रारब्ध के अवसान से देहत्याग होने पर पृथ्वी आदि स्थानों में परमानन्द भोग करते हैं। परन्तु, उपदेश-लाभ सबको ही सत्यलोक में ब्रह्मा से होता है। सभी को श्वेतद्वीप में वासुदेव का दर्शन और ध्रुवलोकस्थ अनन्त जगत् के आधारभूत शिशुमार का दर्शन करना होता है। एकगुणोपासक श्वेतद्वीप में नारायण का दर्शन करके उनकी अनुज्ञा से पृथ्वी आदि पर सदा आनन्द से विहार करते हैं। तमोयोग्य जीव द्वेष-परिपाक के बाद देह से उत्क्रान्त और कलिप्राप्त होता है। ब्रह्मा के देहान्तकाल में इन जीवों की लिंगदेह वायु के गदा-प्रहार से टूट जाती है।

जो सब जीव नित्य संसारी हैं, उनका लिंगशरीर भी निवृत्त होता है। परन्तु, लिंगदेह के भंग होने पर भी उनकी संसार-योग्यता नष्ट नहीं होती। संसार-अवस्था में वे जैसे दुःखमिश्र सुख का अनुभव करते हैं, लिंगदेह के विनष्ट होने पर भी वैसे ही सुखमिश्र दुःख का भोग करते हैं। इसीलिए, इस कोटि के जीव को नित्यसंसारी कहा जाता है।

इनका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—मुक्तियोग्य जीव के लिए वैकुण्ठ आदि लोक हैं, तामस जीव का भी एक तमोमय स्थान है, पर जो नित्यसंसारी हैं, वे स्वर्ग, नरक, भूलोक आदि सब जगह सदा संचरण करते हैं। इसीलिए, शास्त्र में उन्हें अनेक स्थलों पर 'नित्यबद्ध' कहा गया है। लेकिन एक बात है। वास्तविक संसार में, अर्थात् लिंगभंग की पूर्वावस्था में, दुःख और सुख का भोग पर्याय-क्रम से होता है। किन्तु, मुक्ति में एक ही समय सुख और दुःख, दोनों के मिश्रित स्वरूप का अनुभव होता है।

नित्यसंसारी जीव दो प्रकार के हैं। बहुतेरे केवल स्वर्ग में रहते हैं, बहुतेरे स्वर्ग और नरक, दोनों ही स्थानों में जाते-आते हैं।[1] दोनों ही प्रकार के जीव लिंगदेह निवृत्त होने पर स्व-स्वरूप का अनुभव कर सकते हैं।

माध्वमतानुयायी कहते हैं, भू-लोक से स्वर्ग तक तीनों लोक पुनरावर्त्तनशील हैं। अर्थात्, सुकृति के फलस्वरूप स्वर्ग मिलने पर भी वह अवस्था स्थायी नहीं होती। पुण्य के क्षय होते ही स्वर्ग से पतन अवश्यम्भावी है। इसलिए, स्वर्गप्राप्ति की आकांक्षा उचित नहीं है। स्वर्ग के ऊपर महर्लोक है। इस स्थान तक उठ सकने से कुछ हद तक निश्चिन्त हुआ जा सकता है। परन्तु, यहाँ भी पतन की शंका न्यूनाधिक है ही। महर्लोकवासियों का आयुष्यकाल एक कल्प है, स्वर्ग की आयु का परिमाण एक मन्वन्तर। ज्ञान के सिवा केवल कर्म से स्वर्ग के ऊपर स्तर तक नहीं उठा जा सकता। ज्ञान के संचार-मात्र से ही त्रिलोक-भेद होकर पुनर्जन्म की शंका जाती रहती है। ज्ञान परिपक्व होने से भगवत्-धाम में, अथवा कुछ न्यूनता रहने से वायुलोक में गति होती है, नहीं तो स्थानमात्राश्रित होकर काल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। वास्तव में, जनलोक से ही पुनरावृत्ति की आशंका निवृत्त होती है। जनलोकवासियों को एक ब्रह्मकल्प तक भोग होता है। महाभिपत्स्य ब्रह्मसदन और जनलोक से सब लोक पुनरावर्त्तन-रहित हैं। इन लोकों में जा पाने से फिर जन्मग्रहण का भय नहीं रहता। पर, अंश द्वारा जन्म आदि हो सकते हैं, परन्तु उससे मूलरूप की कुछ क्षति नहीं होती। वस्तुतः, ऐसी स्थिति में भी अवतीर्ण अंश यथासम्भव शीघ्र स्वस्थान में पुनरागमन करता है। जो ब्रह्मनाडी का अवलम्बन करके उत्क्रमण करते हैं और अर्चिः आदि मार्गों से वैकुण्ठलोक को प्राप्त करते हैं, उनका पुनरावर्त्तन नहीं होता। हाँ, अन्य लोक में गमन कर सकते हैं। राजा रैवत सत्यलोक से भूमि पर अवतीर्ण हुए थे। राजा परीक्षित शुकदेव के उपदेश से अपरोक्ष ज्ञानलाभ करके भी अर्चिः आदि पर्वों से वैकुण्ठ प्राप्त करके वहाँ से व्यास के आदेश से भू-लोक में अवतीर्ण हुए थे और उन्होंने जनमेजय आदि को दर्शन दिया था, ऐसा सुनने में आता है। भगवान् की अचिन्त्य शक्ति से सब कुछ सम्भव है।

---

१. नित्यं सृतिस्था द्विविधाः स्वर्गमात्रैकभागिनः ;
गतागतास्तथा केचित् स्वर्गेषु नरकेषु च ॥

(भक्तिमाहात्म्यस्य शाण्डिल्यतत्त्व)

देवगण का उत्क्रमण नहीं होता, अर्चिः आदि पथों से गति भी नहीं होती। परन्तु, मनुष्य-रूप में जन्म लेने से उन्हें उत्क्रान्ति आदि हो सकती हैं, पर उससे मुक्तिलाभ नहीं होता। देवों की मुक्ति एकमात्र उत्तम देह में अपनी देह के लय से हो सकती है। यह लयमार्ग दो प्रकार का है : गरुडमार्ग और शेषमार्ग। पहला मार्ग है—अग्नि सूर्य में लीन होता है, सूर्य गुरु में, गुरु इन्द्र में, इन्द्र सौपर्णी में और सौपर्णी गरुड में लीन होता है। दूसरा मार्ग है—वरुण सोम में लीन होता है, सोम अनिरुद्ध में, अनिरुद्ध काम में, काम वारुणी में और वारुणी शेष में। अन्यान्य देवताओं में, कोई गरुडमार्ग में, कोई शेषमार्ग में प्रविष्ट होकर विलीन होता है। जैसे, भृगु आदि देवगण दक्ष में, दक्ष इन्द्र में लीन होता है, वैसे ही आकाश के अधिष्ठाता गणेश और पृथ्वी की अधिष्ठात्री धरा गुरु में लीन होती है। यह गरुडमार्ग के अन्तर्गत है। कर्मज देवगण, प्रियव्रत और गय स्वायम्भुव मनु में और मनु इन्द्र में लीन होता है। मरुद्गण और जय आदि सभी इन्द्र में लीन होते हैं। निर्ऋति और पितृगण यम में एवं यम इन्द्र में लीन होता है। आजानज और शेष देवगण अग्नि में लीन होते हैं। यह भी गरुडमार्ग है। गन्धर्वगण कुबेर में, कुबेर सोम में, सनक आदि काम में और विष्वक्सेन अनिरुद्ध में लीन होता है। यह शेषमार्ग है। गरुड और शेष सरस्वती में, सरस्वती ब्रह्मा में एवं ब्रह्मा लक्ष्मी द्वारा परमात्मा में लय होते हैं। इधर, उमा रुद्र में, रुद्र भारती में, भारती वायु में एवं वायु लक्ष्मी में लीन होती है। इनका परमात्मा में लय या मुक्ति नहीं होती। ब्रह्मकल्प का अवसान हो जाने पर ये व्युत्थित होकर वायु ब्रह्मरूप में, भारती सरस्वती-रूप में, रुद्र शेषरूप में एवं उमा वारुणी-रूप में प्रकट होती है। इसके बाद अवश्य ही स्वाभाविक क्रम से उनकी मुक्ति होती है।[1]

उपर्युक्त प्रकार से लय हो जाने पर जीव ब्रह्मा के साथ विरजा में स्नान करके परम मोक्षलाभ करता है। विरजा में स्नान करते ही लिंगदेह का ध्वंस होता है और जीव भगवत्-धाम में प्रवेश करता है। अतएव, विरजा उत्तीर्ण नहीं होने तक ही प्रारब्ध कर्म रहता है। विरजा प्रधान और परव्योम या अव्याकृत आकाश की मध्यवर्त्ती एवं लक्ष्मी-स्वरूपा है। इसे वैकुण्ठ की परिखा भी कहा जा सकता है। दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और मन—इन षोडशकला-विशिष्ट सूक्ष्म देह को लिंगदेह कहते हैं। जीव से जब लिंग का सम्बन्ध टूट जाता है, तभी कहा जा सकता है कि लिंगभंग हुआ। वास्तव में, प्रकृत्यात्मक होने के कारण लिंग का स्वरूपगत विनाश नहीं है, यद्यपि कोई-कोई यह भी स्वीकार करते हैं।[2] जो स्वरूपध्वंसवादी हैं, वे कहते हैं कि लिंग यद्यपि अनादि है, तथापि उसका ध्वंस हो सकता है। दृष्टान्त के रूप में वे प्रागभाव, अविद्या आदि का उल्लेख करते हैं।

---

१. इससे माध्वसम्प्रदाय का जीव विद्वेष स्पष्ट प्रमाणित होता है।

२. जो लिंग का विनाश स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि विरजा में स्नान करने के समय लिंगशरीर जीव को त्याग करके नदी (विरजा) में गिरता है और उसी में तिरता रहता है।

प्रलयकाल में सभी जीव भगवान् के उदर में समाते हैं। उस समय केवलमात्र स्वरूपानुभूति होती है, विषयभोग नहीं होता। नूतन सृष्टिकाल में जब बहिर्गति होती है, तब विषयभोग होता है। सृष्टि या प्रलय के समय मुक्त पुरुषों के ज्ञान, आनन्द आदि का कोई परिवर्त्तन नहीं होता। मुक्तों के लिए बाहर-भीतर समान है। पर, एक बात है। माध्वमतानुयायी मुक्ति में जीवमात्र के आनन्द-साम्य को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं, आनन्द का भोग जीव की स्वकीय योग्यता से होता है। योग्यता का तारतम्य होने से मुक्ति में भी भोग का तारतम्य अवश्यम्भावी है।

सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—भोग चार प्रकार के हैं। समान ऐश्वर्य-भोग का नामान्तर है सार्ष्टि—यह सायुज्य का ही अवान्तर भेद है। भगवान् में प्रविष्ट होकर भगवद्देह के द्वारा जो भोगसाधन होता है, वही सायुज्य है।[1] देवता इसके अधिकारी हैं। देवता अपनी-अपनी उत्तम देह एवं परमात्मदेह में प्रविष्ट होकर भोग कर सकते हैं। ब्रह्मा का भोग केवल परमात्मा के शरीर में ही निष्पन्न होता है।[2] प्रलयकाल में सबको ही भगवद्देह में प्रवेश करना पड़ता है। अन्य समय मुक्तजीव अपनी इच्छा के अनुसार स्वरूप से बाहर हो आ सकते हैं और फिर स्वरूप में प्रवेश कर सकते हैं। वे स्वाधीन हैं। सालोक्य में मुक्त जीव भगवल्लोक के जिस किसी भी स्थान में रहकर इच्छानुरूप भोग-सम्पादन कर सकते हैं। कोई-कोई उत्क्रमण नहीं करके वहीं मुक्तिलाभ करते हैं और वहीं रहते हैं। कोई अन्तरिक्ष में अथवा स्वर्ग, महः आदि लोक में या क्षीरोदसागर में रहते हैं। सामीप्य और सारूप्य-भोग को भी उक्त प्रणाली से समझ लेना होगा। मुक्तों के भोग-स्थान का अन्त नहीं है। क्षीरसागर, अश्वत्थवन, सुधासमुद्र,[3] मद्यसरोवर, बाह्य उपवन

---

१. मुक्त जीव मर्त्यदेह को त्याग कर चिन्मय देह और चिन्मय इन्द्रिय से युक्त होकर भगवद्देह में प्रविष्ट होता है। उस स्थिति में उसके सारे अंग भगवदंग द्वारा अनुगृहीत होकर प्रवर्त्तित होते हैं। उन्हीं के अनुग्रह से अपनी इच्छा के अनुसार वह भीतर या बाहर संचरण करता है। सायुज्यमुक्त पुरुष के भोग का वर्णन आचार्य ने इस प्रकार किया है :

आदत्ते हरिहस्तेन हरिदृष्ट्यैव पश्यति।
गच्छेच्च हरिपादेन मुक्तस्यैषा स्थितिर्भवेत्॥

२. परमात्मा की देह में प्रवेश करके भी मुक्त जीव अपने स्वरूपानन्द का ही भोग करता है, परमात्मानन्द के भोग में समर्थ नहीं होता। परमात्मा और जीव में यही पार्थक्य है। परमात्मा जीवभोग्य आनन्द के भी भोक्ता है, जीव परमात्मा में प्रविष्ट होने पर भी उनके आनन्द का भोग नहीं लाभ कर सकता।

३. आचार्य कहते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् में जो मुक्तभोग्य ब्रह्मपुर का विवरण है, उसका नाम श्वेतद्वीप है। उसमें चिदानन्दरसात्मक अरण्य

आदि विचित्र भोगस्थानों के वर्णन मिलते हैं। उन उपवनों में जो सब वृक्ष हैं, उनकी प्रत्येक शाखा से अपूप (पूए) आदि गिरते हैं। वहाँ का कादो ही सुस्वादु पायस-स्वरूप है।

मुक्तजीव में कोई स्त्रीभोगी, कोई घोड़े आदि पर धावनशील और कोई दिव्य भूषण से भूषित होकर स्त्रियों के साथ जलकेलि में मग्न हैं, कोई स्फटिक और इन्द्रनील आदि बहुमूल्य प्रस्तरों से निर्मित विचित्र प्रासाद में विराजमान हैं। उनमें कोई यज्ञ आदि क्रियाओं में, कोई वेदध्वनि के साथ भगवान् के स्तव में लीन हैं और कोई शुद्धसत्त्वमय लीलाशरीर धारण करके क्रीडा कर रहे हैं। कोई पिछले जन्म और मरण का स्मरण करके हर्ष प्रकट कर रहे हैं, तो कोई इच्छामात्र से ही पितृलोक-मातृलोक आदि के दर्शन कर रहे हैं। भगवान् का गुणगान, नृत्य, वाद्य—किसी-न-किसी एक भाव में सभी निमग्न हैं। किन्तु, इसमें कोई भूल नहीं कि सभी आनन्द में डूबे हुए हैं। लेकिन, आनन्द का तारतम्य है। ईर्ष्या आदि कुवृत्ति से सभी निर्मुक्त हैं। अपरोक्ष ज्ञान के बाद जो कर्म-उपासना आदि अनुष्ठित होती हैं, उनके वैचित्र्य के कारण आनन्द की अभिव्यक्ति का तारतम्य होता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो अनुष्ठान की सार्थकता नहीं रहती। अपरोक्ष ज्ञान के बाद भी रुद्र, इन्द्र, सूर्य, धर्म आदि के कर्मानुष्ठान का वर्णन मिलता है।[1]

जीव स्वरूपतः अणु-परिमाण है। उसके द्वारा मुक्ति में भोग कैसे सम्भव है? कोई-कोई ऐसा पूछ सकते हैं। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि जीव के अणु होने पर भी उसकी इच्छा के अनुसार भगवान् उसके लिए कल्याणतम महत् रूप निर्माण कर देते हैं। पितृजीव, गन्धर्वजीव, देवता, ब्रह्मा आदि अनेक प्रकार के जीव हैं। भगवान् प्रत्येक मुक्त जीव को ही उसकी योग्यता के अनुसार स्वभाव के अनुरूप नवीन आकार देते हैं। सुनार जिस प्रकार, आग में तपाकर, सोने का मल मिटाकर उसे शुद्ध करता है और जैसा चाहता है, वैसा ही आकार देता है, उसी प्रकार भगवान् जीव की अविद्या, काम-कर्म आदि मलों को आत्माग्नि में जलाकर जीव को योग्य कल्याणरूप प्रदान करते हैं। उनकी कृपा से मुक्तावस्था में जीव का अष्टैश्वर्य अभिव्यक्त होता है।

वैकुण्ठ आदि सभी भगवत्-धाम लक्ष्यात्मक हैं, इसलिए चिन्मय और नित्य हैं। इतना ही नहीं, धाम के लीलोपकरण-रूप सारे पदार्थ ही उसी प्रकार अप्राकृत एवं नित्य हैं। ब्रह्मा आदि जीव के मुक्त हो जाने से उनके, जगत्सृष्टि आदि व्यापार कुछ भी नहीं रहते; केवल अपने अधिकार के मुक्त जीवों पर आधिपत्य रहता है। नियम्य-नियामक भाव मुक्ति के बाद भी रहता है। परन्तु, मुक्तगण संसार में आवर्तन नहीं करता। अवश्य, वैकुण्ठवासी जय-

---

नामक दिव्य समुद्र या अमृत-ह्रद है, सर्वभोगात्मक मद्यसरोवर है, सुधास्रावी अश्वत्थवृक्ष है।

१. रुद्र ने लवणसमुद्र में शतकल्प तक तपस्या की थी। इन्द्र ने कोटिवर्ष तक धूमपान किया था। सूर्य ने अयुत वत्सर काल तक अधोमस्तक होकर कृच्छ्र साधन और आकाशशायी धर्म ने सहस्र वर्ष तक मरीचि-पान किया था।

विजय आदि सनक आदि के शाप से पृथ्वी पर आये थे, यह बात पुराण में है। परन्तु, वे मुक्त नहीं थे, केवल अधिकारस्थ थे। मुक्त होने से शाप की योग्यता नहीं रहती।

परमात्मा स्वयं वैकुण्ठ में रहते हैं—मुक्त ब्रह्मा आदि कोटि-कोटि जीव उनकी स्तुति करते हैं। वह अनन्तशक्ति, अनन्तगुणसम्पन्न और परिपूर्ण भोगी हैं। लक्ष्यात्मक विमिताख्य पर्यंक पर उनकी शय्या है, सुनन्द, नन्द आदि उनके पार्षद हैं और स्वयं महालक्ष्मी उनके प्रिय कर्मों के गान और बहुविध सत्कार के कार्यों में संलग्न हैं।

चतुर्थ अध्याय

रुद्र-सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत या वल्लभ-सिद्धान्त

आचार्य-परम्परा :

अब हम संक्षेप में वल्लभाचार्य-सम्मत सिद्धान्त की कुछ चर्चा करेंगे।

विष्णुस्वामी नाम के प्राचीन आचार्य ने जिस मत का प्रवर्त्तन किया था, उसी का प्रचार **वल्लभाचार्य** ने किया। प्रसिद्धि है कि विष्णुस्वामी दिल्ली-सम्राट् के अधीन द्राविड़देशीय किसी राजा के पुत्र थे। उनके आविर्भाव-काल का निर्णय नहीं हो सका है, पर नाभाजी-रचित 'भक्तमाल' से यह अनुमान किया जाता है कि साधु **ज्ञानदेव** उन्हीं के सम्प्रदाय के एवं उनसे कुछ ही दिनों के बाद के थे। वह ज्ञानदेव यदि 'श्रीमद्भगवद्-गीता' के मराठी-अनुवादकर्त्ता ज्ञानदेव (सन् १२९० ई०) से अभिन्न हों,[१] तो विष्णुस्वामी का समय सन् १२५० ई० मान लिया जा सकता है।

विष्णुस्वामी-मत के अनुयायियों में **गर्भश्रीकान्तमिश्र** का नाम 'सर्वदर्शनसंग्रह' में उल्लिखित है। लगता है, ये सब नृसिंह-मूर्त्ति के उपासक थे। दीर्घकाल तक यह सम्प्रदाय लुप्तप्राय हो गया था। बाद में, वल्लभाचार्य ने इसे संजीवित किया। वल्लभाचार्य **श्रीचैतन्य महाप्रभु** के समकालीन थे।

१. दीपिका नाम की अपनी गीता-टीका में ज्ञानदेव ने गुरु-परम्परा के वर्णन के प्रसंग में कहा है : उनके गुरु निवृत्तिनाथ, परमगुरु गहिनीनाथ और परमेष्ठि-गुरु गोरक्षनाथ हैं (द्रष्टव्य : दीपिका १८ : पण्डित पाण्डुरंग शर्मा-लिखित 'An outline of the History and Teaching of the Nath panthiya Siddhas' नामक प्रबन्ध)। कहना व्यर्थ है, इस गुरु-परम्परा में विष्णुस्वामी का नाम नहीं है। किन्तु, एक बात है। विष्णुस्वामी सिद्ध थे, इसमें सन्देह नहीं। अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में रसेश्वरदर्शन की आलोचना के समय माधवाचार्य ने विष्णुस्वामी के मतानुयायियों के 'साकारसिद्धि' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। विष्णुस्वामी ने शंकर-सम्मत वेदान्त-सिद्धान्त का खण्डन करके साकार ब्रह्म-प्रतिपादक अपने मत की आलोचना की। ग्रियर्सन ('Encyclopaedia of Religion and Ethic's, Vol. II, p. 545) कहते हैं, विष्णुस्वामी चौदहवीं शती में आविर्भूत हुए थे। वल्लभ के पिता लक्ष्मण उनके शिष्य थे। ग्रियर्सन का यह कहना समीचीन नहीं लगता। कारण, माधवाचार्य ने जिस प्रकार से विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय का उल्लेख किया है, उससे विष्णुस्वामी के समय को उनसे बहुत पहले माने बिना नहीं चलता।

वल्लभाचार्य-कृत ब्रह्मसूत्राणुभाष्य ही शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय का उपजीव्य प्रधान दार्शनिक ग्रन्थ है। वल्लभ ने बहुतेरे ग्रन्थों की रचना की थी। उनके रचे ग्रन्थ—श्रीमद्-भागवत-टीका सुबोधिनी, गीताटीका, तत्त्वदीपनिबन्ध या तत्त्वार्थदीप, निबन्धप्रकाश, पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, कृष्णप्रेमामृत, सिद्धान्तरहस्य, सेवाफलविवृति, भक्तिवर्द्धिनी आदि अब भी उस सम्प्रदाय में बड़े ही आदर से अधीत और आलोचित होते हैं। उनके पुत्र **विट्ठलनाथ** या **विट्ठलेश्वर दीक्षित** ने कई ग्रन्थों की रचना की थी। उनके द्वारा लिखित 'विद्वन्मण्डन' का उल्लेख वल्लभाचार्य-कृत 'अणुभाष्य' के सूत्रों (४।४–१४) में मिलता है। उनके ग्रन्थ कृष्णप्रेमामृत-टीका, रत्नविवरण, भक्तिहंस, वल्लभाष्टक, पुष्टि-प्रवाहमर्यादाभेद-टीका आदि वैष्णवदर्शन के क्रम-विकास के इतिहास की चर्चा के प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। विट्ठल के पंचम पुत्र **रघुनाथ** ने 'भक्तिहंस' पर 'भक्तितरंगिणी' नाम की टीका तथा 'वल्लभाष्टकस्तोत्र' की टीका रची थी। **बालकृष्णभट्ट** प्रमेयरत्नार्णव, शुद्धा-द्वैतमार्त्तण्डप्रकाश, निर्णयार्णव, सेवाकौमुदी आदि ग्रन्थों के प्रणेता हैं। बालकृष्ण का दूसरा नाम **लालूभट्ट दीक्षित** है। **कल्याणराय** के पुत्र **गोपेश्वर** विट्ठल के शिष्य थे। उनके भक्तिमार्त्तण्ड, वादकथा आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। विट्ठल के दूसरे शिष्य **पीताम्बर** वल्लभ-कृत 'तत्त्वदीपनिबन्धप्रकाश' की 'आवरणभंग' नाम की टीका, विद्वत्कवि भिन्दिमाल, प्रहस्त, पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरण आदि के रचयिता हैं। पीताम्बर के पुत्र **पुरुषोत्तम** ने 'अणुभाष्य' की 'प्रकाश' नाम की टीका लिखी। उनके लिखे विद्वन्मण्डनटीका-सुवर्णसूत्र, भक्तिहंसविवेक, भक्तितरंगिणीटीकातीर्थ, वल्लभाष्टकविवृतिप्रकाश, अवतारवादावली आदि ग्रन्थ समधिक प्रसिद्ध हुए।

गिरिधर का शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड, **हरिराय** का ब्रह्मवाद, **गोपालकृष्णभट्ट** का ब्रह्मवाद-विवरण, **तापीश** की पयावलम्बन-टीका ब्रह्मवादार्थ एवं **भट्ट बलभद्र** का सिद्धान्तसिद्धापना आदि ग्रन्थ शुद्धाद्वैत-मत के जिज्ञासुओं के लिए अवश्य पाठ्य हैं। प्रस्थानरत्नाकर, सिद्धान्त-मुक्तावली आदि ग्रन्थों के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

रामानुजीय अथवा माध्व-सम्प्रदाय की भाँति वल्लभ-सम्प्रदाय का साहित्य व्यापक अथवा पाण्डित्यपूर्ण नहीं है। 'शतदूषणी' अथवा 'न्यायामृत' जैसे ग्रन्थ शुद्धाद्वैत-दर्शन के साहित्य में नहीं हैं।

वल्लभाचार्य :

वल्लभाचार्य कृष्णयजुर्वेदीय तैलंग ब्राह्मण **लक्ष्मणभट्ट** के पुत्र थे। उनकी माता का नाम **एलमागार** था। लक्ष्मणभट्ट तीर्थयात्रा के लिए काशी रवाना हुए थे। रास्ते में उनकी स्त्री ने एक पुत्र को जन्म दिया। आगे चलकर वही पुत्र वल्लभाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। वल्लभ का आविर्भाव-काल १५३५ विक्रमाब्द या १४७८ खृष्टाब्द है। वल्लभ ने कुछ दिन वृन्दावन और मथुरा में बिताये थे। उसी समय गोवर्धन पर्वत पर

देवदमन या श्रीनाथ नाम के गोपालकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिया। ऐसा कहा जाता है कि स्वप्न में दर्शन देकर भगवान् ने उन्हें मन्दिर-निर्माण और पुष्टिमार्ग के प्रचार का आदेश दिया।

जीव का स्वरूप :

वल्लभ-मत में जीवात्मा अणुपरिमाण, ब्रह्मांश एवं ब्रह्म से अभिन्न है। कारणात्मक अक्षरब्रह्म से सच्चिदानन्दात्मक अणु-अंश, बृहत् अग्निराशि के छोटे-छोटे स्फुलिंग की तरह निकलते हैं। अक्षरब्रह्म या भगवान् का स्वाभाविक धर्म विशुद्ध सत्त्व भी इसी प्रकार खण्डित होकर अणु-परिमाण में प्रति अंश से युक्त रहता है। मूल से अंश निकलने के कारण भगवदिच्छा से प्रत्येक अंश में ही सत्त्वांश प्रबल और आनन्दांश तिरोहित होता है। यह चित्-प्रधान, लुप्तानन्द, निरुपाधिक ब्रह्माणु ही जीव शब्द से वाच्य है। भगवान् का चिदंश ही जीव है। सृष्टि के समय ही जीव से भगवान् का आनन्दांश तिरोहित होता है—ऐश्वर्य आदि का तिरोभाव उसके बाद होता है। जीव अणु है, किन्तु भगवदाविष्ट अवस्था में, अर्थात् आनन्द-अंश की अभिव्यक्ति के समय व्यापकता आदि भगवद्धर्म उससे प्रकट होते हैं। परन्तु, तब भी जीव का व्यापकत्व सिद्ध नहीं होता। यशोदा की गोद में स्थित कृष्ण जिस प्रकार सर्वजगत् के आधार-रूप में प्रकाशित हुए थे, उसी प्रकार भगवदाविष्ट जीव से भी कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो सकते हैं। अग्नि के सम्पर्क से लोहे के खण्ड में दाहकता आती है, लेकिन इसलिए दाहकता लोहे का धर्म है, यह नहीं कहा जा सकता। व्यापकता भी उसी प्रकार आनन्दांश के सम्बन्ध से चिदंश में प्रकाशित-मात्र होती है। (तत्त्वदीप और प्रकाश, पृ० ८३)

जीवसृष्टि सुनकर कोई यह न समझें कि वल्लभ-मत में जीव अनित्य है। वास्तव में, जीव नित्य है, पर जिस सृष्टि या निःसृति की बात कही गई, वह उद्गमबोधक, उत्पत्ति-वाचक नहीं है। व्यापक होने पर भी ब्रह्म से अंश का निकलना असम्भव नहीं। वस्तुतः, उपादान, उपादेय, अधिकरण एवं व्यापार, सभी ब्रह्ममय हैं।

शुद्ध, संसारी और मुक्त के भेद से जीव त्रिविध है। ब्रह्म से अणु के निकलने के बाद, आनन्दांश तिरोहित होने से जिस अवस्था का विकास होता है, उसे शुद्ध जीवभाव कहते हैं। यह शुद्ध चिद्भाव-मात्र है। इसके बाद अविद्या का सम्बन्ध संघटित होने से जीव बद्ध या संसारी होता है। उस समय भगवदिच्छा से उसके ऐश्वर्य आदि गुण तिरोभूत होते हैं। शुद्ध जीव में भगवान् के ऐश्वर्य आदि षड्गुण का अंश रहता है। इन बद्ध जीवों में कोई-कोई दैवभावापन्न और कोई-कोई आसुरभावापन्न होते हैं। सूक्ष्म सद्वासना-विशिष्ट मुक्ति-अधिकार को देवत्व कहते हैं। भगवान् जिनसे लीला करना चाहते हैं, उन्हें मुक्ति का योग्यतासाधक देवत्व प्रदान करते हैं।[1] जीव के हृदय में उच्च भाव रहने पर

१. ब्रह्मवाद में है कि सृष्टिकाल में शक्ति पृथक्कृत होती है। उस अवस्था में शक्ति-परिगृहीत भाव आसुरत्व और स्व-परिगृहीत भाव ही देवत्व है। अर्थात्,

भगवदिच्छा से ऐसा ही होता है। और, जिनके चित्त में नीचभाव स्थान पाता है, वे असद्वासनायुक्त होकर आसुरभाव प्राप्त करते हैं।[1] यह मुक्ति का प्रतिबन्धक है। यहाँ भी भगवदिच्छा ही मूल है। आसुर जीव स्थूल देह से नानाविध निन्दनीय कर्म करते हैं और उसके अनुसार नीच योनि में भ्रमण करते हैं। ये सदा संसारी हैं। भगवान् जबतक आत्मरमण की इच्छा न करें, तबतक आसुर जीव की अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति की सम्भावना नहीं। लेकिन, वैसी इच्छा होते ही सर्वत्र विद्यमान अविद्या-कार्य संसार को भगवान् स्वयं ही नष्ट कर देंगे। तब जीवों को साधन करने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। उस समय आसुर जीव भी शुद्ध अवस्था प्राप्त करेंगे।

भगवान् जिनसे विवाह (परिग्रह) करते हैं, वे दैवजीव हैं, माया-विवाहित जीव आसुर। किसी का त्याग नहीं किया जा सकता। भगवान् और दैव-जीव, कोई किसी का त्याग नहीं करते। माया और आसुरजीव भी उसी प्रकार परस्पर को नहीं छोड़ सकते। दोनों में ही भगवदिच्छा ही मूल कारण है। आसुरजीव भगवान् को नहीं पाता; क्योंकि उसमें मायाजनित मोहवश भगवान् की ज्ञान और भक्ति रूप दो शक्तियों का कार्य नहीं होता, इसलिए उसका सायुज्य नहीं हो सकता। पुरुष का अंशभूत वीर्य जैसे स्त्रीगर्भ में प्रविष्ट और स्त्रीगृहीत होने से फिर पुरुष में प्रविष्ट नहीं करता, वैसे ही आसुरजीव भगवान् में प्रवेश नहीं कर सकता। (द्रष्टव्य : ब्रह्मवादविवरण, गोपालकृष्णभट्ट-कृत, ३०-३१)

१. प्रकृति यद्यपि ब्रह्मशक्ति और तदभिन्न होने से आनन्दात्मक है, तथापि प्रकृति में प्रविष्ट असुर आनन्द का लेश भी नहीं पाते। क्योंकि, भगवान् उनके निकट अपना आनन्दरूप प्रकट नहीं करते। दैवी माया और आसुरी (एवं राक्षसी) माया में भेद है। माया का कार्य मोह दोनों में रहने पर भी पहली जगह वह मोक्ष का निमित्त है, दूसरी जगह बन्ध के लिए समझना होगा। प्रकृति जब भगवान् में लीन हो जाती है और उसके साथ प्रकृतिस्थ आसुर जीव भी भगवान् में लीन होते हैं, तब भी भगवत्सम्बन्ध परम्परा-रूप में होने पर भी—आसुर जीव को आनन्दलाभ नहीं होता; क्योंकि उस समय व्यवधान रहता है। यही व्यवधान ही प्रलय और मुक्ति का भेदक है। मुक्ति स्व-रूप का आनन्दानुभव-रूप है, प्रलय केवल उदरवर्त्तित्व एवं स्व-विषयानुभव-रूप। आनन्दानुभव भक्तिमात्र-साध्य है, भक्ति स्नेहरूपा है। यह आनन्दानुभव मोक्षदशा में होता है और तब भक्त भगवान् के हृदय में लक्ष्मी की भाँति स्थिति लाभ करता है। प्रलय में केवल निद्रावत् क्लेश का अपाय होता है (ब्रह्मवाद, ३२–३४)। जीवमात्र ही यद्यपि स्वभावतः भगवान् का अंश है, तथापि दैवादि-विभाग क्रीडानिमित्त भगवदिच्छा-मूलक है। इसीलिए, उसमें वैचित्र्य है। (वही, २६-२७)

मुक्त जीव दो प्रकार के हैं—जीवन्मुक्त और परममुक्त। अविद्या की निवृत्ति होने से ही जीवन्मुक्ति-अवस्था कही जा सकती है। सनक आदि मुनि जीवन्मुक्त हैं। जो व्यापक वैकुण्ठ या परम व्योम के अलावा अन्यान्य भगवत्-लोक में वास करते हैं, वे मुक्त हैं। उसके बाद भगवान् की विशिष्ट कृपा के फलस्वरूप परम व्योम में प्रवेश होने से परामुक्ति या विशुद्ध ब्रह्मभाव होता है। दैवजीवों में कोई-कोई सत्संग पाकर मार्गानुराग-जन्य श्रवणादि-सम्भूत फलरूपा स्वतन्त्र भक्ति द्वारा नित्यलीला में प्रवेश करते हैं।

परब्रह्म का स्वरूप :

वल्लभमतानुयायी परब्रह्म को नित्यानन्द-स्वरूप और अप्राकृत धर्म का आश्रय मानते हैं। पुरुषोत्तम-शब्दवाच्य परब्रह्म श्रीकृष्ण से अलौकिक सारे धर्म ही प्रकटित हैं, उनकी सारी लीला ही नित्य है। परब्रह्म में जब बहु होने की इच्छा उदित होती है, तब रूपान्तर का आविर्भाव होता है। इस प्रकार, वह सर्वकारण के कारण अक्षरब्रह्म हैं। इस अवस्था में सत्त्व की प्रधानता के कारण आनन्द का अंश तिरोहित-सा रहता है। अक्षरब्रह्म भक्त और ज्ञानी के निकट भिन्न भाव से प्रतीत होते हैं। भक्त देखते हैं कि वह व्यापी वैकुण्ठ आदि लोकरूप में आविर्भूत हुए हैं। भक्त के प्रत्यक्ष विषय में अक्षर-रूप किसी-किसी विशेष गुण का प्राकट्य एवं अन्यान्य गुण का अप्राकट्य रहता है। लेकिन, सर्वगुण की ही सत्ता रहती है। आविर्भाव और तिरोभाव भगवान् की ही शक्तिविशेष है—गुण का कार्य नहीं रहने से ही उसे अप्रकटता कहते हैं। यह तिरोभाव मायाकृत नहीं। माया के प्रभाव से बद्ध जीव के धर्मरूप में जिस तिरोभाव का परिचय मिलता है, वह सद्विषयक ज्ञान का अभावमात्र है। ज्ञानी के निकट अक्षरब्रह्म सच्चिदानन्द, देश और काल से अतीत, स्वप्रकाश, गुणातीत रूप में भासमान होते हैं। ऐसे प्रकाशमान ब्रह्म में एकमात्र तिरोधान-शक्ति का प्राकट्य रहता है, अन्यान्य सारे धर्मों का तिरोभाव होता है। इसीलिए, ज्ञानिज्ञेय अक्षरब्रह्म निर्धर्मक कहे जाते है। वस्तुतः, वह श्रुति-प्रोक्त धर्मरहित नहीं। इसलिए, वल्लभ-मत से (द्रष्टव्य : सुबोधिनी, द्वितीय स्कन्ध) असद् वस्तु की सत्ता से तिरोभाव-भिन्न अभाव नाम का कोई पृथक् पदार्थ नहीं। दुःख आदि मायिक धर्म मिथ्या या भ्रान्ति-प्रतीति सिद्ध होने के कारण उसका अभाव भी मिथ्या है। ब्रह्म में दुःख आदि नहीं हैं, यह कहने से दुःख आदि का मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है। अतएव, ज्ञानिज्ञेय ब्रह्मस्वरूप तिरोहित सर्वशक्ति एवं सर्वव्यवहार के अतीत है। पुरुषोत्तम का एक रूप सूर्यमण्डल आदि में है—यह अन्तर्यामी हैं, इसी का नामान्तर पुरुष या नारायण है। पुरुष त्रिविध हैं : १. महत्स्रष्टा, २. ब्रह्माण्डसंस्थित एवं ३. सर्वभूतस्थ। पुरुष से ही मत्स्य आदि लीलावतारों का आविर्भाव होता है। अक्षर से जो सब अन्तर्यामी निकलते हैं, वे इन मुख्य अन्तर्यामी के अंश हैं। वे आनन्दप्रधान, जीव की भाँति प्रत्येक शरीर में विभिन्न, तत्तत् जीवों के नियामक-मात्र हैं। क्योंकि, जड और जीव के अन्तर्यामी-समूह में मुख्य अन्तर्यामी का एक-एक अंश ही प्रकट होता है।

वल्लभानुयायी कहते हैं, जैसे प्राकृत सत्त्व से पृथक् भगवद्धर्म-रूप विशुद्ध सत्त्व है, वैसे ही अप्राकृत रज और तम भी हैं। अप्राकृत सत्त्व स्वचिकीर्षित मत्स्य आदि आवृत्ति-विधानपूर्वक, अयःपिण्ड में वह्नि की भाँति उसमें आविर्भूत होकर तत्तत् कार्य करता है। इस विशुद्ध सत्त्वात्मक विग्रह में जगत् के स्थितिकार्य की चिकीर्षा में भगवान् अग्नि-अयोगोलक की भाँति आविष्ट होते हैं—इन्हीं का नाम विष्णु है। इस प्रकार, भगवान् जब अप्राकृत रजोविग्रह में आविष्ट होते हैं, तब ब्रह्मा और तमोविग्रह में आविष्ट होते हैं, तब शिव कहलाते हैं। ये तीनों ही गुणावतार हैं। अप्राकृत विग्रह होते हुए भी तीन गुणों के नियामक होने के नाते ये 'सगुण' हैं। पुराण में परब्रह्म कहकरे जो इनका गुण गाया गया है, उसका कारण यह है कि अंशी कृष्ण से इनका वास्तविक कोई भेद नहीं। यद्यपि यह गुणावतार हैं, तथापि विष्णु में चतुर्भुज, वनमाला, पीताम्बर आदि बहुसंख्यक पुरुषोत्तम-धर्म के प्राकट्यवश विष्णु ही उत्कृष्ट हैं।

भगवान् के रूप अनन्त हैं। सर्वरूप ही पूर्णब्रह्म हैं, इसलिए ज्ञानमार्ग में विषय और फल में कोई विशेष नहीं। उन्होंने क्रीडा के लिए जैसे जगत् रचा है, अपनी प्राप्ति के लिए वैसे ही भक्तिमार्ग को भी पृथक् किया है। विभूति-रूप में साधन और फल नियत हैं। पूर्ण फलदान के लिए स्वरूप या कृष्णरूप होना ही पड़ता है। सायुज्य ही पूर्ण या मुख्य फल है। वल्लभ-मत में सायुज्य से तात्पर्य ब्रह्मैक्य नहीं, भोग है। यह ज्ञानलभ्य नहीं, कृष्णसेवामात्र-लभ्य है। भगवान् के आविर्भूत होने पर ही भजन चलता है। इसलिए, यह बहिर्भजन है।

मुक्ति का स्वरूप :

मुक्ति दो प्रकार की है—सगुण और निर्गुण। जिस किसी देवता की उपासना की जाय, उसका मुख्य फल है, उससे सायुज्य। किन्तु, देवता सगुण हो, तो वह सायुज्य सगुण मुक्ति होगी, अन्यत्र निर्गुण मुक्ति। भगवान् के अतिरिक्त सभी सगुण हैं। इसलिए, कृष्ण-सायुज्य ही निर्गुण मुक्ति है। ज्ञानमार्ग में निर्गुण मुक्ति नहीं होती। अक्षर या कूटस्थ गुणानुरोधी, अथच निर्गुण। श्रवण आदि से उसका साक्षात्कार होता है—यही ज्ञानपथ है। ज्ञानमार्ग की मुक्ति कैवल्य या जीवन्मुक्ति है। कैवल्य 'सात्त्विक ज्ञान' है : 'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्।' यह सात्त्विक मुक्ति से भिन्न और कुछ नहीं। ज्ञानी संसार से भीत होकर विरक्त और ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होता है। यह सगुण भाव है। ज्ञान प्राप्त होने से जीवन्मुक्ति होती है ऐसी दशा में अभ्यास या आसक्ति नहीं रहती। जीवन्मुक्ति सगुण है; क्योंकि उस समय विद्या और अविद्या का वशवर्त्ती जीवभाव रहता है। विद्या और अविद्या सापाय—चरमवृत्ति तक गुण को स्वीकार करना पड़ता है। ब्रह्मभाव के बाद भक्ति का उदय होता है—गुणातीत में प्रवेश होता है। भक्ति नहीं होने से केवल जीवन्मुक्ति पाकर अवस्थान करना होता है, वह सनकादिवत् सगुण भावमात्र है। जीवन्मुक्ति तक सगुण भाव, फिर भक्तिलाभ से निर्गुणता। पहला केवल ज्ञान है, दूसरा ज्ञानभक्ति। प्रथम भाव के दृष्टान्त हैं सनक आदि, दूसरे के दृष्टान्त शुक आदि।

मार्ग का स्वरूप :

वल्लभाचार्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग का नामान्तर है **पुष्टिमार्ग**। भगवान् के अनुग्रह या कृपा को पुष्टि कहते हैं। यह भगवद्धर्म एवं काल का बाधक है। इससे लौकिक और अलौकिक अनेक प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं। फल के दर्शन से ही पुष्टि का अनुमान होता है। बलवत्-प्रतिबन्धक-निवृत्तिपूर्वक स्वपद की प्राप्ति-साधकता ही महापुष्टि है। फलतः, कर्म एवं स्वभावजनित बाधा ही बलवत्-प्रतिबन्धक है। दृष्टान्त-स्वरूप इन्द्र का नाम लिया जा सकता है। इन्द्र विश्वरूप, दधीचि और वृत्र के हन्ता थे। विश्वरूप कर्मी, दधीचि ज्ञानी और वृत्र भक्त। यह हत्याकार्य बड़ा दुष्कार्य है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, भगवत्कृपा से इसका अनिष्ट फल नहीं हुआ––दया करके भगवान् ने इन्द्र की रक्षा की थी। दिति-गर्भ में वज्रप्रहार के बाद भी इन्द्र का प्राणवियोग नहीं हुआ। यह पुष्टि का निदर्शन है। यहाँ वज्राघात का प्राणनाशकता-भाव बाधित हुआ, यह समझना होगा।

पुष्टि से चतुर्विध फल ही हो सकता है। भगवदंश कार्त्तवीर्य ने पुष्टि के निमित्त ही राजपद पाया था। देवहूति ने मुक्ति पाई थी। योग आदि वहाँ व्यापार-मात्र हैं। अजामिल का नाम लेना भी व्यापार या निमित्त-मात्र है। जिस पुष्टि से चतुर्वर्ग प्राप्त होता है, वह सामान्य पुष्टि है। विशिष्ट पुष्टि से भगवत्स्वरूपफलक भक्ति मिलती है। ऐसी पुष्टि से उत्पाद्य भक्ति का नाम पुष्टिभक्ति है। एकमात्र उनका (भगवान् का) अनुग्रह ही पुष्टिभक्ति पाने का उपाय है।

भक्तिमात्र ही भगवान् का अनुग्रहसापेक्ष है। सामान्य अनुग्रह से जो भक्ति होती है, वह मर्यादाभक्ति है।[1] विशिष्ट कृपा से जो भक्ति उत्पन्न होती है, उसका पारिभाषिक नाम पुष्टिभक्ति है। पुष्टिभक्ति से केवल भगवत्प्राप्ति ही आकांक्षा का विषय होती है, भगवान् से भिन्न फल की आकांक्षा नहीं रहती। पुष्टिभक्ति के आगे मोक्ष भी तुच्छ है। **पुष्टिभक्ति चार प्रकार की है :**

१. **प्रवाहपुष्टिभक्ति :** प्रवाह अहन्ता और ममतात्मक संसारप्रधान है। तद्धर्मयुक्त पुष्टिभक्ति में कर्मरुचि रहती है। इसमें भगवदुपयोगी क्रियाप्रवृत्ति रहती है।

---

१. वल्लभाचार्य कहते हैं : "कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते, ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिः मर्यादा। तद्रहितानामपि स्वस्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते॥" (अणुभाष्य, ३।३।२९) "साधनं विना स्वस्वरूपबलेनैव कार्यकरणं हि पुष्टिः।" (वही, ४।१।१३), "साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादा मार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा।" (वही, ४।२।७), "पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य : प्रमाणमार्गात् विलक्षणः।" (वही, ४।४।९), "मर्यादापुष्टिभेदेन वरणं द्विधोच्यते। तत्र सहकार्यन्तर-विधिस्तु मर्यादापदेनोच्यते पुष्टौ तु नान्यापेक्षा।" (वही, ३।४।४६)।

२. **मर्यादापुष्टिभक्ति** : मर्यादा में जीव की रागमूलक विषयनिवृत्ति निराकृत होती है और निवृत्तिमार्गीय धर्म में योजना होती है। इस कोटि की भक्ति विषयासक्ति-रहित होती है और भगवत्कथा आदि के श्रवण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

३. **पुष्टिपुष्टिभक्ति** : इस प्रकार के भक्त पुष्टिभक्त होकर भजनोपयोगी ज्ञानजनक अनुग्रहान्तर प्राप्त करता है और सर्वज्ञता-लाभ करता है। ये, भगवान्, उनके परिकर, लीला, प्रपंच आदि सब जानते हैं।

४. **शुद्धपुष्टिभक्ति** : इस कोटि के भक्त प्रेमप्रधान हैं। ये भगवान् की परिचर्या और गुणसमूह आदि का कीर्त्तन स्नेह और व्यसनवश ही करते हैं। ऐसी भक्ति बहुत ही दुर्लभ है।

शुद्ध पुष्टिभक्ति के धर्म-वर्णन को हरिराय ने २१ कारिकाओं में निबद्ध किया है (द्रष्टव्य : प्रमेयरत्नार्णव, पृ० १९–२४)। हम यहाँ उसका सारांश दे रहे हैं। इस मार्ग में भगवत्प्राप्ति ही फल है, किन्तु उसके लिए साधन की अपेक्षा नहीं है। अर्थात्, साधन का अभाव ही साधन-रूप में परिगणित होता है। अथवा फल (= भगवान्) आप ही अपना साधन हैं। सिद्धिलाभ केवल अनुग्रहसापेक्ष है, यत्नसापेक्ष नहीं, यत्न करने से विघ्न ही होता है। यहाँ भगवान् जीव की योग्यता का विचार करके जीव को अंगीकार नहीं करते। भक्त भी भगवान् के कार्य के गुण-दोष का विचार नहीं करते, केवल उत्तमता का बोध करते हैं। भक्त के पक्ष में रोदन, चौर्य आदि में हीनता एवं कालियदमन, दावाग्नि-मोक्षण आदि में माहात्म्यबोध नहीं है। स्वामी ही सभी चेष्टाओं के एकमात्र तात्पर्य हैं—वेद या लोक की अपेक्षा नहीं। इस मार्ग में भगवान् जीव को स्वेच्छा से अहेतुक वरण करते हैं। इसलिए, जो फल साधनसम्पन्न जीव नहीं पाता, वह नितान्त अयोग्य व्यक्ति भी पा जाता है। वियोगावस्था में भी आनन्द रहता है; क्योंकि भक्ति स्वरूपानन्दात्मक फल देने में स्वतन्त्र है—स्वरूपाविर्भाव की अपेक्षा नहीं रखती। भगवद्भाव के आधिक्य से लोकभय या पारलौकिक भय नहीं रहता। लगता है, भगवान् काल, धर्म, स्वभाव आदि सबके बाधक हैं। इस मार्ग में भगवान् से जीव का देहज या भावज सम्बन्ध फल-साधन है। सर्वेन्द्रिय से भगवान् का सम्बन्ध ही फलात्मक है। यह सम्बन्ध भी भगवदिच्छा से होती है। भगवत्सम्बन्धी से भगवद्बुद्धि होती है, उससे भिन्न विरोध ज्ञान होता है, उदासीन से साम्यबोध होता है। देह आदि का रक्षण स्वीयबोध से नहीं, भगवदीय बोध से होता है। विरहावस्था में भी भावी भगवदुपयोग समझकर देह का संरक्षण होता है। इस मार्ग में, भजन में सेव्य की उपकार-कृति नहीं, सेव्य केवल सेवक के प्रति भावपोषण-मात्र करते हैं। भगवान् फलदान करके भजन का अपवाद नहीं करते। विरह में मिलन की अपेक्षा अधिक सुख का आस्वादन होता है; क्योंकि उस समय प्रतिपल भीतर नई-नई लीला प्रकट होती है। साधन और फल विपरीत भाववाले हैं। भाव निरुपाधि-स्नेहात्मक है। अन्यनिरपेक्ष दैन्य भगवान् के आविर्भाव का हेतु है। विरहजन्य दैन्य के फल से सर्वतोभावेन विषयत्याग और देह आदि का समर्पण होता है। विषय-रूप में

विषय का त्याग तो होता है, परन्तु भगवदीय रूप में ग्रहण होता है; क्योंकि ममता-मात्र ही संसार है । जीव इस प्रकार सर्वदा भगवान् की स्मृति का विषय होता है ।

शुद्धाद्वैत-मत में जीव ब्रह्मरूप तो है, पर अंशात्मक रूप, अंश्यात्मक नहीं । अतएव, स्वाभाविक अंश को फिर पूर्वभाव के सम्पादन के लिए एवं अविद्या-दोष के निवर्त्तन के लिए भजन करना होता है । ऐश्वर्य आदि सम्पत्ति एवं अविद्या की निवृत्ति होने से ही भगवत्स्वरूपत्व-लाभ होता है । फिर भी, भगवत्कृत तारतम्य रहता है (द्रष्टव्य : सविवरण ब्रह्मवाद; पृ० २०) । मुख्य भक्त देह, लिंग या चिह्न एवं सौन्दर्य आदि गुणों के सम्बन्ध से भगवान् का साम्यलाभ करता है । परन्तु, वैचित्र्य के विना सम्यक् प्रकार से रमण नहीं होता, इसलिए तारतम्य रहता है । प्रश्न हो सकता है कि भजन की उपयोगिता से जो अविद्या-निवृत्ति होती है, वह समझ में आती है, परन्तु जिस अवस्था में अविद्या नहीं, ऐसे पुष्टिमार्ग में भजन की आवश्यकता क्या है ? इसका उत्तर है—वहाँ भी भजन है, यह शास्त्र से जाना जाता है । वैसे स्थल में भी लीला के लिए वियुक्त भगवदंशभूत जीव भजन के द्वारा उनसे सम्बद्ध होकर फल का अनुभव करता है । इसलिए, भजन का उपयोग है । अतएव, दोनों ही क्षेत्रों में भजन का साधनत्व देखा जाता है । परन्तु, भावात्मक होने के कारण भजन स्वयं फलस्वरूप है, इसलिए इसकी साधनता रहते हुए भी पुष्टिमार्ग की कोई हानि नहीं होती । क्योंकि, 'पुष्टिमार्गः स एव यत्र फलं स्वयमेव साधनम् ।' (द्रष्टव्य : ब्रह्मवाद, पृ० २२-२३) ।

ज्ञान, कर्म और भक्ति—इन तीन मार्गों की बात शास्त्र में मिलती है । अधिकार-भेद से प्रत्येक मार्ग ही फलप्रसू होता है । किन्तु, उसमें निष्ठा रहनी चाहिए—निष्ठा के अभाव में फललाभ की आशा बहुत दूर की बात है । निष्ठा का मूल साधन है । साधन के बिना किसी भी मार्ग से फल नहीं पाया जाता । ज्ञान में निष्ठा होने से सर्वज्ञता प्राप्त होती है । कर्मनिष्ठा का फल चित्तशुद्धि है और भक्तिनिष्ठा का फल भगवत्प्रसाद । जो यह सोचते हैं कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य के उपदेश से ही अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, वे भ्रान्त हैं । यदि यही होता, तो शिष्य वैसा उपदेश प्राप्त करते ही सर्वज्ञ हो जाता । परन्तु, ऐसा नहीं होता । तब, एकविज्ञान में सर्वविज्ञान अवश्यम्भावी है । अतएव, यह स्वीकार करना होगा कि साधारणतः ज्ञान के रूप में जो परिचित है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं । वैसे ही याग आदि कर्म के अनुष्ठान द्वारा भी उनका कर्ण लुब्ध हो पड़ता है—कर्म का मुख्य फल जो चित्तशुद्धि है, वह प्राप्त नहीं होती । प्रचलित भक्ति भी ज्ञान के अंग के रूप में परिचित है । भक्ति का विषय भी भावनाकल्पित है । इसीलिए भगवत्-उद्देश्य से भगवत्सेवा, जो भक्ति शब्द का मुख्य तात्पर्य है, वह सिद्ध नहीं होती । इसलिए, ऐसी ज्ञानांगभक्ति द्वारा भगवत्प्रीति नहीं होती ।

कालधर्म से आज सारे अधिकार ही एक प्रकार से लुप्त हो गये हैं । साधन के द्वारा अधिकार का अर्जन अब उतना सुखसाध्य या सहज नहीं है । अब भक्तिपूर्वक

(केवल विधिपूर्वक नहीं) भगवत्सेवा के सिवा फल पाने की कोई आशा नहीं। जीव का अधिकार न भी रहे, पर भक्ति-सम्पद् रहने से, भगवत्कृपा के बल से फल की प्राप्ति अवश्य होती है। कलियुग में भक्तियोग की सिद्धि के लिए अनुकूल समय है।

प्रपंच का स्वरूप :

वल्लभ-मत में प्रपंच मिथ्या नहीं—यह भगवत्कृति-जन्य, अथच भगवद्-रूपात्मक है, इसलिए सत्य है। वल्लभानुयायी भगवान् में माया नाम की एक अचिन्त्य शक्ति को स्वीकार करते हैं। इस शक्ति के प्रभाव से भगवान् दूसरे की सहायता के लिए निरपेक्ष भाव से सर्वाकार धारण कर सकते हैं। हम जिसे प्रपंच कहते हैं, वह भगवान् का ही आत्मरूप है, जो केवल मायाशक्ति के बल से प्रपंच-रूप में प्रतिभात होता है। माया के समान अविद्या भी उन्हीं की शक्ति है। इस शक्ति के वशीभूत होकर ही जीव संसार-दशा का भोग करता रहता है। प्रपंच और संसार—एक पदार्थ नहीं। 'मैं', 'मेरा' यही संसार का रूप है। अज्ञान, भ्रम आदि शब्द संसारवाचक या प्रपंचवाचक नहीं। प्रपंच ब्रह्मात्मक है, वह कभी अज्ञानकल्पित या भ्रान्त नहीं हो सकता। श्रुति में कहा गया है—'स वै न रेमे', 'तस्मादेकाकी न रमते', 'स द्वितीयमैच्छत्'—इससे यह ज्ञात होता है कि रमण या आनन्द के आस्वादन के लिए ही भगवान् प्रपंच-रूप में आविर्भूत होते हैं। प्रपंच के अन्तर्गत पुरुष, उसका किया हुआ साधन, उसका फल—सभी भगवान् के रूप हैं। ऐसी स्थिति में कोई अगर अपने को कर्त्ता या फलभोक्ता समझे, तो यह उसकी केवल भ्रान्ति ही है। यही 'मैं-मेरा'-रूप संसार है। अविद्यावश इस भ्रम का उदय होता है। जब तत्त्वज्ञान की स्फूर्त्ति होती है, जब सब कुछ भगवान् का रूप है, यह जाना जाता है, तब वह भ्रम या संसार निवृत्त होता है—परन्तु ब्रह्मात्मक प्रपंच की निवृत्ति नहीं होती। प्रपंच सत्य है, लेकिन आविर्भाव और तिरोभाव, उसकी ये दो अवस्थाएँ हैं। मुक्ति, अर्थात् जीवन्मुक्ति-काल में संसार की निवृत्ति होती है, परन्तु प्रपंच की निवृत्ति नहीं होती। उत्पादक और नाशक का पार्थक्य-निबन्धन संसार एवं प्रपंच का स्वरूपगत भेद अवश्य स्वीकार्य है। हजारों-हजार जीवों के मुक्त हो जाने पर भी प्रपंच का लोप नहीं होता। परन्तु, भगवान् जब रमण करने की इच्छा करते हैं, तब प्रपंच का रूप उनमें विलीन हो जाता है। इस अवस्था में जीवमात्र ही विश्राम-सुख का अनुभव करते हैं। परन्तु, यह मुक्ति नहीं है। मुक्ति में अध्यास नहीं रहता, संसार निवृत्त होता है, और इस अवस्था में अध्यास का अभिभव-मात्र होता है, तभी प्रपंच का लय होता है। भगवान् की इच्छा ही प्रपंच की उत्पत्ति और विनाश का कारण है। जीव के संसार-भ्रमण का कारण अविद्या है। विद्या के उदय से अविद्या की ही निवृत्ति होती है, प्रपंच की निवृत्ति नहीं होती।

अविद्या का विनाश होने से जीव की मुक्ति होती है। विद्या से अविद्या का विनाश तो होता है, पर वह सम्यक् विनाश नहीं। इसीलिए, वह मुक्ति भी यथार्थ मुक्ति

नहीं। समवायी के नाश से ही कार्य का सर्वथा विनाश होता है। विद्या सात्त्विक है, उसके द्वारा स्वजनक माया का विनाश नहीं होता। और, जबतक माया है, तबतक सूक्ष्म रूप से अविद्या अवश्य ही रहेगी। अतएव, विद्या का फल अविद्या का अभिभव-मात्र है, यथार्थ विनाश नहीं। अविद्या से जो देह, इन्द्रिय और प्राण का अध्यास उदित होता है, विद्या द्वारा केवल वही उपमर्दित होता है, फलस्वरूप जन्म और मरण से छुटकारा मिलता है। परन्तु. अध्यास नहीं रहने पर भी देह आदि के प्रपंचान्तर्गत होने के कारण उसके स्वरूप का लोप नहीं होता। यह भी एक प्रकार का मोक्ष है। इसका दूसरा नाम है—बन्धनिवृत्ति। पीताम्बर कहते हैं : "सहेतुकस्य सकार्यस्य बन्धस्योपमर्दरूपोऽभावो विद्याकृतमोक्षः।" परन्तु, विश्वमाया-निवृत्ति ही यथार्थ मुक्ति है, वह विद्या से नहीं पाई जा सकती। विद्याजन्य मोक्ष में अविद्या स्वकारण माया में रहती है। वल्लभ-मत में माया ही देहात्मक धातु का कारणभूत है। माया में अविद्या रहती है, इसलिए तत्प्रत्यासन्न अन्तःकरण में कुछ अविद्या-मल रह जाता है, देह आदि का अध्यास अवश्य नहीं रहता।

प्रश्न हो सकता है—यदि देह आदि में अध्यास नहीं रहता, तो देह आदि की स्मृति बिलकुल नहीं रह सकती। देह आदि की अत्यन्त विस्मृति ही मृत्यु है। ऐसी अवस्था में देह आदि में अध्यास नहीं रहने से देह आदि की स्थिति किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्र और लोकप्रसिद्धि के अनुसार जीवन्मुक्ति की अवस्था देह की स्थिति में भी विद्यमान रहती है, ऐसा प्रतीत होता है। अतएव, देह आदि में अध्यास नहीं रहने से भी उसका अवस्थान सम्भव है, यह मानना ही पड़ता है। अतएव, संसार के कट जाने से भी प्रपंच की सत्ता बाधित नहीं होती।

जबतक जीव का जीवत्व रहेगा, तबतक संघात का लय होने से भी पुनरुद्भव की सम्भावना रहेगी। क्योंकि, उस अवस्था में देह आदि संघात पंचत्व-प्राप्त होते हैं, मूल कारण में विलीन नहीं होते। परन्तु, जीवभाव की निवृत्ति होने से, अर्थात् जीव के ब्रह्मभूत होने से या अक्षर में लीन होने से संघात मूल कारण में लीन हो जाता है, इसलिए और कोई चिन्ता नहीं रहती।

ब्रह्म विभु वस्तु है। किन्तु, प्रलयकालीन आत्मरमण के बाद जब सृष्टि का प्रारम्भकाल आता है, तब उनका विभुत्व तिरोहितप्राय हो जाता है। उनका पहला कार्य है इच्छाशक्ति और उसके बाद त्रिगुणात्मिका सूक्ष्मरूपा मायाशक्ति का प्रकाश। इस माया से वह परिच्छिन्न-से होते हैं, अर्थात् उनकी व्यापकता तिरोहित-सी हो जाती है। तब देश प्रकट होता है, मायाबल से अंशसमूह परिच्छिन्न होता है और इस परिच्छिन्न अंश द्वारा वह व्याप्त होकर अवस्थान करते हैं। माया ब्रह्म से अभिन्न शक्ति है। शांकर-सम्प्रदाय के अभिमत सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय माया को वल्लभाचार्य स्वीकार नहीं करते।

वल्लभाचार्य कहते हैं, ब्रह्म अखण्ड और अविभक्त वस्तु होते हुए भी उनमें अनन्त रूप हैं। इन रूपों में परस्पर कोई भेद नहीं। इच्छावश अनन्त रूप का प्राकट्य-निबन्धन उनमें विभाग है, ऐसा लगता-भर है। यही ब्रह्मस्वरूप है—सृष्टि का उपादान। ब्रह्म के बहु होने का संकल्प या भावना सृष्टि का निमित्त है। यह भावना सत्य और विषय की अव्यभिचारिणी है।

उस (भगवान्) की इच्छा से, उनसे ही उन्हीं का स्वरूपभूत असंख्य चिदंश प्रथम सृष्टि में आविर्भूत होता है। भगवत्स्वरूप होने के कारण ये सब चिदंश साकार होते हुए भी उच्च-नीचभावेच्छानिमित्त निकलने के लिए निराकार होकर ही जनमते हैं। शास्त्र में जीव कहकर इनका वर्णन किया गया है। इन सब जीवों का स्वरूप और धर्म दोनों ही चैतन्य हैं। ब्रह्म के सदंश से जडसृष्टि और आनन्दांश-रूप में अन्तर्यामी-समूह का प्रादुर्भाव होता है। जीव जैसे असंख्य हैं, वैसे ही अन्तर्यामी भी असंख्य हैं। प्रत्येक हृदय में हंसरूप जीव और अन्तर्यामी—दोनों की स्थिति है। अतएव, सच्चिदानन्द ब्रह्म का सदंश जड, चिदंश जीव एवं आनन्दांश अन्तर्यामी या परमात्मा है। जड में चैतन्य और आनन्द तिरोहित रहता है, जीव में आनन्द तिरोहित रहता है। आनन्द ही भगवान् का आकार है—उसके लोपवश जड और जीव दोनों निराकार हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि जीव चित्-प्रधान ब्रह्मांश है, उसमें आनन्दांश तिरोहित रहता है। इस तिरोहित आनन्दांश के आविर्भूत होने से ही पूर्ण सच्चिदानन्द-भाव प्रकटित होता है और व्यापकत्व आदि धर्मों का आविर्भाव होता है। यही ब्रह्मसाम्य या ब्रह्मभाव है।[1] अग्निव्याप्त अयोगोलक में जिस प्रकार दाहकता आदि धर्मों की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार ब्रह्मभूत जीव की देह में भी वैसे जीवगत चिदानन्द का आविर्भाव होता है। वैसी स्थिति में देह का जडत्व नहीं रह जाता, उसकी त्रिगुणात्मकता कट जाती है और ब्रह्मरूपता आविर्भूत होती है। देही जीव भी तब भोक्ता नहीं रह जाता, ब्रह्मरूप में प्रकाश पाता है। तिरोहित आनन्द का प्राकट्य एकमात्र भगवान् का इच्छा-मूलक है। उनकी इच्छा स्वतन्त्र है। वह वैसे अव्यक्त आनन्दांश को जगाकर किसी को ब्रह्मभाव प्रदान करते हैं और किसी को अक्षरसायुज्य देते हैं।

स्वरूपतः एक होते हुए भी भगवान् अनेक प्रकार से सृष्टि करते हैं। कभी साक्षात् भाव से करते हैं, कभी परम्परा से। पुरुष, ब्रह्मा आदि द्वारा सृष्टि पुराण और पांचरात्र-शास्त्र में प्रसिद्ध है। कभी-कभी भगवान् स्वयं ही प्रपंच-रूप धारण करते हैं। और, दूसरे समय महान् ऐन्द्रजालिक की भाँति मायिक सृष्टि भी करते हैं। मायिक सृष्टि के अतिरिक्त अन्य सृष्टि में भगवान् स्वयं अनुप्रविष्ट रहते हैं। मायिक सृष्टि में ज्ञान आदि की फलसाधकता नहीं होती। वेद में आकाश आदि क्रम से क्रम-सृष्टि की चर्चा भी है।

१. पुरुषोत्तम ने कहा है : "जीवोऽणुरपि ब्रह्मभावेऽणुत्वाविरोधेनैव व्यापकः सकलजगदाधारो भवति।" (अणुभाष्यप्रकाश, २।३।३०)

असल बात यह कि सृष्टि अनेक प्रकार की है। भगवान् की शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है। इस सृष्टि-वैचित्र्य के वर्णन द्वारा वेद आदि शास्त्रों ने भगवान् के माहात्म्य का ही किंचित् वर्णन किया है। माहात्म्य-वर्णन का प्रधान उद्देश्य है भक्ति का प्रतिपादन।

मुक्ति का उपाय :

वल्लभ-मतानुसार, माहात्म्य का ज्ञान नहीं होने से भक्ति का उदय नहीं होता। भक्ति दृढ और गाढ स्नेहविशेष है। भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् दर्शन देते हैं। भगवान् के प्रसाद के अलावा उनके साक्षात्कार का और कोई उपाय नहीं है। अतएव, भक्ति ही मुक्ति का हेतु है। अविद्या जैसे पंचपर्वात्मिक है, विद्या भी वैसे ही वैराग्य, सांख्य, योग, तप और भगवद्भक्ति-विशिष्ट पंचपर्वात्मक है। पहले विषय से वितृष्णा जन्म लेती है, उसके बाद नित्य-अनित्य वस्तु-विवेकपूर्वक सर्वत्याग होकर एकान्त में अष्टांग योग का अनुष्ठान तथा विचारपूर्वक आलोचना होती है। सबके अन्त में निरन्तर भावना के फलस्वरूप परम प्रेम उपस्थित होता है। यही प्रेम ही यथार्थ ज्ञान या विद्या है। इसके प्रभाव से जीव भगवान् में प्रवेश अथवा मुक्ति पाने का अधिकारी होता है। विद्या और अविद्या जब भगवत्-शक्ति है, तब भक्ति की भगवत्-शक्ति है, यह निस्सन्देह है। हमने मुक्ति की उपायरूपा जिस भक्ति की बात बताई, वह, या मर्यादाभक्ति, स्वतन्त्र और अहेतुक भक्ति या प्रेमरूपा नहीं। जहाँ भी, जब भी, जिस किसी भाव से ही मुक्ति हो, उसका मूल कारण भगवत्प्रसाद है। इसलिए, सब कुछ छोड़कर दृढ विश्वास से भगवान् का ही भजन करो, यही भक्तिवाद का आदर्श है।

प्रमेय वस्तु या तत्त्व :

वल्लभानुयायी कहते हैं, ब्रह्म ही एकमात्र प्रमेय वस्तु है। समझने की सुविधा और तारतम्य-ज्ञापन के उद्देश्य से आचार्यों ने इस वस्तु के तीन प्रकार बताये हैं। पहला स्वरूप, दूसरा कारण या तत्त्व और तीसरा कार्य। ब्रह्मतत्त्व के वर्णन-प्रसंग में इस प्रकार के भेद का विवरण मिलता है। उनमें स्वरूपात्मक ब्रह्मज्ञानविशिष्ट, क्रियाविशिष्ट और ज्ञान-क्रिया-उभयविशिष्ट—ये तीन प्रकार हैं। वेद के पूर्वकाण्ड की प्रतिपाद्य वस्तु यज्ञ है। यद्यपि, यह तात्पर्यतः क्रियाविशिष्ट भगवदात्मक है, तथापि अनुष्ठान से फल के अनुभव तक की अवस्था में साधनात्मक क्रियारूप ही प्रतीत होता है। उसी प्रकार ज्ञानकाण्ड की प्रतिपाद्य वस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्म है। इसके रूप, गुण और शक्ति—सब अनन्त हैं। यद्यपि, इसमें सन्देह नहीं कि यह ज्ञानविशिष्ट भगवत्स्वरूप है, तथापि स्वरूपासत्ति से चरमवृत्ति के उदय तक यह ज्ञानरूप में ही प्रतीत होता है। गीता और भागवत आदि ग्रन्थों में जो स्वरूप प्रतिपादित हुआ है, वह चूँकि भक्ति का विषय है, इसलिए ज्ञानक्रियाविशिष्ट है, साकार एवं अनन्त गुणपूर्ण है। यही कृष्ण या पुरुषोत्तमपदवाच्य है। परम भक्ति के फल से भगवान् का यह साकार रूप ही प्रकट होता है। अक्षरतत्त्व, कर्मतत्त्व, कालतत्त्व, स्वभाव—सब ब्रह्म-स्वरूप के अन्तर्गत हैं। अन्तर्यामी स्व-रूपात्मक होने पर भी जीव के साथ

कार्यक्षेत्र में अनुप्रविष्ट रहता है, इसलिए अनन्तभेदविशिष्ट है। परन्तु, फिर भी यह कारणात्मक तत्त्वसमष्टि में प्रविष्ट होकर उसकी सहायता करता है। इसलिए, अन्तर्यामी कारणब्रह्म के अन्तर्गत है। वल्लभ-मत में कारणात्मक तत्त्वों की संख्या अट्ठाईस है। उनमें सांख्यसम्मत पच्चीस तत्त्व एवं सत्त्व आदि गुणत्रय के अन्तर्गत हैं। कहना न होगा कि, इस मत में प्रकृति और गुणत्रय में परस्पर धम-धर्मी-भाव अंगीकृत हुआ है। कहीं-कहीं सांख्य से तत्त्व का लक्षणगत पार्थक्य भी मिलता है। वल्लभ-मत से पुरुष का निर्विषयक केवलानुभव स्वीकृत होता है। स्वरूपतः उसमें अहन्ता नहीं रहता। पुरुष एक, अभिन्न और चित्-रूप है। जीवत्व और ईश्वरत्व केवल अवस्था-भेदमूलक है, स्वाभाविक नहीं। अवस्था-भेद का हेतु है विभिन्न प्रकृति से सम्बन्ध। व्यामोहिका और मूला प्रकृति दो प्रकार की है। पुरुष जब भगवदिच्छावश मोहिनी प्रकृति को अंगीकार करते हैं, तब इसके व्यापारभूत मोहक गुण से आबद्ध होकर जीवावस्था प्राप्त करते हैं। और, जब मूला प्रकृति को ग्रहण करते हैं, तब स्व-रूपस्थ रहते ही जगत् का कारण हो पड़ते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि एक ही पुरुष के एक अंश में मूला प्रकृति और दूसरे अंश में मोहिनी प्रकृति अवस्थित है। दोनों के अधिष्ठाता एक ही पुरुष हैं। यह भगवान् के अंश हैं। परन्तु, ईश्वर स्वयं भगवान् हैं। ज़ीव चिन्मय है, इसलिए पुरुष का सजातीय होते हुए भी पुरुष से पृथक् है। जीव को पुरुष का अंश भी कहा जा सकता है। जो भी हो, पुरुष-अंश ही हो या अक्षर अंश, जीव भगवदंश है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ब्रह्म के रूप है या नहीं, ऐसा प्रश्न बहुतों के मन में उठता है। आचार्य कहते हैं कि 'रूप' शब्द का अर्थ व्यवहार[1] का विषय या व्यवहार का साधन—दोनों ही हो सकते हैं। इसके किसी भी अर्थ में ब्रह्म की रूपवत्ता स्वीकार्य नहीं। रूप और रूपवान् परस्पर भिन्न हैं, यह लौकिक प्रतीतिसिद्ध है। ब्रह्म कभी रूपाभिमानी नहीं हो सकते, वस्तुतः रूप भी ब्रह्मात्मक है, ब्रह्म से रूप का कोई भेद नहीं। इसीलिए, '**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि**' आदि शास्त्र-वचन में भगवान् और भगवद्देह की चिदानन्दमयता को समान भाव से अंगीकार किया गया है।

यह चिदानन्द ही रसपदार्थ है। यही जीव के प्राणधारण की प्रयोजक और आनन्ददायक वस्तु है। इसकी हृदयाकाश में अभिव्यक्ति होती है। रसशास्त्र में रस का जो विवरण मिलता है, वह रसस्वरूप भगवान् का ही कार्यभूत अंश है। रसाभिव्यंजना की प्रणाली भिन्न-भिन्न है, इसीलिए रस वास्तव में एक होते हुए भी अनेक रूप में प्रकाशमान होता है। वास्तव में, परब्रह्म ही प्रणाली-विशेष हृदय में आविर्भूत होकर रसपदवाच्य होते हैं। अनन्य भक्ति के विना ऐसा आविर्भाव सम्भव नहीं। लेकिन, बाह्य रूप में भगवान् का आविर्भाव भी रसात्मक है, यह अवश्य स्वीकार्य है। 'विद्वन्मण्डन'-टीका में पुरुषोत्तम ने कहा है : '**बहिराविर्भूतस्यापि भगवतो रसत्वमबाधमेव।**' एक बात और। भगवान् जैसे

१. ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के व्यापार को 'व्यवहार' कहा गया है।

रसरूप हैं, वैसे ही वह सभी रसों के भोक्ता भी हैं। रस होते हुए भी वह रसवान् हैं। रस की गणना में श्रृंगार रस का स्थान ही प्रधान है। श्रृंगार रस रति नामक स्थायी भावमय है। अतएव, भगवान् स्वरूपतः रति होकर भी रतिमान् हैं। रति का जो आलम्बन-विभाव है (जैसे व्रजगोपी), उसके भावानुसार भगवान् श्रृंगार-रसात्मक हैं। आलम्बन जैसा होता है, उसके प्रति भगवान् का भाव भी वैसा ही होता है। यह स्मरण रखना होगा कि भाव भी भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु नहीं। भगवान् स्वयं रति और स्वयं ही उसके अस्वादनकर्त्ता हैं।[1] जो यह सोचते हैं, लीला अनुकरण-मात्र है एवं प्रिया का विरह तथा उसके क्लेश आदि पूर्णज्ञानमय परमानन्दघन सर्वव्यापक भगवान् में सम्भव नहीं, उन्हें याद रखना चाहिए कि लीलागत विरह भगवान् में पूर्णत्व का बाधक नहीं। और, लीला जो केवल अनुकरण है, यह भी ठीक नहीं। भगवान् श्रृंगार रस-स्वरूप हैं, यदि यह सत्य हो, तो प्रियाविरह और मिलन एवं उसके कार्य आदि उनमें असम्भव हैं, यह कहकर वस्तुसत्य को उड़ा देने का कोई हेतु नहीं और उससे ब्रह्मत्व की हानि भी नहीं होती। क्योंकि, ब्रह्म-वस्तु में सारे ही विरुद्ध धर्मों का समावेश है। श्रुति यही कहती है और सिद्ध भक्तगण भी इसका अनुभव करते हैं। उनकी अचिन्त्य महिमा सर्ववादिसिद्ध है।

भगवान् की भाँति उनका धर्म भी नित्य और सच्चिदानन्दरूप है। जिन सब भक्तों को वह स्वकीय ऐश्वर्य आदि धर्म प्रदान करते हैं, वह धर्म, जबतक उनकी इच्छा होती है, तबतक उनमें अवस्थान करता है। इसीलिए, वैष्णवाचार्यों ने लीला को भी नित्य और चिन्मयी कहकर उसकी व्याख्या की है। अनायास क्रियमाण कर्म को लीला कहते हैं। यह प्रतियोगी-सापेक्ष और प्रतियोगी-निरपेक्ष—दो प्रकार की है। जागतिक क्रियामात्र ही पहली कोटि में है। परन्तु, भगवत्-लीला में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं। जो हो, यदि लौकिक दृष्टि के अनुसार आलोचना की जाय, तो लीला और तत्सम्बन्धी नित्यता के बारे में क्या-क्या बाधक या कल्पित हो सकता है, उसका निर्वाचन आवश्यक है। पुरुषोत्तम महाराज ने अट्ठाईस सम्भाव्य बाधकों का उल्लेख किया है और यह दिखाया है कि भगवत्-लीला की नित्यता के सम्बन्ध में उनमें एक भी प्रयोज्य नहीं। भगवान् का नाम भी लीला के समान नित्य है। उनका जो नाम कर्मविशिष्ट रूपसम्बन्धी है, उस कर्मविशिष्ट रूप का वह नाम नित्य ही है। पर, संसार में भक्तों के विभिन्न रसानुभव के लिए कभी किसी अंश का आविर्भाव होता है, कभी किसी अंश का आवरण, यही विशेष है। विट्ठलनाथ कहते है : "लोके परं तेषां भक्तानां तत्तद्रसानुभवार्थं क्रमेणाविर्भावः कस्याप्यंशस्य, कस्यचिदाच्छादन-मित्येवं मन्तव्यम्। तेन भगवान् गोवर्द्धनमुद्धरन् सदा वर्त्तत इति। गोवर्द्धनोद्धरणधीर इति

१. द्रष्टव्य : "तस्य तस्य रसस्य तादृक् तादृग्रूपत्वाद् रसस्य भगवद्रूपत्वाद् यत्र यो रसो यादृशो यावद्विधः शास्त्रसिद्धस्तत्र तादृशः तावद्विधः स रसो भगवानेव। रसश्चांशश्चैक एव। तथा च तत्रत्या सर्वा सामग्री तद्रूपैव।" (विद्वन्मण्डनम्, पृ० १९२)

क्रियानामभ्यां सहितो गोवर्द्धनोद्धरणरूपः सदा वर्त्तते। अतएवाद्यापि भक्तानां तथानुभवः क्वचित्।" प्रकृति में भजन और स्मरण की व्यवस्था है। यदि रूप अनित्य हो और भगवदात्मक न हो; तो उसमें भगवद्‌भावना अपराध गिनी जायगी। वह भगवान् की प्रसन्नता के लिए भजन नहीं। परन्तु, उस तरह से भजन करके भगवत्प्रसाद पाया जा सकता है, यह सत्य है। रूप होने से नाम की भी आवश्यकता है—नाम भी गुणकर्म के अनुरूप और नित्य है। वास्तव में, भगवान् के नाम, रूप, गुण, कर्म सभी नित्य और चिन्मय हैं।[१]

---

१. द्रष्टव्य : "मदुक्तान्यपि नामधेयानि न मया कृतानि किन्तु पूर्वसिद्धान्येव मयाऽनूद्यन्ते परम। ते सुतस्य बहूनि नामानि रूपाणि सन्तीति समभिव्याहरवशादनन्तसुतत्वमप्यभावीति ज्ञेयम्। गर्गस्यापि नामकरणलीलामध्यपातित्वेन तदागमनादिवचनानामपि नित्यत्वेऽनादित्वमेव। पूर्वसिद्धाया एव लीलाया भगवदिच्छया क्रमेणाविर्भावः।" ([illegible])

सहज और सिद्ध-धारा

प्रथम अध्याय

सहजयान और सिद्ध मार्ग

आजकल बौद्धसाहित्य और बौद्धदर्शन की भूयसी आलोचना हो रही है। हीनयान और महायान दोनों ही सम्प्रदायों के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ एवं सारगर्भ निबन्ध आदि प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। परन्तु, साधना और सिद्धान्त के विषय में तान्त्रिक महायान के मत की स्थिति क्या है तथा उससे अन्यान्य मार्गों का सम्बन्ध क्या है, इसकी सम्यक् आलोचना नहीं हुई है। ऐसी आलोचना के विना भारतीय दर्शन और धर्ममत का विकास, विशेषतः मध्ययुग की साधना और चिन्तन का इतिहास बोधगम्य नहीं हो सकता। कालधर्म से प्राचीन महायान से मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान नामों से जो सब पन्थ उद्‌भूत हुए थे, उनमें प्रत्येक का स्वरूप और वैशिट्य क्या है एवं अन्यान्य भारतीय साधनमार्गों से उनका साधर्म्य और वैधर्म्य कितना है, ऐतिहासिकों के लिए यह जानना एकान्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जो थोड़ा ऐतिहासिक तथ्य प्रकाशित हुआ है, वह अधिकांश, पूजनीय **महामहोपाध्याय स्व० हरप्रसाद शास्त्रीजी** की अनुसन्धित्सा का फल है। परन्तु, ऐसा लगता है कि इस सम्बन्ध में अब भी पर्याप्त आलोचना की आवश्यकता है। शास्त्रीजी ने 'बौद्धगान ओ दोहा' नाम के चार ग्रन्थ[1] सहज-सम्प्रदाय के प्रकाशित किये हैं। वंगीय एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता में संरक्षित हस्त-लिखित बौद्धग्रन्थों के प्रसंग में[2] शास्त्रीजी ने वज्रयान, सहजयान आदि सम्प्रदायों के ग्रन्थों की कुछ-कुछ आलोचना की है। सम्प्रति, बड़ौदा से 'साधनमाला' तन्त्र का एक खण्ड प्रकाशित हुआ है। यह वज्रयान-सम्प्रदाय का संग्रह है। अद्वयवज्र-कृत संग्रह, इन्द्रभूति की ज्ञानसिद्धि, अनंगवज्र की प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि भी शीघ्र ही प्रकाशित होने को हैं। इन सब ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों की सुचारु रूप से आलोचना आवश्यक है। साथ-साथ मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरक्ष-प्रवर्त्तित सिद्धमार्ग या नाथपन्थ एवं श्रीविद्या आदि तान्त्रिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त और साधना भी आलोचनीय हैं। प्राचीन रसमार्ग (रसायनशास्त्र) भी उसी एक धारा का विकास है।

विषय बड़ा ही दुरूह है। साक्षात् भाव से योगमार्ग में संचरण का अधिकार नहीं रहने से जो अनुभूतियाँ बोधगम्य नहीं होतीं, उन सब अनुभूतियों की साधारण रूप से

---

१. (क) चर्याचर्यविनिश्चय, (ख) दोहाकोश : सरोजवज्र-कृत, (ग) वही, कृष्ण-पादाचार्य-कृत (सहजाम्नायपंजिका) और (घ) डाकार्णव।

२. A Descriptive Catalogue of sanskrit Manuscripts in the Government Collcetion under the care of the Asiatic Society of Bengal : by M.M. Harprasad Sastri, M.A., C.I.E, F.A.S.B., Vol, I, Buddhist Manuscripts, PP. IX+99, 1917,

आलोचना नहीं हो सकती। क्योंकि, उससे बहुतों के भ्रान्त होने की आशंका रहती है। और फिर, ऐसी आलोचना यथासम्भव सर्तकतापूर्वक नहीं होने से सत्य के आविष्कार की सम्भावना निरुद्धप्राय रहती है। दृष्टान्त के लिए, कहा जा सकता है कि ऐसी आलोचना के विना वज्रयान, मन्त्रयान या सहजयान से सिद्धमार्ग, आगममार्ग आदि का योगसूत्र कहाँ है और प्रत्येक का वैशिष्ट्य ही कहाँ है, इसका निर्णय होना असम्भव है। ऐसी आलोचना से एक दिन सत्य-निर्णय होगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

पूजनीय शास्त्रीजी कहते हैं कि मन्त्रयान के बाद वज्रयान और उसके बाद कालचक्रयान का आविर्भाव हुआ था। सहजयान वज्रयान का प्रायः समकालीन है। नाथमार्ग में हठयोग का प्राधान्य था। यही नहीं, सम्भवतः नाथपन्थी ही हठयोग के प्रवर्त्तक थे। नाथपन्थी अपना परिचय योगी कहकर देते थे। शास्त्रीजी की धारणा है, यह सम्प्रदाय बौद्धसंघ के बाहर था। हठयोग की साधन-प्रणाली षट्चक्र-भेद और फलसिद्धि है। मुक्ति इसका लक्ष्य नहीं। कालक्रम से यह सम्प्रदाय बौद्ध-सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त हो गया। शास्त्रीजी के मत से यह मत्स्येन्द्रनाथ-प्रवर्त्तित सम्प्रदाय की बात है। गोरक्षनाथ के सम्बन्ध में उनका विश्वास और ही प्रकार का है। उनका खयाल है, पहले गोरक्षनाथ एक वज्रयानी बौद्ध थे। उस समय उनका नाम था रमणवज्र। बाद में, बौद्ध-सम्प्रदाय को छोड़कर उन्होंने गोरक्षनाथ नाम ग्रहण किया। तन्त्र के बारे में शास्त्रीजी का मत है कि यह भारतवर्ष का निजस्व नहीं है, सम्भवतः शकदेश से मग ब्राह्मणों के साथ यह भारत में आया था।

अब प्रश्न है, क्या इन सम्प्रदायों की शिक्षा और साधना में कोई समता नहीं पाई जाती? यदि पाई जाती है, तो वह क्या है? केवल दैशिक अथवा कालिक व्यवधान एवं बाह्य आचार के वैचित्र्य से किसी सम्प्रदाय की तात्त्विक स्थिति ठीक से समझी नहीं जा सकती। मेरी समझ में ऐतिहासिक विकास की आलोचना से पहले तत्त्व-विचार आवश्यक है। क्योंकि, हम यह जानते हैं कि एक ही बीज विभिन्न क्षेत्र में पड़ने से और प्राकृतिक शक्ति तथा कृत्रिम परिकर्म आदि सहकारी कारणों का तारतम्य रहने से भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम मिलते हैं। वे सब परिणामवैचित्र्य आकस्मिक नहीं होते हुए भी बीजगत भेद के दृष्टान्त नहीं। उसी प्रकार, एक अभिन्न साधना और सिद्धान्त देश, काल और अधिकार-भेद से विभिन्न प्रकार के रूप ग्रहण करता है। अन्तर्दृष्टि न हो, तो उस बाहरी भेद से मोहित होकर मूलगत ऐक्यसूत्र को देखा नहीं जा सकता।

इसलिए, हम पहले आलोच्य विषय के तत्त्व-निर्देश की चेष्टा करेंगे। प्रसंगतः, तत्त्वविषयक साधर्म्य और वैधर्म्य की भी आलोचना रहेगी। इस प्रकार, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के मूल सूत्र का भेदाभेद निश्चित होने से ऐतिहासिक आलोचना, बहिरंग आचार का क्रम-विकास और समाज के नैतिक एवं आध्यात्मिक अंग पर उसका प्रभाव—अपेक्षाकृत सहज रूप से आलोचित हो सकेगा।

सहज-सम्प्रदाय के प्रकाशित ग्रन्थों की ठीक से आलोचना करने से यह समझ में आता है कि जिस पथ से आगम और सिद्धमार्ग का उद्भव हुआ है, वह भी उसी पथ का प्रदर्शक है। जिन्होंने हठयोग का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि हठयोग की मूल बात ही है--चन्द्र और सूर्य को एकावस्थापन्न करना। तन्त्र की सांकेतिक भाषा में 'ह्'-कार और 'ठ'-कार चन्द्र और सूर्य के वाचक हैं। अतएव, 'ह्'-कार और 'ठ'-कार के योग से चन्द्र-सूर्य का एकीकरण समझना होगा। परिभाषा के भेद से यही इडा और पिंगला नाडी अथवा अपान और प्राणवायु का समीकरण नाम से आख्यात होता है। हठयोगी कहते हैं कि वैषम्य ही जगत् की उत्पत्ति और दृश्यमानता का मूल कारण है। जिससे जगत् फूट उठता है, वह जबतक साम्य अवस्था में वर्त्तमान रहता है, तबतक जगत् नहीं रहता। वह अद्वैत या प्रलय-अवस्था है। साम्य-भंग होने से ही वैषम्य, द्वन्द्व या द्वैतभाव का उदय होता है--यही सृष्टिबीज है। जो विरोधी दो शक्तियाँ परस्पर एक-दूसरे का उपमर्दन करके स्थिति-रूप में निष्क्रिय भाव से वर्त्तमान रहती हैं, वे जब समत्व का त्याग करती हैं, उनमें जब गुणप्रधान भाव जाग उठता है, तब सृष्टि और संहार का व्यापार सूचित होता है। बहिःशक्ति की प्रधानता से सृष्टि एवं अन्तःशक्ति की प्रधानता से संहार होता है। स्थिति दोनों शक्तियों की समानता का निदर्शन है। इन दोनों शक्तियों को भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न नाम दिये जाते हैं। शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति आदि शब्द मूलतः इस आदिद्वन्द्व के ही वाचक हैं। जीवदेह में प्राण और अपान-रूप में इन विरुद्ध, किन्तु परस्पर सम्बद्ध शक्तियों का ही विकास हम देखते हैं। प्राण और अपान दोनों एक दूसरे का आकर्षण और प्रत्याकर्षण करते हैं। दोनों मिलकर एक होना चाहते हैं, पर हो नहीं पाते। क्योंकि, प्राण जिस अनुपात में जाग उठता है, अपान उसी अनुपात में सुप्त हो पड़ता है; इसके विपरीत अपान के उदय के अनुपात से प्राण निष्क्रिय होता है। अतएव, किसी भी समय दोनों शक्तियाँ समान भाव से जाग्रत् नहीं रहने के कारण आपस में मिल नहीं सकतीं। यदि अपान या प्राण को जगाकर, या यथाक्रम उन्हें उद्बुद्ध कर परस्पर एक को दूसरे से मिलाया जा सके, तो अवश्य ही दोनों का साम्य हो सकता है। परन्तु, साधारणतः यह होता नहीं। स्वाभाविक निःश्वास-प्रश्वास ही पूरक और रेचक तथा दोनों का समीकरण कुम्भक है। जबतक श्वास-प्रश्वास का व्यापार होता है, तबतक इडा-पिंगला-मार्ग क्रियाशील रहता है। श्वास और प्रश्वास समान होने से सुषुम्णा-द्वार खुल जाता है। अतएव, प्राण और अपान की समता, इडा और पिंगला का साम्य या निष्क्रियता, पूरक और रेचक की समानता या कुम्भक, सुषुम्णा-द्वार का उन्मोचन --यह सभी समानार्थक हैं।

सुषुम्णा-पथ ही मध्य पथ है--शून्य पद्वी या ब्रह्मनाडी। चन्द्र और सूर्य को यदि प्रकृति और पुरुषस्थानीय माना जाय, तो चन्द्र-सूर्य का मिलन कहने से प्रकृति-पुरुष का आलिंगन ही समझना होगा। इस आलिंगन के विना शून्यपथ खुल ही नहीं सकता। और, शून्यपथ खुलते ही प्रकृत शून्य में स्थिति नहीं होती। शून्यता भी आपेक्षिक है।

इस आपेक्षिकता को दिखाने के लिए हठयोगी शून्य, अतिशून्य, महाशून्य आदि पदों का प्रयोग करते हैं। विशुद्ध शून्य ही निर्वाणपद है—यहाँ वासना नहीं, कामना नहीं, क्लेश या कर्माशय आदि कुछ नहीं रहता। अतएव, प्रकृत शून्य या निर्वाण-पद उस आलिंगन की गाढतम अवस्था के चरम फल के सिवा और कुछ नहीं। उस समय रहता क्या है? सिद्धाचार्य कहते हैं कि उस समय केवल एक अद्वयतत्त्व विराजमान रहता है, परन्तु उसे 'तत्त्व' न कहकर 'तत्त्वातीत' कहना ही अधिक संगत है। इसीलिए, शिव और शक्ति नामक दो बिन्दु जबतक सम्पूर्णतया पार्थक्य छोड़कर समरूपता नहीं प्राप्त करते, अर्थात् ऐक्यलाभ नहीं करते, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृत शून्यावस्था का उदय हुआ है। भेद या द्वैत का लेश रहने तक निर्वाण-प्राप्ति की आशा निष्फल है। साम्य एवं निरंजनता ही निर्वाण का स्वरूप है। उसमें पृथक्ता नहीं रह सकती। वाम और दक्षिण व्यक्त होकर—समान होकर—मध्यावस्था का पूर्ण विकास ही निर्वाण है। हठाचार्य सहस्रारस्थ महाबिन्दु में इस महामिलन का अनुभव करते हैं और उससे निकली रसधारा में अपने को प्लावित करते हैं। मूलाधार-स्थित कुण्डलिनी जब इडा और पिंगला नाम की नाडियों के संघर्षजनित समीकरण के फलस्वरूप जाग्रत् होकर अग्निशिखा सदृश उठती है, तब स्वभावतः ही ऊर्ध्वमुख होकर सरल पथ से धावित होती है। इस उत्थानकाल में इधर-उधर विक्षिप्त शक्तियाँ चारों ओर से आकुंचित हो आती हैं और उस धारा में गिरती हैं। इन्हीं सब शक्तियों द्वारा ही स्तर-स्तर में जगत् के सारे पदार्थ निर्मित और अनुभूत होते हैं। इन सबके उपसंहृत होते ही इनके साथ-साथ रचित और प्रकाशित जगज्जाल इन्द्रजाल की भाँति विलीन हो जाता है, चारों ओर महाशून्य में परिणत होता है। इस प्रकार, क्रमशः लोक-लोकान्तर को संहार के अनल में दग्ध करके, अंगीभूत करके, नादरूपा महाशक्ति कुण्डलिनी सिंहनाद करते हुए उठती रहती है। इसके परिणामस्वरूप भूत और चित्त संहृत होते हैं, षट्चक्र-भेद होता है और आज्ञाचक्र के ऊपर स्थिति होती है। बाद में, वहाँ से अत्यन्त ही सूक्ष्म पथ से चैतन्यशक्ति के रूप में प्रकाशमान कुण्डलिनी चैतन्य-महासमुद्र में—परम शिव के वक्ष में—मिलने के लिए धावमान होती है। उसमें आश्रित जीव उसी के आकर्षण से उसी के साथ चलता रहता है। उसका और कोई अलग साधन नहीं रहता—वह आश्रित और शरणागत रूप में निःशंक भाव से माता की गोद में विराजता रहता है। कुण्डलिनी जब सहस्रारस्थ परमशिव से युक्त होती है, तब उस आलिंगन से विचित्र आनन्द का उदय होता है। जीव उसका आस्वादन करता है। शिव-शक्ति के मिलन के विना आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। महाबिन्दु में उस मिलन का जब सूत्रपात होता है, तब भी दो बिन्दु रहते हैं। बाद में, क्रमशः दोनों बिन्दु एक महाबिन्दु में परिणत होते हैं। यह महाबिन्दु अखण्ड परमानन्दमय एवं युगलभावापन्न होते हुए भी अद्वय हैं।

हठयोगियों के सिद्धपथ की आलोचना के प्रसंग में हमें बहुत-सी बातें कहनी होंगी। आपाततः, संक्षेप में यह देख लिया जाय कि बौद्ध सहजयान का साधना-सम्बन्धी सिद्धान्त क्या है। सहजिया साधकों के अनुसार, सहज अवस्था का लाभ ही पूर्णतासिद्धि है।

इसके दूसरे नाम हैं निर्वाण, महासुख, सुखराज, महामुद्रा का साक्षात्कार आदि। इस अवस्था में वाच्य-वाचक, ज्ञातृ-ज्ञेय और भोक्तृ-भोग्य भाव नहीं रहता—उभयनिष्ठ सम्बन्ध भी नहीं रहता। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—यह त्रिपुटी ही विकल्पजाल है—इसे भेदकर निर्विकल्प पद की उपलब्धि सहज अवस्था है। **'जहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाहिं प्रवेश'**—यहाँ मन और प्राण का संचार नहीं होता और चन्द्र-सूर्य को भी प्रवेशाधिकार नहीं है। चन्द्र-सूर्य इडा-पिंगलामय आवर्त्तनशील कालचक्र का ही नामान्तर है। शान्तिमय निर्वाणपद काल के अतीत है, इसलिए वहाँ चन्द्र-सूर्य की क्रिया लक्षित नहीं होती। उन्मनीभाव होने से ही मनोलय होता है। अतएव, जो अवस्था उन्मनी की भी परावस्था कहकर वर्णित होती है, उसमें मन की क्रिया नहीं रहती, किसी प्रकार की वृत्ति का उदय नहीं होता, यह कहना ही व्यर्थ है। प्राण स्थिर होने से वहाँ श्वास-प्रश्वास नहीं चलता। वहाँ की वायु में लहर नहीं खेलती—इसीलिए वह स्थिर या स्तिमित वायु शास्त्र में अनेक स्थलों पर 'गगन' के नाम से आख्यात हुई है। सहजिया साधक कहते हैं कि यही निर्वाण प्रत्येक का 'निज स्वभाव' ('निज सहाव') है—यही परमार्थ है। यहाँ का जो आनन्द है, जिसे महासुख कहते हैं, वह सहज होने के कारण एक, कारणहीन और सदा उदित है। इस अवस्था को पाये बिना जरा-मरण का त्याग नहीं होता। जबतक वायु की गति है, तबतक संकल्प का प्रभाव अवश्यम्भावी है। उसका फल है भ्रान्ति का विकास। संकल्पवश सभी कार्यों में अपना कर्त्तृत्वाभिमान जगता है—स्वयं को कर्त्ता प्रतीत होता है। वास्तव में, संसार के सारे कार्य स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, और फिर स्वभाव में ही विलीन होते हैं—कर्त्ता कोई नहीं रहता। फलस्वरूप, कर्त्तृत्व-बोध अज्ञान का विलास-मात्र है। वायु के स्थिर हो जाने से संकल्प-जाल कट जाता है, ज्ञानमुद्रा की उपलब्धि होने से मिथ्याज्ञान और कर्त्तृत्व का अभिमान लुप्त हो जाता है। 'स्वभाव ही संकल्प का मूल है, **कर्त्ता कोई नहीं**', यही बोध ही शुद्धबोध या ज्ञानमुद्रा है। इस बोध का उदय होते ही सर्वधर्म का शोधन होकर संकल्प-विकल्प से परे निर्विकार निरंजन पद की प्राप्ति होती है।

एकमात्र गुरु का उपदेश ही इस अवस्था को पाने का उपाय है। इसके लिए और कोई उपाय नहीं। परन्तु, गुरु का स्वरूप क्या है? सहजिया साधक कहते हैं : श्रीगुरु 'युगनद्धरूप'-मिथुनाकार हैं। यह शून्यता और करुणा की मिलित मूर्त्ति हैं—उपाय और प्रज्ञा[1] का समरस विग्रह। यह युगल रूप ही परमार्थ-रूप, महासुख का आलय है। इसके

---

१. प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही निर्वाण है। अनंगवज्र ने अपने 'प्रज्ञोपाय-विनिश्चयसिद्धि' नामक ग्रन्थ में कहा है कि प्रज्ञा का लक्षण निःस्वभाव और उपाय का लक्षण स्वभाव है। सिर्फ प्रज्ञा या सिर्फ उपाय से बुद्धत्व-लाभ नहीं होता। बुद्धता की प्राप्ति के लिए प्रज्ञा एवं उपाय—दोनों का साम्य या अभिन्नता चाहिए। उस अवस्था में भोग और मोक्ष दोनों समान हो जाते हैं। "न प्रज्ञा केवलमात्रेण बुद्धत्वं भवति नाप्युपायमात्रेण, किन्तु

आश्रय के विना संसार से उत्तीर्ण होना—केवल यही नहीं, संसार और निर्वाण में समदृष्टि लाभ करना असम्भव है। सहजिया-मत से मौन मुद्रा ही श्रीगुरु का उपदेश है—वाक्य के द्वारा सहज या अनुत्तर ज्ञान का संवाद नहीं दिया जा सकता। जो कुछ मन और इन्द्रिय के गोचर है, मन और इन्द्रियाँ जहाँतक जा सकती हैं, सब विकल्प के अन्तर्गत है। जो मन और इन्द्रिय-पथ से संचरण करते हैं, वे 'पृथग्जन' हैं, उनकी देह, वाक्य और चित्त सहजतत्त्व को ग्रहण नहीं कर सकते। सहजिया साधकों के अनुसार, महासुख अथवा सहज आनन्दमय श्रीगुरुदेव ही 'जिनरत्न' पद से आख्यात होते हैं। वह आनन्द अथवा रति के प्रभाव से शिष्य के अन्तर्मन में महासुख का विस्तार करते हैं, इसीलिए उनका इतना गौरव है : 'सद्गुरुः शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति।' मौखिक उपदेश से कोई स्थायी फल नहीं प्राप्त होता।

किन्तु, यह महासुख किस प्रणाली से प्राप्त होता है? इसकी उपलब्धि कहाँ होती है? वहाँ जाने का रास्ता क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में सहजिया साधक कहते हैं, उष्णीष-कमल में ही महासुख की अभिव्यक्ति होती है। तन्त्रशास्त्र और हठयोग के ग्रन्थों में इस कमल को सहस्रदल नाम से वर्णित किया जाता है। वज्रगुरु, अर्थात् वज्रमार्ग का सहारा लेकर जिन्होंने सिद्धिलाभ करके वज्रधर अवस्था प्राप्त की है, उनका आसन इस उष्णीष-कमल की कर्णिका में होता है। वहाँ पहुँचने का पथ बड़ा ही दुर्गम है। साधना आदि प्रक्रियाओं से जिनका बिन्दु सिद्ध नहीं हुआ है, उनके लिए वहाँ पहुँचकर सिद्धि पाना दुराशा-मात्र है। मध्यपथ को पकड़कर बिन्दु का स्थैर्यसाधनपूर्वक उसे ऊर्ध्व की ओर चालित करने से क्रमशः महासुख-पद्म के केन्द्र में पहुँचा जा सकता है। संसार-अवस्था में जीव दक्षिण और वाम मार्ग से अहर्निश भ्रमण करता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्गम मध्यपथ से संचरण का साहस नहीं कर सकता और उसमें समर्थ भी नहीं होता। वास्तव में, पुरुषकार के द्वारा मध्यपथ का आश्रय पाना एक प्रकार से असम्भव है। उस पथ में प्रवेश करने के लिए गुरुकृपा ही एकमात्र सदुपाय है। सहजिया साधकों ने बहुत स्थानों में वामशक्ति को ललना और दक्षिणशक्ति को रसना कहकर वर्णित किया है और ललना को चन्द्र या प्रज्ञा तथा रसना को सूर्य या उपाय कहा है। उनके मत से दोनों के मध्यदेश में जिस शक्ति की क्रिया होती है और जो वर्त्तमान अवस्था में अवरुद्धप्राय है, उसका पारिभाषिक नाम है 'अवधूती'। चन्द्र और सूर्य के मिलन या प्रज्ञा और उपाय के आलिंगन से मध्यपथ का उन्मीलन होता है। 'अवधूती' पद की व्युत्पत्ति है : "अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादिपापान् धुनोतीत्यवधूती।" अवधूती-मार्ग ही अद्वयमार्ग, शून्यपथ और आनन्द-

---

यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ समतास्वभावौ भवतः, एतौ द्वौ अभिन्नरूपौ भवतः तदाभुक्तिमुक्तिर्भवति।" अन्यत्र है : "उभयोर्मिलनं यच्च सलिलक्षीरयो-रिव। अद्वयाकारयोगेन प्रज्ञोपायं तदुच्यते ॥.... चिन्तामणिरिवाशेषजगतः सर्वदा स्थितम्। भुक्तिमुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपायस्वरूपतः ॥"

स्थान है। यहाँ ग्राह्य और ग्राहक का भेद नहीं, दोनों ही समरस होकर शून्याकार में विराजमान हैं। इस पथ पर आये विना क्लेशनिर्मुक्त या द्वन्द्वातीत होने की सम्भावना नहीं। चन्द्र और सूर्य के आलिंगन के विना अवधूती विशुद्ध नहीं हो सकती। यह स्मरण रखना होगा, ललना और रसना अवधूती का ही अशुद्ध रूप है। शोधित होने से ये दोनों ही एकाकार हो जाते हैं—तब वैषम्य या मलिनता कुछ भी नहीं रहती। इसी को अवधूती का उन्मीलन या शोधन कहा जा सकता है। वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना का शोधन वस्तुतः नाडीशुद्धि का ही नामान्तर है। सिद्धाचार्य लुईपाद कहते हैं : चन्द्र शुद्ध होकर 'आलि' नाम प्राप्त करता है। इस शोधन का फल है धवन (या धमन)। सूर्य शुद्ध होकर 'कालि' नाम से आख्यात होता है। इसका फल है चवन (या चमन)। 'द्विकल्पतन्त्र' में है कि 'आलि' और 'कालि' का संयोग ही वज्रसत्त्व की अधिष्ठानभूमि है, अर्थात् विशुद्ध चन्द्र और सूर्य मिलित होकर जब ऐक्यलाभ करते हैं, तब उस अद्वैतभूमि में सिद्ध-बिन्दु वज्रसत्त्व का आविर्भाव होता है : **'आलिकालिसमायोगः वज्रसत्त्वस्य विष्टरम्।'** यह संयोग आरब्ध होकर क्रमशः चलता रहता है—संयोग की गाढता के अनुसार अवधूती का संग भी निबिड होता रहता है और उसी अनुपात से शून्यता, अद्वयभाव, आनन्द या रति और नैरात्म्यबोध या बोधि गम्भीरता से उपलब्ध होती रहती है। इस संयोग अथवा मिलन का पारिभाषिक नाम 'सुरत' अथवा शृंगार है और इसका फल है—रस की अभिव्यक्ति। मिलित होते-होते चन्द्र और सूर्य जब क्रमशः अपना स्वरूप और धर्म खो बैठते हैं, जब चन्द्र चन्द्र नहीं रह जाता, सूर्य सूर्य नहीं रह जाता, दोनों मिलकर एकरस और एकाकार हो जाते हैं, तब वही निःस्वभाव या नैरात्म्य-अवस्था ही शून्यावस्था है। यही वास्तविक साम्य है। जो इस शून्यमय अद्वयभाव को अधिष्ठित करके आत्मप्रकाश करता है, वही वज्रगुरु का स्वरूप है। इस अवस्था की प्राप्ति एक दिन में नहीं होती—भूमि के बाद भूमि की क्रमशः जय करते-करते त्रयोदश भूमियों के अतिक्रमण के बाद इसकी पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। सहजिया-साहित्य में 'वज्रधर' पद से इसी चतुर्दश भूमि के अधीश्वर का बोध होता है।

पारमार्थिक अवस्था शून्य है, यह पहले ही कहा गया है। सहजिया साधक विशुद्धि के तारतम्य के अनुसार इस शून्य को चार प्रकार से विभक्त करते हैं। शून्य, अतिशून्य और महाशून्य—इन तीन अवस्थाओं में उपाधि है, दोष है और क्लेश आदि मल-सम्बन्ध हैं। परन्तु, 'तुरीयशून्य', जिसका पारिभाषिक नाम 'प्रभास्वर' है, वही निरुपाधिक शून्य है। कहना न होगा कि यह पूर्वोक्त अद्वैतभूमि के अलावा, और कुछ नहीं। यह चतुर्थ शून्य ही वज्रगुरु का अधिष्ठान है, यह भी प्रसंगतः पहले कहा गया है। इसी के प्रभाव से प्रथम तीन शून्यों के सारे दोष अपगत होते हैं। फिर, एकमात्र निरुपाधिक विशुद्ध शून्य ही वर्त्तमान रहता है। सम्भोगचक्र में नैरात्म्यधर्म की उपलब्धि इस विशुद्ध शून्य की स्थिति के सिवा दूसरा कुछ नहीं। इस अवस्था में निरन्तर जाग्रत् रहने की व्यवस्था है। प्रथम तीन शून्यों में जिस आनन्द का विकास होता है, उसे कायानन्द,

चित्तानन्द और रागानन्द कहते हैं। जब इन तीन आनन्दों के एकरस हो जाने पर ज्ञानानन्द-रूप चौथे आनन्द का आविर्भाव होता है, तब जरा और मृत्यु निवृत्त होती है और सिद्धिसमूह हस्तगत होता है। चौथे आनन्द का उद्बोधन और अनुत्तर बोधि की प्राप्ति एक ही बात है। तब सात प्रकृतिदोष और समाधिमल सब दूर हो जाते हैं। बिन्दु और नाद के साथ होने से किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता। ग्राहक ज्ञानरूप विकल्प ही उपाय या दीर्घहुंकारमय विन्दु है, ग्राह्य ज्ञान-रूप विकल्प ही प्रज्ञा अथवा नाद है। अनुत्तर-बोधि में ग्राह्य और ग्राहक का परस्पर भेद नहीं रहता, उपाय और प्रज्ञा एकाकार होते हैं, नाद और बिन्दु का मिलन होता है, द्वैतभाव अद्वैत होकर प्रकट होता है और सर्वधर्म की अनुपलब्धि-रूप निर्वाण-पद प्रकाशित हो पड़ता है।

अधिष्ठान शून्य तृतीय और वज्रगुरु का अधिष्ठानरूप शून्य चतुर्थ है। यह तृतीय शून्य और चतुर्थ शून्य का जो मिलन है, वही 'युगनद्ध फल' का प्रकाश या अनादि दिव्य मिथुनावस्था है। इस अवस्था में समान रूप से सर्वधर्म का उदय होता है। उसके बाद जब तृतीय और चतुर्थ शून्य में भेद तिरोहित होकर अद्वयसिद्धि होती है, तब सारे धर्मों का तिरोधान हो जाता है।

महासुख-कमल में जाना हो, यथार्थ सामरस्य प्राप्त करना हो, तो मध्यपथ का
अवलम्बन करना होगा, विरोध का समन्वय करना होगा, द्वन्द्व का मिलन कराना होगा।
दो को एक नहीं कर सकने से सृष्टि और संहार के अतीत निरंजन पद का लाभ सम्भव
नहीं। अतएव, मिलन ही अद्वय शून्यावस्था या परमानन्द-लाभ का एकमात्र उपाय है।
सहजिया साधक कहते हैं, जिन समाधियों का उद्देश्य अकुशल का परिहार एवं इन्द्रिय-
निरोध है, उनसे निर्विकल्प दशा का उदय नहीं हो सकता। विषय का त्याग अथवा
वैराग्य-साधन से कोई फल नहीं; क्योंकि उससे युगल-अवस्था नहीं मिलती। और, युगल-
प्राप्ति के पथ पर नहीं जा सकने से मिलन और उसका फल सामरस्य या अद्वयता संघटित
नहीं होती। इसलिए, सहजपथ है रागपथ—वैराग्य का पथ नहीं। इस पथ में दुष्कर
उपवास आदि निष्फल श्रममात्र हैं। 'श्रीसमाज' नामक तन्त्र में उल्लेख है : "दुष्करैः-
नियमैस्तीव्रैर्मूर्तिः शुष्यति दुःखिता। दुःखाऽधौ क्षिप्यते चित्तं विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा॥"
अतएव, "पञ्च कामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत्। सुखेन साधयेत् बोधिं योगतन्त्रा-
नुसारतः॥" अर्थात्, पंचविध काम का त्याग कर एवं तपस्या द्वारा अपने को पीडित
न करके, योगतन्त्र के अनुसार सुखपूर्वक बोधि का साधन करना चाहिए। विषय का त्याग
करने में जन्मजन्मान्तर दुःख का अनुभव अवश्यम्भावी है। देहरूप वृक्ष के चित्तरूप अंकुर
को विशुद्ध विषयरस द्वारा सिक्त करने से वह वृक्ष कल्पवृक्ष होकर असीम और आकाशवत्
निरंजन फल प्रदान करने में समर्थ होता है—महासुख या परम निर्वाण-पद देता है।[1]

---

१. तनुतरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलदः (?) कल्पतरुत्वं कथं लभते॥
('चर्याचर्यविनिश्चय' के लुई-कृत प्रथम दोहा की टीका में सरहपाद का वचन)

बन्धन के रागवश मुक्ति भी राग से ही होती है। महाराग या अनन्यराग ही मुक्ति का सहज साधन है, वैराग्य नहीं। 'हेवज्रतन्त्र' में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है।[1] इस वैराग्यदमन के सामर्थ्य से ही 'वीर' शब्द की सार्थकता है।

विशुद्ध अवधूतिका के लिए सहजिया साधक 'डोम्बी' शब्द का व्यवहार करते हैं। ललना और रसना के एकत्र नहीं कर पाने से अवधूतिका का शोधन सम्भव नहीं। अतएव, अवधूतिका जब विशुद्ध होती है, तब ललना और रसना एक होकर उस अवधूतिका का ही रूप धारण करती हैं। ऐसी स्थिति में एकमात्र अवधूतिका ही देदीप्यमान रहती है। यही शास्त्रान्तर में उपदिष्ट शक्ति की अद्वय अवस्था या नाडीशुद्धि है। यह विशुद्ध अद्वयमार्ग या ब्रह्मनाडी ही 'डोम्बी' पद का अभिधेय है, यह अब सहज ही समझ में आयगा। यही वज्रमार्ग या वज्रयान, अर्थात् शून्यपथ है। वामशक्ति और दक्षिणशक्ति के मिलन से जिस अग्नि या तेज की उत्पत्ति होती है, नाभि या निर्माणचक्र में उसकी प्रथम अभिव्यक्ति होती है। इस अग्नि को महासुखरागाग्नि कहते हैं। सहजिया साधकों की सांकेतिक भाषा में इसका नाम है 'चण्डाली'। प्राथमिक अवस्था में यह सम्यक् शुद्ध नहीं रहती। साधना के परिपाक के अनुसार यह क्रमशः शोधित होकर 'डोम्बी'-रूप में परिणत होती है। तब विषयसमूह दग्ध हो जाता है, अद्वयभाव पूर्णता लाभ करता है। अवधूती, चण्डाली और डोम्बी या बंगाली—एक ही शक्ति की तीन अवस्था-मात्र हैं। अवधूती-अवस्था में द्वैत रहता है, ललना और रसना का पार्थक्य रहता है, इडा और पिंगला अपना-अपना कार्य-साधन करती हैं और प्राण तथा अपान यथानियम स्पन्दित होते हैं। जब दोनों का सम्मिलन होता है, तब अद्वयाग्नि—रागाग्नि प्रज्वलित होती है। परन्तु, प्रज्वलित होने पर भी द्वैत को पूरी तरह जलाकर आत्मसात् करना एक पल का काम नहीं—यह क्रमसाध्य है। यह सम्मिलन क्रमशः घनीभूत होता रहता है। ऐसी स्थिति में चरम द्वैत नहीं रहता—तब दो पृथक् शक्तियाँ एक हो जाती हैं। यही अवधूती की पूर्ण विशुद्धि या चण्डाली से डोम्बी-

---

१. द्रष्टव्य : रागेण बध्यते रागेणैव विमुच्यते। (हेवज्रतन्त्र)

सहजाम्नायपंजिकाकार भी (पृ० ९८) यही कहते हैं : 'वज्जति येन वि जडा लघु परिमुच्चति तेन वि बुधा।' जिस पंचकाम के उपभोग से मूर्ख बद्ध होते हैं, गुरु के आदेश से ज्ञानलाभ होने पर उसी के द्वारा पण्डित शीघ्र ही संसार से मुक्त हो सकते हैं। तुलनीय :

येनैव विषखण्डेन म्रियन्ते सर्वजन्तवः।
तेनैव विषतत्त्वज्ञो विषेण स्फुटयेत् विषम्॥

ज्ञानसम्बोधि में है : चित्त ही भव और निर्वाण का महाबीज है। यह संवृति में संवृतिमय आकार धारण करता है और निर्वाण में स्वभावहीन हो पड़ता है :

चित्तमेव महाबीजं भवनिर्वाणयोरपि।
संवृतौ संवृतिं याति निर्वाणे निःस्वभावताम्॥

भावप्राप्ति है। इस अवस्था में रागाग्नि के द्वारा विषयजाल दग्ध हो जाने से बाद में निर्मल नैरात्म्यभाव असीम और अनन्त आकाश की तरह विकसित हो उठता है। अवधूती, चण्डाली और डोम्बी द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत भाव की सूचक-मात्र हैं। तन्त्र में शक्ति के जो परा, परापरा और अपरा —ये तीन भेद हैं, उसका भी यही तात्पर्य है।

अवधूती की द्वैतावस्था में, अर्थात् जबतक चन्द्र-सूर्य का संयोग न हो, तबतक वायु का प्रवेश-निर्गम होता है एवं शक्ति वक्रपथ से संचरण करती है। इसी का प्रचलित नाम संसार है। शक्ति को सरल पथ[1] से चलाना अथवा इसकी वक्रता दूर करना साधना का उद्देश्य है। साधना के प्रभाव से शक्ति-प्रवाह का पथ सरल होने पर पथ भी जाता है, प्रवाह भी जाता है। निर्माण-चक्र में जब रागाग्नि का उदय होता है, तभी से वक्र गति

---

१. मध्यमार्ग ही सरल पथ है : ऋजुमार्ग, 'उजुवाट'। दक्षिण और वाम पथ वक्र-मार्ग। इसीलिए, वाम और दक्षिण पथ छोड़कर मध्यपथ पकड़ने का उपदेश है। सरहपाद कहते हैं : 'उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक।'

सिद्धाचार्य शान्तिपाद कहते हैं :

सअ संवेअण सरुअ विआरेते अलक्ख लक्खन न जाइ।
जे जे उजुवाटे गेला अनावाटा भइला सोइ॥

अर्थात्, स्वरूप-विचार आदि के द्वारा अलक्ष्य वस्तु का लक्षण नहीं किया जा सकता—जो अलक्ष्य है, उसका कोई विचार नहीं हो सकता। अतएव, विचार करके अलक्ष्य को पकड़ने की चेष्टा निष्फल है। पर, उन्हें पाने का सरल रास्ता है। उसका सहारा लेने से फिर शास्त्रविचार आदि की आवश्यकता नहीं होती। जो भी उस पथ से गया है, उसे महासुखचक्र मिला है, उसने निर्वाण-पद प्राप्त किया है, जहाँ से फिर संसार में नहीं आना पड़ता। अतएव :

वाम दहिन वो वाटा छाड़ी।
शांति बुगथेउ संकेलिउ॥

अर्थात्, वाम और दक्षिणपथ छोड़कर मध्यपथ ग्रहण करना चाहिए। इस परिशुद्ध अवधूती-मार्ग या वज्रमार्ग के अलावा बुद्धत्व, तथागतभाव, निर्वाण या महासुख प्राप्त करने का दूसरा पथ नहीं है : 'एतद्विरमानन्दो-पायमार्गं विहाय नान्यमार्गसम्भावोऽभिमुखोऽस्ति।' रतिवज्र में है : 'नान्योपायेन बुद्धत्वं शुद्धं चैवं जगत्त्रयम्।'

और :

एष मार्गवरः श्रेष्ठो महायानमहोदयः।
येन यूयं गमिष्यन्तो भविष्यथ तथागताः॥

सरल होने लगती है। अन्तिम क्षण में सरलता सम्यक् सिद्ध होकर सरल रेखाबिन्दु में परिणत होती है और गति निरुद्ध हो जाती है। जो आग प्रज्वलित हो उठी थी, उस समय बुझकर वह अव्यक्त भाव धारण करती है। यही निर्वाण है। स्पन्दन नहीं रहने से शास्त्र में यह आकाशरूप में वर्णित है। सहजिया साधक कहते हैं : '**ज्ञानवह्नि....भावाभावं दग्ध्वा सुमेरुशिखराग्रे गगनमिति महासुखचक्रे अन्तर्भवति।**' ज्ञानानल भाव और अभाव, दोनों को जलाकर सुमेरुशिखर के अग्रभाग में गगनमण्डल में विलीन हो जाता है। यह गगन-मण्डल ब्रह्मरन्ध्रस्वरूप आकाश है। इसके पहले बहुत बार जिस महासुखचक्र की बात कही गई है, यह उसका स्वरूप है। रागवह्नि के निवृत्त होने से जो आनन्द प्रकट होता है, उसका नाम विरमानन्द है। उस स्थिति में चन्द्र स्वभावस्थित, मन स्थिर एवं वायु की गति स्तम्भित होती है। विरमानन्द के उदय के समय बोधिचित्ताक्षर के उपदेश से अविरतानन्द स्वयं ही सन्निहित होकर उससे मिलित होता है। जिनके विरमानन्द का उदय हुआ है, वह यथार्थ योगीन्द्र हैं। सहजिया साधकों के मत से वही 'ब्रह्मधर'-पदवाच्य सद्गुरु हैं। बत्तीस महापुरुष-लक्षण और अस्सी अनुव्यंजन या गौण चिह्न के द्वारा इस चतुर्दशभूमि के अधीश्वर योगिराज की देह लक्षित होती है।[1]

हम पहले कह चुके हैं कि बिन्दुसिद्धि के बिना अद्वय-पद की प्राप्ति दुर्घट है। बिन्दु जबतक चंचल रहता है, तबतक शून्य या निर्विकल्प अवस्था की सिद्धि सम्भव नहीं। इस चंचल अथवा क्षरणशील बिन्दु को सहजिया साधक संवृति-बोधिचित्त कहते हैं। 'वारुणी' शब्द इसी का वाचक है। स्वरूप की आलोचना करने से इसे चन्द्र से अभिन्न ही मानना होगा। प्रधानतः अवधूती-मार्ग द्वारा ही यह संचालित होता है। वास्तव में, देह की मुख्य-मुख्य सारी नाडियाँ इसकी वाहक हैं। सहजिया साधकों की सांकेतिक भाषा में नाडियों को योगिनी कहा गया है। ललना आदि नाडियाँ जब आभासशून्य होती हैं, अर्थात् वासना आदि मलों से रहित होकर शोधित होती हैं, तब मध्यपथ खुलता है; यही विशुद्ध मध्य नाडी है, जिसे बहुत स्थलों में 'नैरात्म्ययोगिनी' नाम से अभिहित किया गया है, प्राण के स्थैर्य की साधिका। इसका आश्रय जबतक नहीं लिया जाता, प्राण क्षण-भर के लिए भी चंचलता नहीं छोड़ता। जबतक आभास है, तबतक द्वैत रहेगा ही, तबतक प्राण और मन का कम्पन तथा बिन्दु का चांचल्य अवश्यम्भावी हैं। शोधित मध्य नाडी का मुख सहजानन्दस्वरूप है। उसका स्पर्श करने से ही वह आनन्द विरमानन्द के रूप में प्रकाशित होता है। उष्णीष-कमल का मधुपान ही विरमानन्द का आस्वादन है।

---

१. द्रष्टव्य : चर्याचर्यविनिश्चयटीका, पृ० ४३; दीघनिकाय, २।१६, ३।१४२ आदि; विनयपिटक, १।६५; मज्झिमनिकाय, ३।१२६; संयुत्तनिकाय, ४।१६८ आदि। ये ३२ महापुरुष-लक्षण और ८० अनुव्यंजन क्रम से Getty की 'The Gods of Northern Buddhism' पुस्तक के पृ० १७०१ तथा Grunwedel के 'Buddhist Art in India' के पृष्ठ १६१ पर वर्णित हैं।

इसका स्वरूप है महासुख अथवा शून्यतामय परमार्थबोधिचित्त। गुरु-परम्परा के अतिरिक्त यह अवस्था पाने का कोई उपाय नहीं, इसीलिए शास्त्र में यह गुरुकृपासाध्य रूप में ही वर्णित हुआ है। संवृत्ति-बोधिचित्त रूप चन्द्र इस अवस्था में क्षरणहीन होकर परमार्थ-रूप में वज्रशिखर के अग्रदेश में निर्वाणप्राप्त हो जाता है।

भुसुकुपाद (चर्याचर्यविनिश्चय, २७) कहते हैं, जब चतुर्थ सन्ध्या की अर्धरात्रि में, प्रज्ञाज्ञान के अभिषेक-दान के समय, वज्रसूर्य के रश्मिपात से उष्णीष-कमल खिलता है, तब वहाँ बत्तीस नाडियों का स्राव होता है—सारी नाडियाँ आनन्द-रस से सिक्त हो जाती हैं। उसके बाद अवधूती-मार्ग के सहारे बोधिचित्त-रूप चन्द्र, अर्थात् बिन्दु वज्र-शिखर को जाता है, वहाँ जाकर प्रभास्वर गगन में निर्वाणप्राप्त होता है। वही विशुद्ध महासुखमयी नैरात्म्यरूपा अवधूतिका-कमलिनी बोधिचित्त-महासुख के रस से समग्र शरीर को प्लावित और आप्यापित करती है, इसके बाद स्वभाव के अलंघ्य नियम से फिर महासुखचक्र की ओर ही धावमान होती है।

काय, वाक् और चित्त—इन तीनों के दृढ हुए विना बिन्दुसिद्धि नहीं होती। इसीलिए, पहले देवता-योग के द्वारा काय की दृढता, वज्रजाप के द्वारा चन्द्र-सूर्य के पक्षग्रह के खण्डन से वाक्य की स्थिरता एवं सुमेरुशिखर में श्वास के उन्नयन और मणिमूल का द्वार-रोध करके चित्त की दृढता का सम्पादन करना होता है।

साधना का लक्ष्य जो अजर और अमर भाव पाना है, उसी का नामान्तर है स्कन्धपंचक की दृढता, अर्थात् देहसिद्धि। स्वाधिष्ठानगत बोधिचित्त अथवा बिन्दु को आबद्ध नहीं कर पाने से इसे नहीं पाया जा सकता। सहजिया साधक कहते हैं : कर्ममुद्रा के प्रसंग में महासुख-कमल के दोहन से आनन्द-धारा निकलती है। यह आनन्द-धारा या संवृत्ति-बोधिचित्त अशोधित अवधूती-मार्ग से अवतीर्ण होकर पीठस्थान में; वज्रमणि में गिरती है। साधनमार्ग में अकुशल योगी (बाल योगी) उसे धारण नहीं कर सकता। परन्तु, जिन्होंने गुरु-परम्परा से योग के रहस्य को प्राप्त किया है, वे देह-वृक्ष के उस फल का भक्षण करते हैं, अर्थात् परिशोधित कुम्भक-समाधि तथा अपने अनुभव-क्रम से उसे स्वभावहीन करके शून्य रूप में परिणत करते हैं। वज्रजाप के उपदेश से, व्युत्थान-वायु और उत्प्रेक्षा-प्रवेश—अवधूती के इन दो आकर्षण-बल से विरमानन्द-स्थान में जाने से तो चतुर्थ सन्ध्या में वे सब दोष आप ही मिट जाते हैं। तब निर्विकल्प अवस्था पाने में विलम्ब नहीं होता।

हम पहले कह आये हैं, तृतीय शून्य से चतुर्थ शून्य का मिलन होने से सहजानन्द का विकास होता है। कहना नहीं होगा, यह राग, अर्थात् महाराग का ही प्रकाश है। तुरीयानन्द के रूप में इसका वर्णन है। जब विरमानन्द इसे आत्मसात् कर लेता है, तब रागनिवृत्ति होकर परम शान्ति का आविर्भाव होता है। यह विराग है। सहजिया साधक इस राग और विराग को क्रम से परम (=सहजानन्द) और विरम (=विरमानन्द)

अथवा काल और विकाल कहते हैं। वे कहते हैं, इन दोनों की ही उपेक्षा करके[1] मध्यस्थ धर्माक्षर या अनाहत अक्षर को ही लक्ष्य करना चाहिए। यही चन्द्र की षोडशी कला है। वायु के गमन-पथ का रोध करके, चन्द्र-सूर्य के मार्ग को निरुद्ध करके, घोर अन्धकार में मन या बोधिचित्त को दीपाकार में परिणत कर पाने से यथासमय स्वभाव के नियम से आप ही महासुख का प्रकाश होता है।

सहजिया साधकों में महामुद्रा-साक्षात्कार ही सिद्धिरूप में गिना जाता है। शून्यता और करुणा के अभेद को महामुद्रा कहते हैं। जिनके यह अभेद ज्ञान हुआ है, उन्होंने सब समझा है; जगत् का अनन्त रहस्यजाल उनकी प्रज्ञालोक-प्रकाशित विशुद्ध दृष्टि के सम्मुख उद्भिन्न होकर विलीन हो गया है। 'धर्मकरण्डक', 'बुद्धरत्नकरण्डक', 'जिनरत्न' आदि नाम उस महामुद्रा के ही पर्याय हैं। कहना बाहुल्य है, तन्त्रशास्त्र में शिव और शक्ति का जो स्थान या जो तात्पर्य है, वज्र और सहजयान में शून्यता और करुणा अथवा वज्र और कमल का भी बहुत अंश में वही स्थान और तात्पर्य है। अतएव, अर्वाचीन बौद्धसाहित्य में जहाँ शून्यता और करुणा के मिलन का वर्णन प्राप्त होता है या जहाँ वज्र के साथ कमल के संघटन का विवरण उपलब्ध होता है, वहाँ तन्त्रोक्त शिव और शक्ति का मिलन ही समझना चाहिए। तन्त्र में यन्त्र के सहारे इस मिलन को समझाने के लिए दो समकेन्द्र त्रिकोण—एक ऊर्ध्वमुख और एक अधोमुख त्रिकोण—परस्पर आबद्ध रूप में अंकित रहते हैं। इन दोनों त्रिकोणों को साधारणतः षट्कोण कहते हैं। इस षट्कोण के केन्द्र में ही बिन्दु का अवस्थान है। सहजिया साधक भी महामुद्रा को 'एवं'-आकार कहकर वर्णित करते हैं। अतएव, वे भी प्रकारान्तर से तान्त्रिक सिद्धान्त को ही अंगीकार करते हैं। उनकी भाषा में 'ए' से माता या चन्द्र एवं 'व' कहने से रताधिपति या सूर्य का बोध होता है। बिन्दु दोनों का मध्यस्थल है। एकार और वकार का संयोग माता-पिता या चन्द्र-सूर्य के संयोग के सिवा और कुछ नहीं। सहज-मत में बिन्दु अनाहत और उससे उत्पन्न अक्षरमाला का वाचक है। इसका नामान्तर है—धर्माक्षर, षोडशी और नित्यकला। इसके वहिर्देश में कालचक्र आवर्त्तित होता है। जीव संवृतिबोधिचित्त-स्खलित बिन्दुरूप में उस चक्र का आश्रय करके चन्द्र-सूर्यमय वक्र पथ से जन्म-जन्मान्तर संसार-भ्रमण करता है। फिर, मध्यपथ में चलते-चलते एक दिन जब कालचक्र अतीत हो जाता है, तब बिन्दुस्थान के अधिकारपूर्वक महामुद्रा का दर्शन और तदनन्तर निर्वाण-पद प्राप्त करता है और जीवन में परम शान्ति पाता है। तब पूर्व-अनुभूत जगत्-जाल उपसंहृत होता है—सभी दृश्य पदार्थ, जो अबतक उसकी दृष्टि के सामने अनन्त रूप और अनन्त भाव में उपस्थित होता था, वह सब आकुंचित हो जाता है और परमार्थ-बोधिचित्तरूप वज्रधर-अवस्था की प्राप्ति होती है। अर्थात्, बोधिचित्त या मन तब निश्चल होता है और वायु षट्कोण के बीच के बिन्दु या अनाहत अक्षर के पार्श्व में बद्ध हो जाती है। वायुरूपा गृहिणी की निश्चलता ही सहजिया साधकों की सन्ध्या-भाषा में शबरी के पतन-रूप में

१. द्रष्टव्य : रागं चैव विरागं च वर्जयित्वा पुनः स्थितः। (श्रीसम्पुट)

उल्लिखित है । मन और वायु के स्थैर्य के साथ-साथ विषयसमूह निवृत्त होता है । तब, शबर या वज्रधर मेरुशृंग पर महासुख में वास करते हैं । पंचमण्डल में विभक्त प्राण-पवन उन्हें फिर आक्रान्त नहीं कर सकता । जब वह अध-ऊर्ध्व कमल या षट्कोणात्मक महामुद्रा नामक जिनरत्न, अर्थात् चिदाकाश ('वर-गगन') अवधूती द्वारा स्पृष्ट होता है, तभी उस महासुख-अवस्था का विकास होता है । महामुद्रा का दर्शन होने से निर्वाण और पाँच प्रकार के कामगुणात्मक भवभोग, अर्थात् रूप-रस आदि का आस्वादन-रूप संसार एक साथ ही सिद्ध होता है । संसार और निर्वाण में लेशमात्र भी भेद नहीं रहता : "जो भव सो निवाण खलु भेव न मन्वह पण्ण । एक सहावे विरहित्य निर्मल मइ पड़िवण्ण ।" (सहजाम्नायपंजिका, पृ० ११८)

सहजिया साधक कहते हैं, वज्रकमल के संयोग से जो बोधिचित्त को वज्रपथ से अच्युत करने में समर्थ हुए हैं—शिव-शक्ति के मिलन के फलस्वरूप बिन्दु को ब्रह्मनाडी में चालित करके उसे स्थिर और दृढ कर सके हैं, वही परम योगी हैं, वही धर्म के यथार्थ स्वरूप को जान सकते हैं । इन्द्रिय-सुख में डूबे हुए व्यक्ति के लिए धर्मतत्त्व का ज्ञान दुर्लभ है : 'नान्यो हीन्द्रियघर्षणलक्षणसुखाभिनिविष्टः ।' बोधिचित्त या बिन्दु ही सारी सिद्धियों का मूल है—वह पतित हो, तो स्कन्धविज्ञान मूर्च्छित होता है, सिद्धि नहीं प्राप्त होती । जीव-देह का कंकाल-दण्ड ही मेरुगिरि है, उसके बीच की शून्य नाडी ही गिरिगह्वर है । इस गह्वर में नैरात्म्य धातु का ऐकाधिपत्य है । आकाश इसी का नामान्तर है । यहाँ आने से ही बोधिचित्त स्थिर हो जाता है । 'बरगिरिकन्दर कुहिर जगु तहि सअल चित्त थइ ।' प्राण-अपान की समतावश उस समय अपान निरुद्ध और प्राण भी निरुद्ध हो जाता है । अपान के निरोध के कारण बोधिचित्त की अधोगति नहीं होती, प्राण के निरोधवश ऊर्ध्वगति भी नहीं होती । प्रवाह नहीं रहता है, इसलिए बिन्दु स्थिर होकर अव्यक्त भाव धारण करता है : 'जह ण गमइ जह ण जाइ, वेणि रहि अ तसु निच्चल थाइ ।' बोधिचित्त चन्द्र या सोमात्मक है । जब वह विमल और स्थिर रहता है, तब पूर्णिमा-अवस्था का ज्ञापक होता है ।

शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षात्मक मासचक्र ही कालचक्र का स्वरूप है । पूर्णिमा के बाद चन्द्रकला क्रमशः क्षीण होती रहती है, इसके विपरीत अमावस्या के बाद यह क्रमशः बढ़ती रहती है । कला के इस पर्याय-क्रम में घटना-बढ़ना अनित्यता को ही सूचित करता है । चन्द्रमा की पंचदशकला कला के रूप में नित्य होते हुए भी विकारशील है । षोडशी कला यथार्थ रूप में नित्य और अमृतकला है । इस षोडशी कला का आपूरण या संक्षय, कुछ भी नहीं होता । क्षरणहीन होने के कारण इस षोडशी कला को ही अक्षर कहते हैं—इसे कालचक्र का निरन्तर आवर्त्तन छू नहीं सकता । बिन्दु जब इस षोडशी कला में आकर स्थिर हो जाता है, तब वह पूर्णचन्द्र के रूप में निश्चल या अच्युत अवस्था प्राप्त करता है । इसी अवस्था में महारागसुख का अनुभव होता है, परन्तु यहाँ नहीं आ पाने से बिन्दुक्षरण अवश्यम्भावी है; क्योंकि अक्षर के सिवा सब कुछ क्षर है । चन्द्रबिन्दु कलारूप में कालचक्र

में गिरता है —कालाग्नि बिन्दु का शोधन करती है। पूर्णिमा के बाद ही कृष्ण-प्रतिपद् से कला का क्षय आरम्भ होता है, इसलिए सहजिया साधक इस बिन्दुपात को बिन्दु का कृष्ण-प्रतिपद् में प्रवेशकाल कहते हैं। जैसे :

'कालाग्नेश्च्युतावस्था कृष्णप्रतिपत्-प्रवेशकालः।'

अतएव, वज्रयान या साम्यमार्ग के अलावा अद्वय-शून्यावस्था—अभेद्य अच्छेद्य नित्य वज्रावस्था के लाभ का कोई उपाय नहीं। दूसरे सारे ही पथों में जब चित्त का क्षरण अवश्यम्भावी है, तब यही पथ एकमात्र ब्रह्मचर्य का पथ,—यही सहज पथ है, दूसरे सब केवल विकल्पजाल हैं। कल्पना का विलास जिस पथ से समुदित होता है, वह मिथ्या है।

हठयोग की साधन-प्रणाली को सिद्धपथ कहते हैं। हठयोग का जो परिचय हम पहले दे चुके हैं, उससे यह समझ में आयगा कि सिद्धमार्ग या हठमार्ग में और वज्र या सहजमार्ग में वस्तुतः बहुत अंशों में समानता है। परन्तु, इस सम्बन्ध में और भी विशद आलोचना की आवश्यकता है। हठयोगी कहते हैं, जब चित्त समत्व-लाभ करता है, वायु मध्यपथ से चलती है, तब अमरोली, वज्रोली और सहजोली आप ही आयत्त हो जाती हैं :

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे।
तदाऽमरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते॥

वज्रोली और सहजोली सुनकर मन में वज्रयान और सहजयान की स्मृति जग आती है। वायु के मध्यपथ में गमन करने से चित्त वृत्तिहीन होकर शून्य आकार धारण करता है। मन और प्राण दोनों ही जब सुषुम्णा को आश्रय करके ब्रह्मरन्ध्र के अवकाश में निरुद्ध होता है, तब ज्ञान का उदय होता है। मध्यपथ के खुल जाने से फिर काल का विक्रम नहीं रह जाता; क्योंकि इडा और पिंगलामय काल-संचार का रास्ता तब बन्द रहता है। इसीलिए, हठयोगी कहते हैं : सुषुम्णा काल की भोक्त्री है। मन और प्राण के स्थिर होने से बिन्दु स्थिर होता है (ह० यो० प्र०, ४।२८)। इसका नाम बिन्दुसिद्धि है। इससे नित्य और शुद्ध सत्त्व तथा पिण्डस्थैर्य उपजात होता है (वही)। जब बिन्दु से देह का विकास होता है, तब जबतक बिन्दु चंचल रहता है, तबतक देह जरा और मृत्यु के अधीन रहेगी, यह कहना ही बाहुल्य है। बिन्दु की स्थिरता से ही कार्यसिद्धि का आविर्भाव होता है। वज्रकाय, सहजकाय आदि शब्द सिद्ध देह के बोधक हैं। इसी को पातंजल दर्शन में वज्रसंहनन-रूपकायसम्पत् कहा गया है। सिद्धाचार्य, रासायनिक और वज्रयानिक आचार्य सिद्धदेह की आवश्यकता का अनुभव करके सबने ही इसकी प्रणाली और प्रकार-भेद का वर्णन किया है। वे कहते हैं : बिन्दुसिद्धि या देहसिद्धि के विना महाशक्ति से संयोग सम्भव नहीं है। वास्तव में, भूतसिद्धि और चित्तशुद्धि के विना उपासना का अधिकार नहीं आ सकता। आधार के पक्व हुए विना, धारणशक्ति नहीं रहने से विराट् चैतन्य का सम्बन्ध नहीं होता, हो भी, तो आत्मलोप अवश्यम्भावी है। सिद्धदेह योगी जरा और मृत्यु के अतीत हैं।

यहाँ एक बात की चर्चा आवश्यक है। जीवदेह में जो भावविकार होता है, उसका कारण क्या है? जरा और मृत्यु इस विकारषट्क के अन्तर्गत हैं। 'वाक्यपदीय' में भर्तृहरि ने कहा है : शब्दब्रह्म की अव्याहत नित्यकला कालशक्ति के आश्रय में भावविकार को जन्म देती है (वा० प०, १।३)। कालशक्ति के प्रभाव से ही प्रकृति का विकार होता है। लेकिन, ध्यान रखना होगा, परिणाम-मात्र ही विकार नहीं है। सांख्य में जिसे विसदृश परिणाम कहते हैं, वही विकार-पद का अभिधेय है। सदृश परिणाम को विकार नहीं कहा जा सकता। अतएव, जहाँ सदृश परिणाम की भी सम्भावना नहीं, वहाँ, अर्थात् स्थिर बिन्दु में कोई परिवर्त्तन संघटित नहीं होता। वह निर्विकार प्रकृतिस्थान है।[1] तन्त्रमत में सृष्टि का मूल उपादान चन्द्र या सोम है। चन्द्र जहाँ बिन्दुरूप में अवस्थित है, वहाँ सृष्टि नहीं है, कम्पन भी नहीं। यही अमृतकला या षोडशी कला है। पंचदशकला की समष्टि होते हुए भी यह उसके अतीत है। इस नित्यकला का क्षरण या स्राव नहीं होता, इसीलिए यह अक्षर, बिन्दु आदि नामों से अभिहित होता है। परन्तु, कौशलपूर्वक यदि इससे शिवतत्त्व की संहार-अग्निशिखा की योजना की जाय, तो इससे सुधा-धारा का निःस्यन्दित होना सम्भव है। वास्तव में, यह स्यन्दन अक्षर बिन्दु का नहीं। पंचदशी कला विश्वात्मिका है—वह षोडशी के साथ अभिन्न रूप से महाबिन्दु में विराजमान है। किन्तु चूँकि यह षोडशी से अभेदरूपा है, इसलिए कभी-कभी षोडशी के स्राव की बात सुनी जाती है। वास्तव में, दोनों बिन्दु की अद्वयावस्था ही षोडशी है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है, क्षरण होने से भी इसका अक्षरत्व व्याहत नहीं होता। इस बिन्दु-क्षरण से ही नाद का आविर्भाव होता है। सृष्टि नादरूपा और नादमूलिका है।

---

१. कहना बाहुल्य है, प्रकृति का यह रूप प्रचलित सांख्यदर्शन में नहीं मिलता। सांख्यमत में प्रकृति नित्यपरिणामिनी है। विसदृश परिणाम से ही सृष्टि होती है, यह ठीक है; परन्तु सृष्टि की पूर्वावस्था भी परिणामहीन नहीं। प्रलय के समय, जब प्रकृति सारे ही विकारों को अपने गर्भ में विलीन करके स्वयं विद्यमान रहती है, तब भी उनके सदृश परिणाम का विराम नहीं होता। इसीलिए, सांख्योक्त प्रकृति स्थिर बिन्दु के रूप में वर्णित नहीं हो सकती। सांख्योक्त प्रकृति गुणत्रय की साम्यरूपा है—यह बिन्दुत्रय की समष्टि, अतएव त्रिकोणस्वरूप है। इसका मध्यबिन्दु सांख्योक्त पुरुष है। वास्तव में, पुरुष मध्यबिन्दु नहीं हैं। पुरुष से नित्यसंयुक्त समभावापन्न स्थिर बिन्दु ही मध्यबिन्दु है। उनके स्पन्दन से गुणत्रय या बिन्दुत्रय अभिव्यक्त होकर त्रिकोण की सृष्टि करते हैं। सृष्टि का मूल उपादान यह मध्यबिन्दु है। पुरुष यद्यपि इस बिन्दु से नित्य मिलित हैं, तथापि वह नित्यविमुक्त हैं। पुरुष सृष्टि का उपादान नहीं हो सकते। वास्तव में, पुरुषतत्त्व बिन्दु के भी अतीत है। सांख्यीय प्रकृति में कम्पन है—वह कम्पन केवल बिन्दु का ही कम्पन है। इसीलिए, आगम-मत में यह भी नाद के अन्तर्गत है।

सृष्टि दो प्रकार की है, शुद्ध और अशुद्ध। मिश्र सृष्टि की आलोचना यहाँ नहीं करेंगे। दोनों ही सृष्टियों का उदय बिन्दु के प्रसार से होता है। शुद्ध सृष्टि में तीन अवस्थाएँ हैं—आविर्भाव, स्थित और तिरोभाव। आविर्भाव और तिरोभाव के अन्तराल में भाव का स्थैर्य रहता है—क्रमिक परिणाम नहीं रहता। अशुद्ध मार्ग में क्रम-परिणाम दिखाई देता है। इसलिए, अशुद्ध मार्ग में प्रतिक्षण भाव की अवस्था में अन्तर का होना स्वाभाविक है। यही थोड़े में 'जरा' शब्द का अर्थ है। जन्म के बाद और नाश के पहले जो अवस्था है, जिसे साधारणतया चार भागों में बाँटा जाता है, वह स्थूलतः स्थिति-रूप होते हुए भी क्रम-परिवर्त्तनशील या जरायुक्त है। अशुद्ध अध्वा के अतीत होने से जरा कट जाती है, आविर्भाव और तिरोभाव के अन्तराल में एक ही प्रकार की स्थिति रहती है। कोई अवस्थान्तर नहीं होता। शुद्ध अध्वा भी जब कट जाती है, तब बिन्दु स्थिर होता है। शुद्ध अध्वा की स्थिति के समय विकार नहीं रहता—विसदृश परिणाम नहीं रहता, केवल शुद्ध परिणाम रहता है। कालाग्नि-रुद्र के स्पर्श से नित्यकलारूप चन्द्रबिन्दु जब स्रुत होता है, तभी से सृष्टि की सूचना होती है, और सृष्टि से प्रलय भी अनुविद्ध है। अशुद्ध अध्वा में आकार का आविर्भाव और तिरोभाव है—दोनों के अन्तराल में विकार के न होने से भी परिणाम है। वर्त्तमान क्षेत्र में यही काल का प्रभावफल है। अशुद्ध अध्वा में जन्म से विनाश तक छहों विकार हैं। मध्य में जरा है, जिसे चार अवान्तर भागों में विभक्त किया जाता है। शुद्ध अध्वा में भी मरण है, परन्तु वह तिरोभाव-मात्र है, और वह स्थूल जगत् के मरण जैसा नहीं है। चूँकि, वह दीर्घ स्थिति के बाद संघटित होता है, इसलिए साधारणतः वहाँ की अवस्था अमरत्व के रूप में वर्णित होती है।[१] यह अवस्था वास्तव में युगान्त या कल्पान्त या महाकल्पान्त स्थिति के अलावा और कुछ नहीं। शुद्धावस्था वास्तव में यदि काल के अतीत होती, तो मध्य अवस्था में भी परिणाम नहीं रहता—सदाकालीन स्थिति ही होती। और, यदि स्वभावजात संकल्प के फलस्वरूप आकार का ग्रहण या त्याग होता, तो आविर्भाव और तिरोभाव तो रहता, परन्तु वैसी स्थिति में नित्यसिद्ध आकार का ही ग्रहण और त्याग होता, आकार का निर्माण नहीं होता। अवश्य, वह अवस्था भी है, किन्तु वह कालचक्र के ऊपर स्थित है। बौद्ध महायानाचार्य तथा वैष्णवाचार्य उस अवस्था का परिचय विशेष रूप से दे गये हैं। काल की वक्रगति से ऊपर उठ सकने से अजरत्व-लाभ होता है और काल की गति का स्तम्भन होने से जन्म-मरण कट जाता है। चन्द्रकलारूप बिन्दु क्षरित होकर कालचक्र में गिरता है—कालाग्नि उसे

१. 'अपाम सोमममृता अभूम'—यहाँ सोम या अमृतपान के फलरूप जिस अमरत्व का वर्णन है, वह भी दीर्घजीवित्व है, ऐसा बहुतों ने कहा है। इस सोम को यदि चन्द्रबिन्दु या अमृतकला मान लिया जाय, तो इस अमरत्व को आपेक्षिक न कहकर यथार्थ ही मानना होगा। और, यदि इसे क्षरित अमृतधारा माना जाय, तो पहले की व्याख्या अवश्य सुसंगत होगी। जो क्षरित होता है, उससे अक्षरावस्था की उपलब्धि नहीं हो सकती।

शोषित करती है, ग्रास करती है। जरा उसी का फल है।[1] मृत्यु भी वही है।[2] अतएव, विन्दु जब अक्षरभाव प्राप्त होकर चन्द्र की षोडशी या अमृतकला में विलीन होता है, जब इसकी चंचलता जाती रहती है, तब जरा और मृत्यु तिरोहित होती हैं। इसे स्कन्धसिद्धि कहते हैं। जरा नहीं रहने से सिद्धदेह रूपलावण्ययुक्त होती है, और सोमकला से पूर्ण रहती है तथा स्थिरता आने से देह वज्रवत् सुदृढ होती है।

---

१. द्रष्टव्य :

यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः॥ (ह० यो० प्र०, ३।७७)

टीकाकार कहते हैं : यहाँ सूर्य = अग्नि है।

२. द्रष्टव्य : चन्द्रात् सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणाम्।
(ह० यो० प्र०, ३।२०)

तुलनीय : मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

कहना नहीं होगा, यह बिन्दुधारण और कुछ नहीं, यह पूर्ववर्णित चन्द्रबिन्दु को क्षरित नहीं होने देना और क्षरणशील अंश को अक्षरत्व में परिणत करना है। यह अक्षरावस्था ही ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा है।

द्वितीय अध्याय

सहज और सिद्धधारा

सहजयान और वज्रयान-सम्बन्धी संक्षिप्त आलोचना के प्रसंग में हमने सिद्धमार्ग अथवा नाथपन्थ के बारे में दो-चार बातें कही हैं। परन्तु, उतने से वक्तव्य विषय सम्यक् रूप से परिस्फुट नहीं हुआ है। सिद्ध-सम्प्रदाय का विचार और सिद्धान्त स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं होने से सहजमार्ग तथा अन्यान्य बौद्ध और अ-बौद्ध सम्प्रदायों से उसकी तुलनामूलक आलोचना नहीं हो सकती। विशेषतः, मध्ययुग की साधना से परिचय प्राप्त करने के लिए इस विषय की व्यापक और सूक्ष्म रूप से आलोचना आवश्यक है।

सिद्धों का आचरित और प्रचारित धर्म बहुत अंशों में हठयोग का ही अभिन्न रूप है। लौकिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय के यथार्थ प्रवर्त्तक कौन हैं, यह जानने का उपाय नहीं है। यद्यपि, परमार्थतः अन्यान्य विद्याओं की तरह हठविद्या भी साक्षात् रूप से परब्रह्म से ही उद्भूत है, और हठयोगी भी यही कहते हैं,[१] तथापि उस विद्या के जागतिक प्रचार के प्रथम नेता कौन हैं, यही हमारा जिज्ञास्य है। साधारणतया, मत्स्येन्द्रनाथ को ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक माना जाता है। अवश्य, इसका प्रमाण भी है।[२] किन्तु,

---

१. 'हठयोगप्रदीपिका' (१।१) में है: 'श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।' ब्रह्मानन्द ने अपनी 'ज्योत्स्ना' नाम की टीका में प्रकारान्तर से यही बात कही है: 'गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः।' महाकालयोगशास्त्र प्रसिद्ध महाकालसंहिता से पृथक् या अभिन्न ग्रन्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु, उस ग्रन्थ का जितना अंश लेखक के देखने में आया है, उसमें यह नहीं मिलता।

२. 'हठयोगप्रदीपिका' (१०४) में है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ, ये दोनों आचार्य ही हठयोग के रहस्य को जानते थे। ब्रह्मानन्द ने इस प्रसंग में जलन्धरनाथ, भर्त्तृहरि और गोपीचन्द्र के नामों का उल्लेख किया है। कहना नहीं होगा, ये सभी नाथ-सम्प्रदाय के उपदेष्टा हैं। भर्त्तृहरि का दूसरा नाम विचारनाथ है। उनकी अनेक पदावलियाँ हैं। गोपीचन्द की भी हैं। जलन्धर, चर्पटी, चौरंगी या चतुरंगीनाथ, बालनाथ आदि अनेक सिद्धों की पदावलियाँ न्यूनाधिक परिमाण में मिलती हैं। यह सब पद-साहित्य तथा निरंजनपुराण, विराट्पुराण, अवधूतविद्या, गोरक्षोपनिषद् आदि ग्रन्थों की आलोचना से स्पष्ट ही प्रतीयमान होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्ष इस सम्प्रदाय के लौकिक प्रवर्त्तक हैं। बंगला-भाषा में भी नाथों की बहुतेरी

भारतीय साधन-पद्धति के इतिहास और क्रम-विकास की आलोचना करने से ज्ञात होता है कि सिद्धमार्ग के स्थापित होने के पहले से ही किसी-न-किसी रूप में हठयोग प्रचलित था। मार्कण्डेय-प्रोक्त हठयोग बहुत प्राचीन है, उसमें विशुद्ध हठयोगांश से नाथों के प्रचारित सिद्धान्त का मौलिक ऐक्य होते हुए भी अवान्तर विषयों में बहुत वैलक्षण्य था। सिद्धमार्ग का जो प्राणस्वरूप है, उसके वैशिष्ट्य-सम्पादक, नाथों ने ही अपनी साधना और अनुभूति के फलस्वरूप संसार में, उसका व्यापक रूप में प्रचार किया था।

प्रसंगतः, यहाँ एक बात कह रखते हैं। बौद्ध महायान-सम्प्रदाय के अन्तर्गत सहज और वज्रमार्ग में अनुभूतिसम्पन्न आचार्यों को 'सिद्धाचार्य' नाम से अभिहित किया जाता था। मत्स्येन्द्रनाथ के नाम से जो धर्ममत संसृष्ट है और जिसे हमने सिद्धमार्ग कहा है, उसमें भी आचार्य को साधारणतया सिद्ध ही कहा जाता है। नाथों द्वारा प्रचारित सिद्धमार्ग में परमपद को 'सहजावस्था', केवलमात्र 'सहज' या 'स्वभाव' रूप में वर्णित किया जाता है। कहना बाहुल्य होगा कि यह 'सहज' शब्द सहजपन्थियों अथवा वज्रपन्थियों का एक पारिभाषिक शब्दविशेष है। दोनों ही मार्गों में योग की प्रधानता कीर्त्तित हुई है, युगनद्ध रूप में गुरु की आत्यन्तिक आवश्यकता अंगीकृत हुई है और देहसिद्धि का गौरव मुक्त कण्ठ से उद्घोषित हुआ है। इस प्रकार, बहुतेरे ही विषयों में, दोनों मतों में समानता दिखाई पड़ती है। जिन सिद्धों को बौद्ध सहजिया या वज्रयानी साधक भक्तिपूर्वक उपास्य रूप में उल्लेख करते हैं, वे सभी—सभी न सही, उनमें से अधिकांश ही—हठयोगी नाथपन्थियों के लिए भी नमस्य हैं। जो रासायनिक मध्ययुग में रसविद्या के प्रभाव से लौहवेध की भाँति देहवेध या पिण्डस्थैर्य के सम्पादन के लिए तदुपयोगी साधन-पथ पर अग्रसर हुए थे, वे भी उनका उल्लेख रससाधना के प्रवर्त्तक आदिगुरु के रूप में कर गये हैं। तन्त्र में कहीं-कहीं इन सिद्धों की भूयसी प्रशंसा की गई है।

किन्हीं-किन्हीं का विचार है, सिद्ध अद्वैतवादी थे, परन्तु सिद्धों के जो पद या वाक्यावली उपलब्ध हैं, उनकी विशेष पर्यालोचना करने से लगता है, सिद्धों ने द्वैतवाद या अद्वैतवाद—किसी पक्ष का भी सहारा नहीं लिया। बहुत जगह अपने मत को उन्होंने द्वैताद्वैतविलक्षण कहकर वर्णित किया है। जलन्धरनाथ सिद्धमत के एक बहुत ही प्रसिद्ध और क्षमताशाली आचार्य थे। उन्होंने अपनी 'सिद्धान्तवाक्य' नामक पदावली में नाथ-

---

कहानियाँ हैं। उनमें कुछ-कुछ प्रकाशित भी हुई हैं। हिन्दी और मराठी-साहित्य में भी बहुत कुछ ऐसा ही है। अँगरेजी, बँगला, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं की विभिन्न सामयिक पत्रिकाओं में इस विषय के बहुत से लेख भी छपे हैं। लेखक का Some Aspects of the History and Teachings of the Nathas' नामक निबन्ध द्रष्टव्य है। (इस निबन्ध का प्रथमांश-मात्र 'The Princess of Wales Sarasvati Bhavana Studies, Vol. VI, PP.19-43, अबतक प्रकाशित हुआ है।)

सिद्धान्त के बारे में स्पष्ट कहा है : **'द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शङ्करं वा ।'** 'नाथसूत्र' ग्रन्थ में भी यही सिद्धान्त स्पष्टतः प्रतिपादित हुआ है। उन्होंने जैसे द्वैत या अद्वैत किसी भी मत को सत्य रूप में ग्रहण नहीं किया है, वैसे ही भ्रान्त मानकर किसी का परिहार भी नहीं किया है। वे कहते हैं, द्वैत और अद्वैत, दोनों का सामरस्य नहीं होने से पूर्ण सत्य के साक्षात्कार की सम्भावना नहीं। इसलिए, नाथमत में एक ऐसे सर्वांग-सुन्दर सामंजस्य का आदर्श देखने को मिलता है, जो अन्यत्र सुलभ नहीं। जड और चैतन्य में विरोध है, यह कल्पना करके जो लोग दूसरे पक्ष का समर्थन करते हैं, नाथ-सिद्धान्त की ओर से देखने पर उन्हें भ्रान्त रूप में अंगीकार करना होगा। जिस कायसिद्धि का प्रचार नाथसिद्ध कर गये हैं, और जो भारतीय साधना के लिए एक महान् गौरव का विषय है, वह वास्तव में इस सामरस्य-भाव के ही अनुकूल है। जबतक जड और चेतन पृथक् भाव से रहेगा, तबतक देहसिद्धि की आशा केवल आकाशकुसुम है। सिद्धदेह और आत्मस्वरूप में वास्तविक कोई भेद नहीं। और, देहसिद्धि के विना आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। जिस कर्म-कौशल से देह और आत्मा का यह कल्पित भेद मिटता है और मौलिक अभिन्नता प्रतिष्ठित होती है, सिद्धयोगी उसी साधन-प्रणाली का 'योग' के रूप में वर्णन करते हैं। इसीलिए, वे कहते हैं, योग के विना परावस्था की उपलब्धि असम्भव है। आदिनाथ ने कहा है :

योगमार्गात् परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।

'विवेकमार्त्तण्ड' नामक ग्रन्थ में भी शब्दों के हेर-फेर से यही बात कही गई है :

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

तथाकथित गुरुमुख-निःसृत उपदेशावली अथवा शास्त्रमाला केवल विकल्पजाल है। उससे जीव की बन्धनमुक्ति में बिन्दुमात्र भी सहायता नहीं मिलती। निर्विकल्प परम पद में पहुँचने के लिए अन्यान्य विकल्पों की भाँति शास्त्र-अध्ययन-रूप विकल्प का भी पूर्ण रूप से त्याग करना होता है। केवल इन्द्रियगोचर शब्दों को सुनकर कोई कभी इन्द्रिय के अतीत निष्कम्प चिन्मय स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। जीवन का जो अंश शास्त्रपाठ अथवा विकल्पमय वाग्जाल के विस्तार में खर्च होता है, सिद्धों के मत में वह निष्फल है। विकल्प में पड़कर जीव अपने नित्यसिद्ध रूप को भूल गया है और अविद्या के प्रभाव से असत् को सत् समझकर तृषाकुल हृदय से मरुस्थल में भटके पथिक की भाँति क्रमशः मरीचिका की ओर ही बढ़ता है। सिद्धों का कहना है, विकल्पों का उपशम और अनादि प्रवहमाण भ्रान्ति-स्रोत का निरोध हुए विना जीव के परम कल्याण-लाभ की कोई आशा नहीं। अन्धा जैसे अन्धे को रास्ता दिखाकर नहीं ले जा सकता, वैसे ही विकल्पग्रस्त कोई जीव दूसरे जीव को केवल विकल्प के सहारे निर्विकल्प परमपद पर नहीं उठा सकता।

इसीलिए, गुरु की आवश्यकता है। गुरु की कृपा के विना, गुरु की दी हुई शक्ति के सहारे के विना जीव के लिए मोह से उत्तीर्ण होने की कोई आशा नहीं। जो परम्परा-प्राप्त महाजनों के आचरित सुपन्थ को दिखाकर जीव की भ्रान्ति दूर करके बल देने में

समर्थ हैं, जिनके सहारे जलधारा में बहते तिनके की तरह संसार-सागर में निरन्तर उत्थान-पतनशील जीव, असहाय जीव आत्मस्वरूप में विश्राम-लाभ कर सके, वही गुरु-पदवाच्य हैं। वह जो रास्ता दिखाते हैं, उसी रास्ते से चलने पर स्वसंवेद्य आत्मवस्तु का दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त, आत्मसाक्षात्कार का दूसरा कोई उपाय नहीं। केवल उपदेशमय वाक्याडम्बर से आत्मा के स्वरूप का परिचय नहीं दिया जा सकता। क्योंकि, आत्मा स्वयम्प्रकाश है—मन, वाक्य, इन्द्रिय आदि के अगोचर है। इसीलिए कहा गया है : 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्।' जठरसंहिता में है :

> परम्पराप्त-सन्मार्ग-दर्शने यस्य योग्यता।
> स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रान्तिकारणम्॥
> तेन सन्दर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम्।
> भवतीति गुरुं देवभावेन परिचिन्तयेत्॥

एकमात्र गुरु के कृपा-कटाक्ष से ही निरुत्थान-दशा का उदय होता है। इस अवस्था में स्वदेह-आत्मसंवेद्य अवस्था प्राप्त करके परम पद से सामंजस्य लाभ करता है। तब निज आवेशवश, अर्थात् आत्मस्मृति के उदय से एक अनिर्वचनीय महा-आनन्दमय अवस्था का स्फुरण होता है। इससे जिस प्रकाश का उद्दीपन होता है, उसकी अनुभूति होने से ही सारे भेद तिरोहित हो जाते हैं।

अपने पिण्ड अथवा देह का ज्ञान सम्यक् सिद्ध होने से परमपद के साथ उसका ऐक्य अथवा अभेद स्वभावतः ही प्रतिष्ठित होता है। जिसके अवगत होने से समस्त जगत् का ज्ञान उदित होता है और सभी प्रकार की सिद्धियाँ आप-ही-आप उपस्थित होती हैं, उसे परमपद कहते हैं। इस ज्ञान की चार अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था में, परमेश्वर को विश्व में सभी रूपों में समभाव से विद्यमान देखा जाता है। सिद्धों की पारिभाषिक भाषा में इसका नाम है 'सहजज्ञान'। स्मरण रखना होगा, आत्मा में विश्वदर्शन एवं विश्व में आत्मदर्शन परस्पर पृथक् अवस्था है। आत्मा में विश्वदर्शन होने से ही सहज ज्ञान का आविर्भाव नहीं होता; क्योंकि जबतक तुरीयातीत परमात्मा को विश्व के अणु-परमाणु में पूर्णतया प्रत्यक्ष नहीं किया जाता, तबतक ज्ञान पूर्णता नहीं पा सकता। दूसरी अवस्था में, स्फुरणशील वृत्तियों की संयमपूर्वक आत्मा में धारणा की जाती है। ज्ञान की इस अवस्था का नाम 'संयमज्ञान' है। तीसरी अवस्था में, प्रकाशमय आत्मा की स्वरूपतः अभिव्यक्ति के बाद सर्वदा 'लौल्य' अथवा उद्यम-अवस्था में उसकी स्थिति होती है। इसका नाम है 'उपायज्ञान'। चौथी अवस्था में, आत्मस्वरूप में जाति आदि विकल्पों का आत्यन्तिक दृष्टिगोचर होता है। यह 'अद्वय ज्ञान' की अवस्था है। इन्हीं चतुर्विध भावों से परावस्था का उदय होता है। परावस्था-प्राप्त योगी तृप्त और निर्विकल्प भाव से सदा निरुत्थान-पद पर विराजमान रहते हैं।

कोई-कोई परम पद की प्राप्ति का साधन इस प्रकार बताते हैं :

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः सर्वनिग्रहः ।
स्वोपायं स्वस्य विश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ।।

सिद्ध साधक कहते हैं कि पिण्ड और पिण्डाधार शक्ति का ज्ञान प्राप्त नहीं होने से तत्त्वबोध अधूरा रह जाता है । इस देह का ही नामान्तर पिण्ड है — इसका ज्ञान आवश्यक है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड में मूलगत ऐक्य विद्यमान है—व्यष्टि और समष्टि में जैसा भेद है, पिण्ड और ब्रह्माण्ड में वैसा ही है । ब्रह्माण्ड की सृष्टि और क्रम-विकास को समझने के लिए अपने पिण्ड की उत्पत्ति और परिणाम-प्रणाली का विचार करना चाहिए । ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है, पिण्ड में भी सूक्ष्म रूप से वही सब कुछ है । इसीलिए, जो पिण्डतत्त्व के ज्ञानी हैं, उनके लिए ब्रह्माण्ड का कुछ भी अज्ञात नहीं रहता । सप्त तल, इक्कीस लोक, सात द्वीप, सात समुद्र, नव खण्ड, बहत्तर हजार नदियाँ; नक्षत्र, राशि, ग्रह-तारा, पर्वत, देवता आदि सभी देह को आश्रय करके वर्त्तमान हैं। सुखरूपी स्वर्ग, दुःखात्मक नरक, निर्विकल्प-रूपी मोक्ष—यह भी देहाश्रित हैं । निद्रा के आरम्भ में और जागरण के अन्त में जिस क्षण स्थायी अवस्था का प्रकाश होता है, उसे स्व-स्वरूप के रूप में ग्रहण किया जा सकता है । सारांश यह कि ब्रह्माण्ड में जितने प्रकार के भाव या अवस्थाएँ हैं, क्रिया-कुशल कर्मी उन सबको आत्मदेह में ही प्रत्यक्ष देख पाते हैं :

घटे घटे चित्प्रकाशस्तिष्ठतीति प्रबुध्यताम् ।
अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूपो महेश्वरः ।।

निराकार परम वस्तु जब आकार-धारण के लिए उन्मुख होती है, तभी से सृष्टि की सूचना होती है । सिद्ध साधक इस सूचना से पूर्ण विकास तक सारी अवस्थाओं को छह भागों में बाँटकर छह प्रकार के पिण्ड के स्वरूपों का निरूपण करते हैं । उनमें पहले पिण्ड के नाम पर या आदिपिण्ड, दूसरे का साकारपिण्ड और तीसरे से छह तक चार पिण्डों के नाम क्रम से महासाकार, प्राकृत, अवलोकन और गर्भ हैं ।

पिण्ड की उत्पत्ति के पहले जो परमतत्त्व अव्यक्त भाव में आप-ही-आप वर्त्तमान रहते हैं, जो कार्य, कारण, कर्तृत्व, कुल, अकुल आदि सब प्रकार के भेदों के अतीत हैं, वह 'स्वयंतत्त्व' नाम से प्रसिद्ध हैं । उनकी एक 'निजा शक्ति' है, जो स्वयंतत्त्व की स्वरूपभूता शक्ति है । इस 'निजा शक्ति' से अवरोह-क्रम से शक्तिचक्र का क्रम-विकास होता है। निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली शक्ति की ये पाँच अवस्थाएँ हैं। याद रखना है, शक्ति स्वरूप का ही धर्म या अवस्था-मात्र है। परा का लक्षण उन्मुखता, अपरा का स्पन्दनमात्र, सूक्ष्मा का अहन्ता एवं कुण्डलिनी का स्थूलत्व है। निजा आदि

शक्तिपंचक में प्रत्येक के ही पाँच गुण हैं।[1] पर या आदिपिण्ड इन पाँच शक्तियों से घटित है। अतएव, परपिण्ड में पच्चीस गुणों का समावेश है।[2]

परपिण्ड से महाकाश आदि क्रम से महापृथिवी तक तत्त्वपंचक अभिव्यक्त होता है। इन पाँच तत्त्वों के संघात से साकार पिण्ड उद्भूत होता है। इनमें से प्रत्येक के पाँच

---

१. निजा के गुण : निराकारता, नित्यता, निरन्तरत्व, निःस्पन्दता और निरुत्थान-भाव'; परा के गुण : अस्तित्व, अप्रमेयत्व, अभिन्नता, अनन्तत्व और अव्यक्तता; अपरा के गुण : स्फुरत्ता, स्फारता, स्फुटता, स्फोटता और स्फूर्त्ति; सूक्ष्मा के गुण : निरन्तरत्व, निरंशत्व, निश्चलत्व, निश्चय और निर्विकल्प भाव; कुण्डलिनी के गुण : पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रकृतिरूपता, प्रत्यङ्मुखत्व और उच्चल स्वभाव। (द्रष्टव्य : नित्यनाथ-कृत 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' और बलभद्र-कृत 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह')

२. सिद्ध साधु बहुत प्रकार से परपिण्ड के पच्चीस गुणों को दिखाते हैं। शक्ति-पंचक के अनुरूप पाँच तत्त्व या पद हैं। जैसे : अपर, पर, शून्य, निरंजन और परमात्मा। इनमें से प्रत्येक में पाँच गुणों की सत्ता और क्रिया स्वीकृत होती है। परपिण्ड इन पाँच तत्त्वों से बनता है, इसलिए परमपिण्ड में पच्चीस गुणों की सत्ता को अंगीकार किया जाता है। अस्तिता, स्वयंवेदनाभास, स्वेच्छामात्र, सत्तामात्र और स्व-साक्षात्कार—यही अपरा आदि पाँच पदों या तत्त्वों का स्वरूप है। अपर पद के गुण : अकलत्व, संशयहीनता, अनुमतत्व, अपरत्व और अमरत्व; पर पद के गुण : निष्कलत्व, अलोलत्व, असंख्येयत्व, अक्षयत्व और अभिन्नत्व; शून्यपद के गुण : लीनता, पूर्णता, मूर्च्छा, उन्मनी, और लय; निरंजन के गुण : सहजत्व, सामरस्य, सत्यत्व, सावधानता, सर्वगत्व; परमात्मा के गुण : अभयत्व, अभेद्यत्व, अच्छेद्यता, अनाश्यता और अशोष्यता।

परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश, सोऽहम्भाव—परपिण्ड के अन्तर्गत ये पाँच क्रम-विकसित अवस्थाएँ हैं। उनमें से प्रत्येक अवस्था में पाँच गुणों का विकास होता है। परमानन्द के गुण : निःस्पन्दता, हर्ष, उन्माद, स्पन्द और नित्यसुख; प्रबोध के गुण : उदय, उल्लास, अवभास, विकास और प्रभा; चिदुदय के गुण : सद्भाव, विचार, कर्त्तृता, ज्ञातृत्व और स्वातन्त्र्य; प्रकाश के गुण : निर्विकारता, निष्कलता, सद्बोध, समता और विश्रान्ति; सोऽहम्भाव के गुण : अहन्ता, खण्डितैश्वर्य, स्वानुभूति, समर्थता और सर्वज्ञता।

गुण हैं[1], इसलिए साकार पिण्ड में भी पच्चीस गुणों का विकास दिखाई पड़ता है। शिव, भैरव, श्रीकण्ठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और विधि—ये आठ महासाकार पिण्ड की आठ मूर्त्तियाँ हैं। महासाकार-पिण्ड के विकास के बाद प्राकृत-पिण्ड का उद्भव होता है। पांचभौतिक शरीर को ही सिद्ध साधक प्राकृत-पिण्ड कहते हैं। विधि या ब्रह्मा से ही इसकी उत्पत्ति होती है। प्रत्येक भूत में पाँच गुण हैं, इसलिए शरीर में भी पच्चीस गुणों की क्रिया उपलब्ध होती है।[2] प्राकृत-पिण्ड से नर-नारी-रूप अवलोकन-पिण्ड एवं अवलोकन-पिण्ड से दश-धातुमय[3] गर्भपिण्ड उत्पन्न होता है।

ऊपर सिद्धों द्वारा किये गये पिण्ड-विभाग का जो विवरण दिया गया, उससे यह ज्ञात होता है कि उनके मत से साकार की भाँति निराकार भी सृष्टि के अन्तर्गत है। परम वस्तु साकार और निराकार दोनों के अतीत है। निराकार अवस्था ही अद्वैत अवस्था है। कहना बाहुल्य है, सापेक्षता-निबन्धन यह भी परमपद नहीं। इन छह पिण्डों में किसी को भी सिद्धपिण्ड नहीं कहा जाता; क्योंकि परमपद से सामरस्य नहीं होने तक पिण्डसिद्धि नहीं हो सकती।

शिव और शक्ति में वास्तव में कोई भेद नहीं :

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।

चन्द्र और चन्द्रिका में जैसे स्वरूपगत कोई भेद नहीं, वैसे ही शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं। जिसे शिव कहा जाता है, वह भी शक्ति की ही एक नित्य-सिद्ध अवस्था-मात्र है। सिद्ध साधक इस अवस्था को 'निरुत्थान-दशा' कहते हैं—यह शक्ति की आत्म-लीन अवस्था है। इस अवस्था को शास्त्र में कुलाकुलस्वरूप, सामरस्य, भूमि, सत्ता, अहन्ता, परा भासा, स्फुरत्ता आदि आख्याएँ दी गई हैं।

---

१. महाकाश के गुण : अवकाश, छिद्र, अस्पृश्यता, रव और नीलवर्ण; महावायु के गुण : संचार, चालन, स्पन्द, शोषण, धूम्रवर्ण; महातेज के गुण : दाहकता, पावकता, सूक्ष्मता, रूप-भावकत्व और रक्तवर्ण; महाजल के गुण : प्रवाह, आप्यायन, रस, द्रव और श्वेतवर्ण; महापृथिवी के गुण : स्थूलता, नानाकार, काठिन्य, गन्ध और पीतवर्ण।

२. आकाश के गुण : राग, द्वेष, भय, लज्जा और मोह; वायु के गुण : धावन, चलन, रोध, प्रसार और आकुंचन; तेज के गुण : क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, निद्रा और कान्ति; जल के गुण : लाला, मूत्र, रक्त, स्वेद और शुक्र; पृथिवी के गुण : अस्थि, त्वक्, मांस, लोम और नाडी।

३. दस धातुओं में अस्थि, मज्जा, मेद और शुक्र पितृवीर्य से एवं मांस, रक्त, लोम, वात, पित्त और कफ—ये छह माता से उत्पन्न होते हैं।

शक्ति के कुल और अकुल—ये दो अवस्थाएँ हैं। कुलशक्ति पाँच प्रकार की है—सत्त्व, रज, तम, काल और जीव। अर्थात्, त्रिगुणात्मिका प्रकृति, प्राकृतिक परिणाम का हेतु काल[1] एवं प्रकृति का उपद्रष्टा पुरुष सभी कुलशक्ति के अन्तर्गत हैं। प्राचीन सांख्याचार्य पुरुष, प्रकृति और काल—इन तीन तत्त्वों को मूलतत्त्व मानते थे। सिद्धों की लक्षित अकुल शक्ति को उन्होंने नहीं लिया है। प्रत्येक कुलशक्ति में पाँच गुणों का विकास होता है।[2] किन्तु, अकुलशक्ति एक, अखण्ड, अद्वय, अनन्त, अधर्मक और निरन्तर है। इस अकुलशक्ति को अपरम्परा या साक्षात् शक्ति भी कहा जाता है। कुलशक्ति ही परम्परा-शक्ति है—यही पिण्ड की आधारभूत कुण्डलिनी-शक्ति है। यह साधारणतः सर्वत्र अबुद्ध अथवा प्रसुप्त अवस्था में वर्त्तमान है। योगबल से अथवा सदगुरु-प्रदर्शित क्रिया-कौशल से इस निद्रित कुण्डलिनी-शक्ति को प्रबुद्ध या चेतन करना होता है। इस चैतन्य-सम्पादन के फलस्वरूप ही महाशक्ति[3] का विकास एवं क्रमशः पिण्डसिद्धि संघटित होती है।

---

१. प्रचलित सांख्य में प्रकृति का परिणाम स्वाभाविक अंगीकृत होता है। काल पृथक् तत्त्व स्वीकृत नहीं होता। दिक् और काल—दोनों ही आकाश के अन्तर्भुक्त हैं। किन्तु, प्राचीन सांख्य में एवं तदनुयायी पांचरात्र आदि शास्त्रों में बहुत स्थानों पर प्रकृति के परिणाम को नैमित्तिक कहा गया है। यह निमित्त ही उनका कालतत्त्व है। निमित्त का वृत्तिरोध-निबन्धन उपसंहार होने से प्रकृति का सदृश परिणाम तक निरुद्ध हो जाता है। उस समय प्रकृति का परिणाम ऐकान्तिक रूप से निवृत्त हो जाता है, इसलिए गुणातीत अवस्था का उन्मेष होता है। प्रचलित सांख्य में कहा गया है : 'चलं च गुणवृत्तम्।' अतएव, गुण कभी निश्चल नहीं हो सकता। अर्थात्, प्रचलित सांख्यमत में गुण नित्य है, कदापि उसका उपसंहार स्वीकृत नहीं होता। कहना नहीं होगा, प्राचीन सांख्य बहुत कुछ वेदान्त का अनुगामी है।

२. सत्त्व के गुण : दया, धर्म, क्रिया, भक्ति और श्रद्धा; रज के गुण : दान, भोग, शृंगार, स्वार्थ और आदान; तम के गुण : मोह, प्रमाद, निद्रा, हिंसा और क्रूरता; काल के गुण : विवाद, कलह, शोक, बन्ध और वंचना; जीव के गुण : जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत। कुलशक्ति में ये पच्चीस भाव हैं।

३. 'तत्त्वसार' के मत में कुण्डलिनी की प्रबुद्ध या परावस्था ही मध्यशक्ति या परासंवित् है। सभी शास्त्रों में इन्हीं को 'महेश्वरी' कहकर स्तव किया गया है। सद्गुरु के आश्रय में इस शक्ति को अपनी स्वरूप-दशा में प्रबुद्ध कर सकने से देहसिद्धि होती है। जिस अवस्था में जाने से शक्ति के अवरोह की सम्भावना दूर होती है, वही शक्ति की परावस्था या शिवभाव की प्राप्ति है। व्युत्थान नहीं होता, इसलिए इस दशा को निरुत्थ दशा के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसे शिवभाव या शिवकैवल्य कहा जा

पिण्डसिद्धि योगमार्ग की साधनागत, असाधारणता और वैशिष्ट्य है। सिद्ध योगी कहते हैं, शुष्क ज्ञानमार्ग से योगमार्ग का यही भेद है। ज्ञानमार्ग में देह परिपक्व नहीं होने के कारण प्रारब्ध को जीता नहीं जा सकता। परन्तु, योगाग्नि-संस्कृत देह प्रारब्ध के अधीन नहीं।[१] इसे हम और स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। शास्त्र में है कि जन्म अथवा स्थूलदेह-सम्बन्ध, आयु या जीवितकाल, और भोग या सुख-दुःख का बोध प्रारब्ध कर्म का फल है। प्रारब्ध कर्म की अखण्डनीयता-निबन्धन जाति, आयु या भोग का परिवर्त्तन सम्भव नहीं होता। यहाँतक कि ज्ञान के उदय से जब संचित कर्म जल जाता है और क्रियमाण कर्म नहीं रहता, तब भी प्रारब्ध वर्त्तमान रहता है प्रारब्ध कर्म एकमात्र भोग से ही क्षीण हो सकता है। चूँकि प्रारब्ध बचा रहता है, इसलिए ज्ञानोदय के साथ-साथ देहपात नहीं होता। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का यही भेदहेतु है। अतएव, जीवन्मुक्त पुरुष भी प्रारब्धहीन नहीं। 'पंचदशी' नामक वेदान्त-ग्रन्थ में तीन प्रकार के प्रारब्ध कर्म अंगीकृत हुए हैं—स्वेच्छाप्रारब्ध, परेच्छाप्रारब्ध और अनिच्छाप्रारब्ध। 'अनुभूतिप्रकाश' ग्रन्थ में प्रकारान्तर से तीव्र, मध्य, मन्द और सुप्त—ये चार प्रारब्ध व्याख्यात हुए हैं। तीव्र आदि प्रत्येक प्रारब्ध के स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा-भेद से तीन प्रकार हैं। अतएव, प्रारब्ध कर्म वस्तुतः बारह प्रकार के हैं। पुराण आदि में जो सब आख्यायिकाएँ हैं, उनमें प्रत्येक प्रकार के प्रारब्ध के ही दृष्टान्त पाये जा सकते हैं। पानी में मछलियों की क्रीडा देखकर सौभरि मुनि मान्धाता राजा की कन्याओं से निरन्तर विलास में रत हुए थे–यह स्वेच्छातीव्र प्रारब्ध का निदर्शन है। गुरु के शाप से पक्षभेद से चन्द्रमा का ह्रास और वृद्धि परेच्छातीव्र प्रारब्ध का फल है। इसी प्रकार, अजातशत्रु की व्युत्थान-दशा में दुःख आदि का ज्ञान, शिखिध्वज के तत्त्वबोध के बाद भी चूडाला की इच्छा से राज्यभोग और भगीरथ का भी राज्यभोग क्रम से स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छामध्य प्रारब्ध के फल हैं। कवि, हरि आदि योगियों की आत्मसुख की खोज, नारद की इच्छा से ध्रुव का भगवद्दर्शन-जन्य आत्मसुखस्मृति एवं वामदेव आदि का गर्भ में ही तत्त्वज्ञान का उदय स्वेच्छा आदि भेदयुक्त मन्द प्रारब्ध का निदर्शन है। ऋषभदेव की निर्विकल्प समाधि के विषय में अन्तरा-राहित्य, अगस्त्यशिष्य विन्ध्य पर्वत की अवस्था और तत्त्वज्ञानशालिनी पृथिवी की दशा—क्रमशः

सकता है। वैदान्तिक 'चिदानन्दरूप : शिवोऽहं शिवोऽहं' कहकर इस निरस्थ शक्ति की ही स्तुति करते हैं।

१. विद्यारण्यस्वामी ने 'जीवन्मुक्तिविवेक' में कहा है : "प्रारब्धं कर्म यथा तत्त्वज्ञानात् प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलोऽस्तु। तथा च योगिनामुद्दालकवीतहव्यप्रभृतीनां स्वेच्छया देहपरित्याग उपपद्यते।" यहाँ स्पष्ट ही प्रारब्ध से योगाभ्यास की प्रबलता मानी गई है।

तीन प्रकार के सुप्त प्रारब्ध के फल-रूप में शास्त्रों में उल्लिखित हैं।[1] तत्त्वज्ञान से यह प्रारब्ध खण्डित नहीं होता।

१. अच्युतराय-कृत 'अद्वैतामृतमंजरी' नामक निबन्ध में ऐसे ही विभिन्न प्रकार के प्रारब्ध के दृष्टान्त संगृहीत हैं। स्वेच्छातीव्र प्रारब्धवश जीवन्मुक्त महापुरुष भी कदाचित् पशुवत् व्यवहार करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित याज्ञवल्क्य की गो-कामता इसका उदाहरण है। कश्यप ने दिति की इच्छा से प्रदोषकाल में उसके साथ विहार किया था। यह परेच्छातीव्र प्रारब्धवश पशुवत् व्यवहार का दृष्टान्त है। अनिच्छातीव्र प्रारब्ध का दृष्टान्त है—सनक आदि ऋषियों द्वारा वैकुण्ठ के द्वारपाल जय-विजय को शाप देना। सनक आदि शुद्धसत्त्व-प्रधान महात्मा थे, इसमें सन्देह नहीं। अतएव, दूसरों का अपकार करना उनका मनोगत अभिप्राय हो ही नहीं सकता। और, वैकुण्ठधाम के नित्यनिर्मल होने के नाते वहाँ राग-द्वेष की उद्भावना की सम्भावना ही नहीं। फिर भी, अन्तर्यामी की प्रेरणा से स्वकीय अनिच्छातीव्र प्रारब्ध के फलस्वरूप शाप-प्रदान संघटित हुआ था। स्वेच्छामध्य से बालक जैसा व्यवहार होता है। दत्तात्रेय ने जगत् में भोग की प्रधानता का प्रादर्शन करते-करते योगभाव के समय कार्त्तवीर्य आदि को अपना गुरुरूप और परमात्मभाव प्रकटित करके तत्त्व का उपदेश दिया था। परेच्छामध्य प्रारब्धवश में भी बालवत् व्यवहार होता है। श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में है, जडभरत ने राजा रहूगण द्वारा पालकी ढोने में लगाये जाने पर जीवहत्या के भय से धीरे-धीरे चलने से राजा का तिरस्कारभाजन होने के कारण उन्हें अद्वैत-तत्त्व का उपदेश दिया था। अनिच्छामध्य प्रारब्ध के फल से भी बालवत् व्यवहार होता है। दृष्टान्तस्वरूप, सूर्य आदि पुरुष के बारे में कहा जा सकता है। जीवन्मुक्त होने के कारण सूर्य आदि परमानन्दतृप्त और अपने-अपने अधिकार-भोग से स्पृहाशून्य थे, फिर भी अन्तर्यामी की प्रेरणा से उन्होंने प्रारब्ध के वशीभूत होकर उसके फलभोग के विरामकाल में याज्ञवल्क्य आदि को अद्वैत-तत्त्व का उपदेश दिया था। अनिच्छामध्य प्रारब्ध को सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिए। अब स्वेच्छामन्द प्रारब्ध का दृष्टान्त लें। बहुत दिनों तक भोग करके बलि वैराग्य प्राप्त हुए और फिर तत्त्वज्ञान प्राप्त करके समाधि में मग्न हुए। परेच्छा-मन्द प्रारब्ध के दृष्टान्त हैं प्रह्लाद। निर्विकल्प समाधि के पहले भगवदिच्छा से विवेक प्राप्त करके प्रह्लाद समाधिनिष्ठ हुए थे। अनिच्छामन्द प्रारब्ध के दृष्टान्त हैं जनक। 'योगवाशिष्ठरामायण' के उपशम-पकरण में है कि जनक एक दिन उपवन में भ्रमण को गये थे। उस समय कुछ आकाशविहारी सिद्ध उस स्थान पर शून्य पथ में आत्मतत्त्व के विषय में आपस में बात कर रहे थे। जनक की इच्छा नहीं होते हुए भी उन शब्दों को सुनकर वे विचारपरायण

इसीलिए योग की महिमा इतनी अधिक है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' (पतंजलि-पक्ष) में शंकराचार्य ने स्पष्ट कहा है : केवलमात्र ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। कहना बाहुल्य है, यह मत प्रचलित सिद्धान्त के विरुद्ध है। उन्होंने कहा है : विद्या और योग दोनों ही मुक्ति के साधन हैं। सद्गुरु के उपदेश से विद्यालाभ होता है और उसके फलस्वरूप अविद्या की निवृत्ति होती है। किन्तु, देहशुद्धि नहीं होने से देहरूप दर्पण का दोष नहीं मिटता। देहशुद्धि का एकमात्र उपाय योगाभ्यास है। इसीलिए, जिन्होंने ज्ञानलाभ किया है, उन्हें भी कभी-कभी दैहिक दोष के प्रबलता-निबन्धन की भ्रान्ति का उदय होता है। अतएव, ज्ञान और वैराग्य प्राप्त करके भी दोष के क्षय के लिए योगमार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। जैसे : गुड़ आदि के रस का सम्यक् ज्ञान होने से भी पित्तज्वर में उसका अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा का सम्यक् ज्ञान होने पर भी विना योग के उसकी अपरोक्ष अनुभूति नहीं होती। विद्या के संचार से अविद्या नष्ट होती है, साथ ही अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भी अपगत होता है। उस समय क्लेश नहीं रहता, इसलिए भोगलिप्सा भी नहीं रहती। उस समय मुक्ति के लिए योगाभ्यास करना आवश्यक होता है। दीर्घ काल तक इस अभ्यास से सारी चित्तवृत्ति के निरोधमूलक आत्मा की स्वरूप-अवस्थिति उपलब्ध होती है। योगी अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं, परन्तु वह सब ऐश्वर्य या सिद्धियाँ मुक्ति की बाधक नहीं होतीं : 'अणिमाद्यष्टकं तस्य योगसिद्धस्य

हुए थे। स्वेच्छासुप्त प्रारब्ध के फल से शुक की भाँति स्वेच्छावश निर्विघ्न दीर्घकाल तक असम्प्रज्ञात समाधि में स्थिति होती है। परेच्छासुप्त प्रारब्ध के उदाहरण श्रीरामचन्द्र हैं। वशिष्ठ के शक्ति-संचार से रामचन्द्र निर्विकल्पक समाधि में लीन हो गये थे। उस समय विश्वामित्र ने अपने और देवकार्यों के साधन के निमित्त उन्हें व्युत्थित करने के लिए वशिष्ठ की प्रार्थना की थी (द्रष्टव्य : योगवाशिष्ठरामायण, निर्वाणप्रकरण, पूर्वार्द्ध, अन्तिम सर्ग)। वशिष्ठ की इच्छा से राम की निर्विकल्पक समाधि-स्थिति परेच्छासुप्त प्रारब्ध का फल है। अनिच्छासुप्त प्रारब्ध के दृष्टान्त हैं देवहूति। श्रीमद्भागवत, तृतीय स्कन्ध में कपिल और देवहूति की आख्यायिका है। देवहूति पति और पुत्र के वियोग से व्याकुल हुई थीं। समाधि के विषय में उनकी बिलकुल उत्कण्ठा नहीं थी। फिर भी, अनिच्छासुप्त प्रारब्ध के उन्मेषवश उन्होंने निर्विकल्प समाधि लाभ की थी।

अच्युतराय-संगृहीत दृष्टान्त से समझ में आता है कि ज्ञानियों का व्यवहार-भेद प्रारब्ध का तीव्रतादि-निबन्धन है। उत्कट प्रारब्धवश ज्ञानी भी पशुवत् व्यवहार करते हैं। मध्य प्रारब्ध के फल से व्यवहार बालकवत् होता है। मन्द और सुप्त प्रारब्धजन्य व्यवहार क्रम से मिथुन और केलिवत् होता है। प्रारब्ध-भेद से अज्ञानी में भी व्यवहार-भेद दिखाई देता है। यहाँ वह आलोचना अप्रासंगिक है।

जायते । तेन मुक्तिविरोधो न शिवस्येव यथा तथा ।।' 'योगतत्त्वोपनिषद्' (१४।१५) में भी यही कहा गया है—योगहीन ज्ञान अथवा ज्ञानहीन योग, इनमें कोई भी मुक्ति का साधन नहीं ।

सिद्धयोगी इन सिद्धान्तों को अनेक स्थानों में, अनेक अवसरों पर मुक्त कण्ठ से प्रचारित कर गये हैं । वे कहते हैं, जबतक देह सिद्ध नहीं होती, जबतक देहजय नहीं होती, तबतक मुक्ति की आशा दुराशा है । 'योगबीज' नामक सिद्धमार्ग के ग्रन्थ में लिखा है : काम आदि दोषसमूह से घिरा जीव केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता : **'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।।'** योगाग्नि के सिवा देह को परिपक्व करने का दूसरा कोई उपाय नहीं । परिपक्व देह का लक्षण यह है कि वह जाड्य, शोक आदि से विमुक्त होता है । अ-योगियों की अपक्व देह जड, पार्थिव और दुःखप्रद है । 'योगबीज' के निर्माता ने विशद रूप से समझाया है कि योग के बिना ज्ञान, वैराग्य, जप—सभी निष्फल हैं । जो योगबल से देह को परिपक्व करने में समर्थ नहीं हुए हैं, वे ध्यानस्थ होकर भी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकते, तीव्र निग्रह से भी रिपुओं का दमन नहीं कर सकते, और शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से अविचलित नहीं रह सकते । अपक्व देह अग्नि, जल, वायु एवं शस्त्र से पीडित होती है और चित्त में विक्षोभ उत्पन्न होता है । अपक्व देह में प्राण और अपान का साम्यभाव प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, इसलिए वायु के विकार से चित्त में तरह-तरह के दुःखों का उदय होता है । चित्त को जय किये बिना शक्ति का पथ नहीं दीखता । देह के असिद्ध रहने से वायु प्रकृतिस्थ नहीं हो सकती । चित्त भी निश्चल नहीं होता । इसलिए, योग ही स्वाधीनता-प्राप्ति का एकमात्र साधन है । योगमार्ग का परिहार करके शास्त्र-अध्ययन, विचार, आचार, क्रिया-काण्ड, भजन आदि में जिसका भी सहारा क्यों न लिया जाय, किसी भी तरह से स्वरूप की अवस्थिति की सम्भावना नहीं । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के आक्रमण से ऊपर उठने के लिए योगरूप सोपान का आश्रय अवश्य लेना चाहिए ।

योगाग्नि द्वारा सप्तधातुमय देह दग्ध होती है—महाभूत का उपसंहार होता है । सिद्धयोगी कहते हैं, योगदेह देवदुर्लभ है—इसके बल की सीमा नहीं । यह शस्त्र से छिन्न नहीं होती, जल से क्लिन्न नहीं होती, आग से दग्ध नहीं होती, बन्धन से आबद्ध नहीं होती—यह आकाश जैसी है, यहाँतक कि आकाश से भी अत्यधिक स्वच्छ है । योगदेह वास्तव में स्थूल, सूक्ष्म, कारण—सब प्रकार की प्रकृतिक देह से ही विलक्षण है । चाहने से इसे स्थूलतम से भी स्थूलतम और सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्मतम किया जा सकता है । उपनिषद् ने आत्मा के लिए 'अणोरणीयान्' तथा 'महतो महीयान्' इन विशेषणों का प्रयोग किया है । वास्तव में, योगाग्नि-संस्कृत सिद्ध देह में भी इन विशेषणों की प्रयोज्यता है । यह कामरूप और स्वतन्त्र है—जरा और मृत्यु इसे स्पर्श नहीं कर सकती । इस देह से योगी त्रिभुवन में कहीं भी अनायास विहार कर सकते हैं । संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो इसकी गति में बाधा दे सके । योगदेहधारी इच्छानुसार एक ही साथ बहुत रूप धारण

कर सकते हैं, और फिर उन्हें छोड़ भी सकते हैं। जीवन्मुक्त पद का यदि कोई अर्थ हो, तो उसे कर्त्तव्यहीन, दोषरहित, निर्लेप, सदास्वरूपस्थ सिद्धयोगी के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए।

सिद्धमत में ज्ञानी देहान्त के बाद सिद्धसंगति लाभ करता है और सिद्ध की कृपा से योगलाभ करके संसार-सागर से उत्तीर्ण होता है। प्रश्न हो सकता है, तो क्या ज्ञान से मुक्ति नहीं होती ? शास्त्र में अनेक स्थानों पर ज्ञान को ही मुक्ति का साधन कहा गया है— वह क्या झूठ है ? इसका समाधान यह है कि शास्त्र का वाक्य मिथ्या नहीं। ज्ञान खड्ग, योग युद्ध और वीर्यस्वरूप है और मोक्ष जयलाभ है। खड्ग से जो जीत होती है, उसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु युद्ध और वीर्य के विना केवल खड्ग से जय की आशा दुराशा है। अनेक जन्मों के ज्ञान से योगलाभ होता है, परन्तु योग से एक ही जन्म में ज्ञान मिल सकता है। अतएव, मोक्ष के उपाय-रूप में दोनों की ही गणना होते हुए भी योग की ही प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है। ज्ञान के पथ में दीर्घकालव्यापी विचार के फलस्वरूप ज्ञान का उदय होने से 'मैं मुक्त हुआ हूँ' ऐसा एक बोध जगता है। लेकिन यह मुक्ति नहीं, मुक्ति का अभिमान ही है। इसके बहुत जन्मों के बाद योगलाभ होकर मुक्ति होती है। तब वह अभिमान नहीं रहता। परन्तु, योग के पथ का साधन-क्रम अलग है। इस पथ में प्राण और अपान के संयोग से देहस्थ चन्द्र और सूर्य में ऐक्य होता है। इस एकीकरण के प्रभाव से एक तीव्र अग्नि का विकास होता है, जिसे पारिभाषिक रूप में 'योगाग्नि' कहकर वर्णित किया गया है। इस चिन्मय अग्नि के अनुप्रवेश से सप्तधातुमय पिण्ड दग्ध होता है और अभिनव चित्-देह का आविर्भाव होता है। यही सिद्धदेह है। व्याधि, विकार, जरा, मृत्यु आदि इस देह को कलुषित नहीं कर सकते। अतएव, योगमार्ग पर चलनेवाले पथिक की बार-बार जन्म-मृत्यु होने की आशंका नहीं रहती—योग के प्रभाव से एक ही जन्म में ज्ञान का उदय हो सकता है। परन्तु, विचार-पथ से वह सम्भावना नहीं। चित् और प्राण परस्परसम्बद्ध हैं। चित्त को जय करने के लिए प्राण ही एकमात्र उपाय है, विचार नहीं। और, सिद्धमार्ग के सिवा प्राणजय की प्रणाली अन्यत्र सम्यक् रूप से आलोचित नहीं हुई है। प्राण को जय किये विना योगसिद्धि नहीं हो सकती। अतएव, योगप्रधान सिद्धमार्ग के अलावा चित्तजय का पन्थ और कहीं भी वैसा प्रदर्शित नहीं हुआ है, यह कहें, तो अत्युक्ति नहीं होगी। चित्त की जय और विशुद्धि समानार्थक हैं। विशुद्ध चित्त में आत्मज्ञान स्वभावतः अपरोक्ष अनुभूति के रूप में ही उदित होता है।

●

तृतीय अध्याय

सिद्धों की चक्र-साधना

कुण्डलिनी-शक्ति को उद्‌बुद्ध किये विना देहसिद्धि सम्भव नहीं। सिद्धों का कहना है, वेदान्त आदि शास्त्रों के श्रवण या विचार से देह-दोष नहीं जाता। देह-शोधन के लिए योग का अभ्यास करना आवश्यक है। और, योग का मूल स्तम्भ ही है कुण्डलिनी का उत्थान। अतएव, सिद्धों के सारे ही साधन कुण्डलिनी के सहारे ही प्रवर्त्तित हुए हैं।

मनुष्य आदि जीवों की देह में आधार आदि जो कई शक्तिकेन्द्र[1] या चक्र हैं, उन्हें प्रबुद्ध कुण्डलिनी के द्वारा समभावापन्न करना होता है। शक्ति जबतक चक्र में आबद्ध रहती है, तबतक वह यन्त्रित है, परिच्छिन्न, पराधीन और साधार है। परन्तु, जब वह चक्रभेद करके निरावलम्ब स्थान में पहुँचकर परम शिवस्वरूप में अवस्थित होती है, तब सारे ही चक्र प्राणहीन शरीर जैसे निष्क्रिय हो पड़ते हैं। उस समय उनकी सत्ता भी अव्यक्त हो जाती है। जिस विन्दु के आत्मप्रसारण से चक्र अथवा मण्डल का उद्‌भव होता है, उपसंहार के समय उसी में वह चक्र विलीन हो जाता है। देवता आदि सारे ही पदार्थ चक्र के अन्तवर्त्ती हैं। चक्र-संहार के फलस्वरूप देवता आदि की भी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। चरम अवस्था में एकमात्र वह महाशक्ति ही रहती है, जो परमशिव की अंकगता होकर परमभाव से ही विराजती है।

सिद्ध योगियों ने देह में अनेक चक्रों की सत्ता का आविष्कार किया है। आधार आदि छह चक्रों के अलावा भी और अनेक चक्रों का विवरण उनके साहित्य में पाया जाता है। अधिष्ठान के ऊपर कटिस्थान में कुण्डलिनीचक्र, मणिपूर के ऊपर गुप्तचक्र (अष्टदल अध-ऊर्ध्व कमल), आज्ञा या मणिचक्र के ऊपर ललाटस्थान में बत्तीस दलों का चन्द्रचक्र, मूर्धस्थ ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर तालुस्थान में चौंसठ शतदलमय तालुचक्र, तालुचक्र के ऊपर भ्रमरगुहा में एक सौ आठ दलोंवाला ब्रह्मचक्र, ब्रह्मचक्र को पार करके शिखास्थान में असंख्यदलमय कोल्हाट-चक्र। इन सभी चक्रों का विवरण नाथों के ग्रन्थों में मिलता है। उक्त चक्रराजि में तालुचक्र से ही श्वास निवृत्त हो जाता है। ब्रह्मचक्र में स्थिति होने से महामौन अवस्था की उपलब्धि होती है और कोल्हाट-चक्र में अव्यक्त शक्ति का अधिष्ठान होता है। यह परम शून्य स्थान इक्कीस ब्रह्माण्डों[2] के ऊपर अवस्थित है—इस शून्य में

१. वराहोपनिषद् (५।५३) में षट्चक्र को 'शक्तिस्थान' और कण्ठ से मूर्धा तक आकाश को 'शाम्भवस्थान' कहा गया है।

२. विराट्पुराण में चौदह भुवनों की सत्ता देह में इस प्रकार प्रदर्शित हुई है। चौदह भुवन से सात लोक और सात पाताल समझना होगा : मूतल, महीतल, अतल, सुतल, रसातल, वितल और तल—ये सात पाताल यथाक्रम लिंगस्थान,

प्रविष्ट हुए विना अनावृत और मुक्तभाव का बोध नहीं जगता। वास्तव में, इस परम शून्य अवस्था में प्रवेश को ही मुक्ति या निर्वाण कहते हैं। इस सम्बन्ध में सिद्धों की उक्ति इस प्रकार है: "परमशून्यस्थानादुपरि गत्वा योगी ना जायते न म्रियते न गच्छति नागच्छति। स च योगी तिष्ठति युगे युगे ज्योतिः समेत्य।"[1]

मूलस्थान, उसके निम्नदेश, जंघा, जानु, गुल्फ और पादतल—इन सात स्थानों से अभिन्न हैं। और भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक—ये सात लोक क्रमशः लिंग, नाभि, उदर, उर, कण्ठ, नासिका और मस्तकस्वरूप हैं। सप्तब्रह्माण्ड का वर्णन विराट्पुराण में है। ललाटदेश से शिखामण्डल तक क्रम से ऊर्ध्व रूप में इस ब्रह्माण्ड का स्थान-निर्देश किया गया है। सप्तब्रह्माण्ड और उसका स्थान इस प्रकार है: ललाट में धूम्रब्रह्माण्ड, मस्तक की सन्धि में आकाशब्रह्माण्ड, सहस्रदल कमल में सूर्यब्रह्माण्ड, तालुचक्र में परमशून्य ब्रह्माण्ड, उसके ऊपर अकल्पित ब्रह्माण्ड, भ्रमरगुहा में निरंजनब्रह्माण्ड और शिखामण्डल में निराकार ब्रह्माण्ड प्रकाशमान होता है। इसके बाद ही निराधार ब्रह्माण्ड है। इन सब ब्रह्माण्डों की चर्चा के प्रसंग में स्वभावतः ही प्राचीन बौद्धों के 'अरूपलोक' की याद आती है। उसकी विस्तार से आलोचना मुख्य विषय के प्रतिपादन के समय करनी है, इसलिए यहाँ उसकी अवतारणा निष्प्रयोजन है।

१. द्रष्टव्य: विराट्पुराण (पंचम पटल)। बहुत दिन पहले एक सज्जन ने लेखक को एक नरदेहांकित चित्रपट दिखलाया था। वह एक बड़े कपड़े पर रचा गया था। इसमें गोरखपन्थियों के मतानुयायी चक्र और देवता आदि के चित्र देह में यथास्थान सन्निवेशित थे और पास ही आवश्यक व्याख्या हिन्दी तथा टूटी-फूटी संस्कृत में दी गई थी। चित्र का रचनाकाल था—विक्रम-संवत् १८७० अथवा शकाब्द १७०७, कृष्णा सप्तमी, कार्त्तिक मास, रविवार। निर्माता का नाम था—'योगमार्गी' 'सिद्ध' गोसाईं केदारनाथ। इस चित्र में चक्र आदि का जो वर्णन किया गया है, वह विराट्पुराण के विवरण से भी कहीं-कहीं विलक्षण है। इस चित्र में आधारकमल के ऊपर योनिस्थान में महापद्मचक्र, स्वाधिष्ठान के ऊपर षट्दल पद्मस्थान में षट्दल-मय सुषुम्णाचक्र, गर्भस्थान में गर्भचक्र, मणिपूर के ऊपर लिंगचक्र, उसके ऊपर मनश्चक्र, विशुद्ध के बाद क्रमशः गलस्थान में प्राणचक्र, त्रिग्रन्थिस्थान में अबलचक्र, मूलस्थान में चबूकचक्र, नासिका में बलवान्चक्र, श्रवणस्थान में कर्णमूलचक्र, भ्रूद्वय के ऊपर त्रिवेणीचक्र, उसके ऊपर ललाट में चन्द्रचक्र, ललाट के ऊपर ब्रह्मद्वारचक्र, मस्तक में कुण्डलिनीचक्र, मूर्धा में ब्रह्मरन्ध्रचक्र, तालुस्थान में ऊर्ध्वरन्ध्रचक्र, उसके ऊपर अलक्ष्यचक्र, या भ्रमगुहा, भ्रमरगुहा को पार करके अकुण्ठपीठ पुण्यागारचक्र और उसके बाद शिखास्थान में 'कुल-

प्रचलित योगग्रन्थ आदि में जिस सहस्रदल का वर्णन मिलता है, वह नाथों के ब्रह्मरन्ध्रचक्र का नामान्तर है। अतएव, आज्ञा से सहस्रार तक अवकाश जैसे चक्रहीन नहीं, वैसे ही सहस्रार-भेद करने से भी हठात् चक्रहीन अवस्था की उपलब्धि नहीं होती। आज्ञा में जाने से जीव हंस और सहस्रार में जाने से परमहंस की अवस्था प्राप्त करता है। परन्तु, सिद्धों के मत से यह भी चरम अवस्था नहीं।

संन्यासयोग और केवलयोग के भेद से योग दो प्रकार के हैं। जो संन्यासयोगी हैं, वे सूर्यमण्डल-भेद करके परमपद प्राप्त करते हैं। स्मृति में है : "**संन्यस्तं पुरुषं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः। एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्म प्रयास्यति॥**" पर, जो केवल संन्यासी हैं, वे कुण्डलिनी द्वारा सुषुम्णा-द्वार को भेदकर उस मार्ग का अवलम्बन करके सहस्रारचक्र (कपालसम्पुट में) प्रवेश करते हैं और वहाँ चन्द्र-सूर्य-वह्निजन्य अमृत का पान करके तुरीय अथवा तुरीयातीत पद का साक्षात्कार लाभ करते हैं। इस साक्षात्कार के फलस्वरूप वे सविशेष अथवा निर्विशेष ब्रह्मपद प्राप्त करते हैं।

सिद्धों द्वारा प्रवर्त्तित योग को कहीं-कहीं महायोग के रूप में वर्णित किया गया है। वे कहते हैं, एकमात्र पारमार्थिक महायोग ही साधना के प्रकारभेद से मन्त्र, लय, हठ और राजयोग नाम से परिचित है : '**एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते।**' वास्तव में, योग का कोई भेद नहीं। दीर्घकाल तक मातृकादियुक्त मन्त्र का जप और अणिमा आदि से युक्त ज्ञान की उपलब्धि मन्त्रयोग का लक्षण है। लययोग चित्त का निरोध है। यह असंख्य उपायों से सिद्ध हो सकता है। जिस किसी भी व्यावहारिक अवस्था में रहकर निष्कल परमेश्वर का ध्यान हो सकता है। यह भी लययोग के ही अन्तर्गत है। बीस प्रकार का अवयवविशिष्ट योग ही हठयोग है। यम आदि अष्टांग एवं महामुद्रा आदि द्वादशांग—हठयोग-साधना के यही वीस अंग है। द्वादशांग के नाम हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध,

हाट' चक्र दिखाया गया है। विराट्पुराण में इसके बाद और चक्रों का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु, इस चित्र में शिखामण्डल के ऊपर वज्रदण्डचक्र और सर्वोपरि निरालम्ब स्थान में निराधारचक्र अंगीकृत हुआ है। चन्द्रचक्र के ऊपर ललाट में अमृतचक्र अंकित है—यह ब्रह्मद्वारचक्र के नीचे है। यही गायत्री या कामधेनु का स्थान है। कटिस्थान-स्थित कुण्डलीचक्र गर्भचक्र के ऊपर और मणिपूरचक्र के नीचे है। कपिलमुनि-विरचित 'दृष्टान्तर' नाम का एक ग्रन्थ है। तंजौर के महाराजा के ग्रन्थालय में इस पुस्तक की एक हस्तलिखित पोथी (प्रति) है। यह भी सिद्ध-सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसके द्वितीय अध्याय में (श्लोक २२–२७) है कि प्रसिद्ध षट्चक्र वस्तुतः सूर्यचक्रस्वरूप है। उसमें आधार से मणिपूर तक तीन शक्तिचक्र—उसके ऊपर तीन पुरुषचक्र। आज्ञा के ऊपर छह चक्र हैं। उनका समष्टि-नाम सोमचक्र है। त्रिकूटस्थान, श्रीहट्ट, कोल्हाट, उड्पीठ, भ्रमरगुम्फ और ब्रह्मरन्ध्र—ये छह सोमचक्र आज्ञा के ऊपर क्रमशः ऊर्ध्वभाव में सन्निवेशित हैं।

खेचरी, जालन्धर, उड्डीयान, मूलबन्ध, नादानुष्ठान (दीर्घ प्रणवानुसन्धान), सिद्धान्तश्रवण, वज्रोली, अमरोली और सहजोली। हठयोग के अभ्यास से राजयोग में प्रवेश होता है। इस मार्ग का साधन करते-करते विवेक और वैराग्य उत्पन्न होता है, जिससे भगवत्साक्षात्कार सुलभ होता है।

मन्त्रयोग का यथार्थ रहस्य है—जीवमात्र के ही शरीर में प्राणशक्ति निःश्वास-प्रश्वास-रूप में खेलती रहती है। योगी कहते हैं, यह श्वास बाहर होते समय 'हं'-रूप और भीतर प्रवेश के समय 'सः'-रूप से ध्वनित होता है। यही हंसमन्त्र है। हंसविद्या या अजपा नामक गायत्री और प्रत्येक जीव ही निरन्तर (अहोरात्र २१६०० बार) यह जप करता है। परन्तु, गुरु की कृपा से योगलाभ करने पर गुरु के मुख से उच्चारित वाक्य के माहात्म्य से वह जप सुषुम्णा-मार्ग में विपरीत भाव से निष्पन्न होता है—'हंस' उस समय 'सोहं' रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। यही यथार्थ मन्त्रयोग है। हंसविद्या को कहीं-कहीं (द्रष्टव्य : योगचूडामण्युपनिषद्, ३६) प्राणविद्या भी कहा गया है। यह प्राणधारिणी शक्ति और कुण्डलिनी से उद्भूत है।

मन्त्रयोग के साधनफल से पश्चिम मार्ग द्वारा, अर्थात् सुषुम्णा-पथ से ज्ञान का उदय होता है। हठयोग का अर्थ है—देहस्थित सूर्य ('ह') और चन्द्र ('ठ') का ऐक्यसाधन। इस योग-साधन से देह के सब प्रकार के दोष और उससे होनेवाला जडत्व दूर होता है। इस क्रिया के अलावा, देहशुद्धि, देहदोष की निवृत्ति और देह की जडता का विलोपन अन्य किसी प्रक्रिया से आसानी से नहीं हो सकता। इसके बाद क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा एवं परमात्मा का ऐक्य-सम्पादन अपेक्षाकृत सुकर हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व प्रतिष्ठित होने से चित्त का लय होता है, वायु स्थिर होती है एवं आत्मानन्द की उपलब्धि होती है। ऐसी स्थिति में जीवभाव नहीं रहता, मन नहीं रहता, वायु भी नहीं रहती—रहते हैं एकमात्र परमात्मा और तत्त्वरूपभूता शक्ति। शास्त्र में शिव और शक्ति ये दो शब्द दो परमतत्त्व के ही अभिधायक रूप में व्यवहृत हुए हैं। योगशिखोपनिषद् (१।१३६।१३८) में है, देवीतत्त्वस्वरूप रक्तवर्ण 'रज' महापीठ-योनि में अवस्थित है। और, शशिस्थान, अर्थात् ऊर्ध्व चन्द्रमण्डल में बिन्दु या 'रेत'-स्वरूप शिवतत्त्व प्रतिष्ठित है। इससे समझ में आता है कि ब्रह्मपथ के दो मेरुओं में दो तत्त्व वस्तुतः नित्य मिलित, यहाँ-तक कि अभेदात्मक होते हुए भी पृथक् रूप से वियुक्त की भाँति विराज रहे हैं। यह शिव और शक्ति जब योग-प्रभाव से कल्पित पार्थक्य का परिहार करके सम्मिलित होंगे, तभी राजयोग की सिद्धि सूचित होगी ('रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतः')[१]। राजयोग में अधिकारी होने से अणिमा आदि अष्टसिद्धि का आविर्भाव होता है।

इन चारों प्रकार के योग का सामान्य लक्षण एक ही है, अर्थात् प्राण और अपान का समीकरण।

सिद्धि के आविर्भाव नहीं होने तक साधक यथार्थ योगी नहीं हो सकते। अवश्य, अनेक उपायों से तथाकथित सिद्धि का आविर्भाव हो सकता है—परन्तु वह सब साधन-जन्य कल्पित सिद्धि अनित्य और अल्पवीर्य होती है। रस (पारद), औषधि, क्रिया, मन्त्र आदि के अभ्यास से इन सब खण्ड सिद्धियों का प्रकाश होता है। परन्तु, योगमार्ग में पूर्णता प्राप्त करने से जिस स्वाभाविक आत्मविभूति का आविर्भाव होता है, वह नित्य और महा-वीर्य होती है। उसे 'इच्छाशक्ति' कह सकते हैं। 'योगशिखोपनिषद्' में उसे 'इच्छारूपा' कहा गया है। दीर्घकालीन साधना से वासना-जाल कट जाने पर आत्मयोगनिष्ठ योगी इस इच्छारूपा महासिद्धि को प्राप्त करते हैं। सिद्ध कहते हैं, सिद्धि से ही मुक्त और बद्ध का परिचय मिलता है। जो जीवन्मुक्त हैं, उनमें अलौकिक गुण अवश्य ही होगा—उन्हें इसी से पहचानना होगा। क्योंकि, आत्मज्ञान स्वानुभववेद्य है—दूसरों के लिए साक्षात् रूप से उसे जानने का उपाय नहीं। सिद्धि ही बद्ध-मुक्त के भेद-निर्णय का एकमात्र उपाय है: **"सिद्धिभिर्लक्षयेत् सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च। अलौकिकगुणस्तस्य कदाचिद् दृश्यते ध्रुवम्। सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं तु लक्षयेत् ॥"** (योगशिखोपनिषद्, प्रथम अध्याय)

सिद्ध योगी कहते हैं, स्वदेह में छह चक्र[1], सोलह आधार, तीन लक्ष्य और पाँच आकाश का पता नहीं पाने तक सिद्धिलाभ की आशा नहीं। हठयोगी और राजयोगी—दोनों ही इसे स्वीकार करते हैं। गुरु से उपदिष्ट क्रिया ही इसकी खोज का एकमात्र उपाय है।

संसार-समुद्र से पार होने के लिए अन्तर्लक्ष्य आदि त्रिविध लक्ष्य का अवलोकन करके तारक ब्रह्म का आश्रय लेना आवश्यक है। सूक्ष्म मार्ग से गुणत्रय का लंघन करके भ्रूमध्य में तारकज्योति का दर्शन करना होता है। त्रिविध लक्ष्य में अन्तर्लक्ष्य सुषुम्णा के अन्तर्गत कुण्डलिनी के बीच के आकाश का साक्षात्कार, बहिर्लक्ष्य नासाग्र में चार अंगुल से बारह अंगुल तक प्रधानतः नील और पीतवर्णबहुल आकाश का दर्शन और मध्यलक्ष्य निकटवर्त्ती अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्र तथा वह्नि-ज्वाला का दर्शन। मध्यलक्ष्य के फलस्वरूप अभ्यास से क्रमशः आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश—ये पाँच आकाश दृष्टिगोचर होते हैं।

तारकयोग दो प्रकार का है—पूर्वतारक और उत्तरतारक या अमनस्क। पूर्वतारक के अभ्यास के समय मन की सत्ता विद्यमान रहती है। लक्ष्यदर्शन यद्यपि चक्षुसापेक्ष है, तथापि इस चाक्षुष दृष्टि में जबतक मन का अनुप्रवेश नहीं होता, तबतक यह अन्तर्दृष्टि के रूप में परिणत नहीं होती या तारक-ग्रहण के उपयोगी भी नहीं होती। मनोयुक्त आन्तर दृष्टि ही तारकज्योति की प्रकाशिका है। अमनस्क तारक में अवश्य ही मन

१. कहीं-कहीं तालु, आकाश और भ्रूचक्र-सहित नौ चक्रों का उल्लेख है। (द्रष्टव्य : मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ४।५)।

विलीन अवस्था में रहता है, इसलिए उसकी कोई क्रिया नहीं होती। पूर्वतारक भी दो प्रकार का है—प्रथम अंश, जहाँतक इन्द्रिय का व्यापार है, वहाँतक, यानी मूलाधार से आज्ञाचक्र तक मूर्त्तितारक; द्वितीय अंश, अर्थात् आज्ञा से सहस्रार तक[1] अमूर्त्त तारक। पूर्वतारकयोग के अभ्यास के क्रम में, भ्रूमध्य में अवस्थित आकाश में ज्योति का आविर्भाव होता है। मन के लीन हो जाने के बाद तालुमूल के ऊपरी हिस्से में विराट् ज्योति का प्रकाश होता है—वह चैतन्यस्वरूप है। इसकी उपलब्धि से ही अणिमा आदि अष्टसिद्धि की अभिव्यक्ति होती है। हठयोग और तन्त्रशास्त्र में शाम्भवी मुद्रा का इतना जो गुण गाया गया है, वह उसी अमनस्क नामक उत्तरतारकयोग की ही परिपक्व अवस्था है।

साधक साधन-पथ में अग्रसर होता है, तो पहले अग्निमण्डल प्राप्त होता है। इस अग्निमण्डल को पार करके ऊपर उठने से ही सूर्यमण्डल में प्रवेश कर सकता है। सूर्यमण्डल के भीतर सुधास्रावी चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमण्डल में शुक्ल और भास्वर तेजोमय अखण्ड ब्रह्ममण्डल विराजता है। इस ब्रह्मतेजोराशि के तीन प्रकार से दर्शन करने की विधि है—निमीलित, अर्द्धनिमीलित और पूर्णोन्मीलित। इन तीन प्रकार की दृष्टियों के शास्त्रीय पारिभाषिक नाम हैं—अमादृष्टि, प्रतिपद्दृष्टि और पूर्णिमादृष्टि। योगी इनमें पूर्णिमादृष्टि की ही प्रशंसा करते हैं। नासाग्र में लक्ष्य रखकर इसका अभ्यास करना पड़ता है। पूर्णिमादृष्टि ही क्रमशः शाम्भवी मुद्रा में परिणत होती है।

●

---

१. आज्ञाचक्र तक इन्द्रियों की क्रिया न्यूनाधिक लक्षित होती है। मन की क्रिया तो रहती ही है। पर, आज्ञाचक्र का भेद हो जाने से इन्द्रियाँ बिलकुल उपरत हो जाती हैं; परन्तु मानस क्रिया तब भी निरुद्ध नहीं होती। सहस्रार की ओर जितनी ही गति बढ़ती है, मन उतना ही निश्चल होता है। सहस्रार-कमल की कर्णिका में मन के आबद्ध होने से उसकी चंचलता नहीं रह जाती। उस समय निष्क्रिय मन विलीन हो जाता है—उसकी पृथक् सत्ता और कार्य उपलब्धिगम्य नहीं होता। यही अमनस्क अवस्था है। इसी की पूर्णता शाम्भवी मुद्रा है। ठीक से इस अवस्था में नहीं पहुँचने तक बाह्य दृष्टि का उन्मेष और निमेष-व्यापार सम्यक् रूप से तिरोहित नहीं होता। बहिर्दृष्टि के उन्मेष आदि से वर्जित होने से ही समझना होगा कि अन्तर्लक्ष्य स्थिर हुआ है, मन का लय हुआ है और आत्मचैतन्य का प्रकाश हुआ है। मानसिक चंचलता भी वायु का स्पन्दनमूलक है। अतएव, उस अवस्था में मन, वायु (प्राण) और दृष्टि स्थिर होते हैं—केवल आकाशरूपी आत्मचैतन्य ही प्रकाशमान रहता है।

चतुर्थ अध्याय

सिद्धों का साधना-मार्ग

जिन तीन प्रकार के लक्ष्यों की साधना के द्वारा साधक योगसिद्धि-लाभ करते हैं, प्रसगतः संक्षेप में उनका उल्लेख किया गया। कहीं-कहीं बाह्य और आभ्यन्तर—इन दो प्रकार के लक्ष्य ही वर्णित हुए हैं। उनमें पृथिवी आदि और नासाग्र बाह्य लक्ष्य एवं मूलाधार आदि चक्र अन्तर्लक्ष्य के अन्तर्गत हैं।

चक्र का ज्ञान और आधार, लक्ष्य और आकाश का ज्ञान यद्यपि उत्पत्ति-विषय में परस्पर सहायक एवं चरम अवस्था में अभिन्नरूप हैं, तथापि साधना के समय उन्हें अलग-अलग रूप में ही अर्जित करना होता है। नहीं तो, सिद्धावस्था में पूर्णता का लाभ नहीं होता। उसी प्रकार, बिन्दु, प्राण, मन, प्रकृति की सिद्धि भी पृथक् रूप में ही विधेय है—नहीं तो वास्तविक फल पाने से वंचित रहना पड़ता है।

कोई-कोई ऐसा सोच सकते हैं कि बिन्दु आदि की स्थिरता एवं चंचलता जब समकालीन होती है, तब साधक के लिए प्रत्येक को अलग-अलग स्थिर और शुद्ध करने का आयास निरर्थक ही लगता है। अर्थात्, बिन्दु को शोधित करके स्थिर कर पाने से प्राण-संयम, मनोनिरोध आदि आप ही हो जाता है, उसके लिए प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। प्राण का निरोध कर सकने की स्थिति में बिन्दु-शोधन और मनःसंयम की अलग साधना निष्प्रयोजन है; मनोनिवृत्ति के साधक को बिन्दु, वायु की शुद्धि तथा संयम के बारे में चेष्टा नहीं करने से भी क्षति नहीं; क्योंकि जिस किसी मार्ग से भी चरम अवस्था पर पहुँचा जा सकता है और तब सारे ही मार्गों के साधन-फल आयत्त होते हैं। जो ऐसा सोचते हैं, उनका सिद्धान्त एकबारगी अमूलक है, ऐसा नहीं; क्योंकि विभिन्न मार्गों से एक ही अद्वैतभूमि में पहुँचना पड़ता है और एक बार अद्वैतभूमि में पहुँच जाने पर दूसरे पथ पर नहीं चलने के अभाव या अपूर्णता का अनुभव नहीं करना होता। परन्तु, बात यह है कि पूर्णता-लाभ करने के लिए या अद्वैत-अवस्था का अधिकारी होने के लिए अपनी अध्यात्मस्थिति के अनुसार सभी ओर अल्पाधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। संसार के पदार्थ-निचय जैसे परस्पर सम्मिश्रित हैं, जिस किसी पदार्थ में सारे ही पदार्थों के अंश न्यूनाधिक परिमाण में सन्निविष्ट हैं, केवल प्रधानतावश गुण और क्रिया-विशेष की अभिव्यक्ति होती है। वैसे ही सभी साधनमार्ग ही परस्पर मिले हुए हैं। परन्तु, मिलन रहते हुए भी जिस मार्ग में जिस अंश की प्रबलता रहती है, उसमें सदा वही जगा रहता है, और-और अंश अभिभूत होकर प्रसुप्त रहते हैं। योग्यता के अनुसार पथ का निर्देश होने पर भी गन्तव्य स्थल में जाने के लिए सभी पथिकों को सुप्त अंश का जागरण कर लेना पड़ता है, नहीं तो साम्य अवस्था में प्रवेश का अधिकार नहीं होता।

कोई साधक यदि ब्रह्मचर्य-साधना में बिन्दु के शोधन और स्थिरीकरण की निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं, फिर भी वह प्राण, मन आदि के साधन का यथावत् अभ्यास न करें, तो ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा या बिन्दु-सिद्धि की उपलब्धि नहीं कर सकेंगे। ऐसा ही, अन्यत्र भी समझना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता, तो अलग-अलग योगांग का साधन-उपदेश नहीं होता।

षट्चक्र की साधना भी इसीलिए आवश्यक है। जो योगपथ की खोज रखते हैं, वे जानते हैं कि बिन्दु-साधना के द्वारा अन्नमय कोष, प्राण या वायु की क्रिया के द्वारा प्राणमय कोष, मन की क्रिया के बल से मनोमय कोष एवं विचार और विवेक के द्वारा विज्ञानमय कोष शोधित होता है। आनन्दमय कोष नित्य शुद्ध है, किन्तु अहेतुक भक्ति-योग से उसके आगन्तुक मल को दूर करना होता है। इस प्रकार, तीनों ही देहों की विशुद्धि सम्पन्न होती है और जीव परमार्थ-लाभ से कृतकृत्य होता है। बिन्दु-साधना के फलस्वरूप स्थूल देह की आपेक्षिक शुद्धि होने से क्रमशः प्राण, मन और विज्ञान की क्रिया का अधिकार आता है। वास्तव में, असिद्धबिन्दु साधक के लिए प्राणायाम का अभ्यास बड़ा ही दुष्कर है। सुषुम्णा-द्वार के खुले विना प्राणवायु इडा और पिंगला-मार्ग को छोड़ नहीं सकती। देह की शुद्धि नहीं होने से ही वायु वक्रभावापन्न होती है और दक्षिण-वामपथ से संचरण करती है। बिन्दु-साधना के अभ्यास से साधक का देहमल दूर हो जाता है, देह में सात्त्विक तेज आता है, ओजोधातु का विकास होता है, दृढता आती है। उस स्थिति में बहिर्मुख आकर्षण आप ही कम हो आता है। सुषुम्णा-पथ जब खुलता रहता है, तब बाह्य स्थूल वायु इडा आदि मार्गों में जाती-आती रहती है, वह शोधित और सूक्ष्मीकृत होकर उस खुले सूक्ष्म पथ से बहती है। उस सूक्ष्म और निर्मल वायु में सत्त्वगुण का भाग अपेक्षाकृत अधिक रहता है। इसलिए, सात्त्विक तेज से तेजोमय होकर वह लघु प्राणवायु सरल पथ से ऊपर-नीचे संचरण करती है और ऊर्ध्वगति तथा अधोगति के अन्तराल में एक-एक बार आपेक्षिक स्थिरता लाभ करती है। यही सुषुम्णा में प्राण की क्रिया है। पहले जिस अजपा की बात कही गई है, यह अन्तः प्राणायाम या स्वाभाविक प्राण-व्यापार ही उसका स्वरूप है। प्राण की क्रिया में अनेकविध उत्कर्ष लाभ करने से जो बल-संचय होता है, उसके प्रभाव से प्राण का आवरण थोड़ा-थोड़ा दूर होता रहता है। जैसे देहमल के कुछ अपसारित होने से प्राणराज्य में प्रवेश किया जा सकता है, वैसे ही प्राण का मल कुछ दूर होने से मन का पता चलता है, तब प्राणक्रिया स्वभावतः ही मनःक्रिया में बदल जाती है। प्राण जब स्वभाव-चालित होकर काम करता है, तब जैसे देह स्थिर और निश्चल रहती है, वैसे ही मन के स्वभाव के स्रोत में प्रवाहित होने से प्राण स्वतः स्थिर हो जाता है। स्थूल देह में इडा-पिंगला में जो स्थूल वायु की निःश्वास-प्रश्वास-रूप क्रिया है, वही सुषुम्णा में सूक्ष्म प्राण की ऊर्ध्व-अधोगति-रूप क्रिया है और वही वज्रनाडी में सूक्ष्म विकल्परूप क्रिया है। स्वभाव की प्रेरणा से मन की क्रिया जब चलती रहती है, तब मन क्रमशः निर्मल होता रहता है, उसका आवरण कटता रहता है, संकल्प-विकल्पात्मक मन की

विकल्पवृत्ति क्रमशः तिरोहित होती रहती है। इस प्रकार, साधना के बल से विकल्पवृत्ति के बहुत कुछ अभिभूत होने से चित्रानाडी के विकास के साथ-साथ विज्ञानमय कोष खुल जाता है। तब संकल्प शुद्ध हो जाता है, मन स्थितिलाभ करता है और सत्य-संकल्प-भाव का उदय होता है। योगियों की जिन सब योग-विभूतियों का वर्णन मिलता है, वे इसी भूमि में मिलती हैं। इस अवस्था में संकल्प कभी रहता है, कभी नहीं रहता है। विज्ञान या संकल्प-त्याग की साधना ही इस अवस्था में साधक की स्वाभाविक साधना है। मनोमय भूमि में जो द्वन्द्व संकल्प एवं विकल्प-रूप में प्रकाशित होता है, वही शुद्ध संकल्पमय विज्ञानभूमि में संकल्प के आविर्भाव और तिरोभाव-रूप में प्रकट होता है। यह निर्विकल्प अवस्था होते हुए भी निःसंकल्प अवस्था नहीं है। इसके बाद उस आविर्भाव-तिरोभाव के बार-बार आवर्त्तन होने पर चित्त से संकल्प की सत्ता बिलकुल जाती रहती है—संकल्प फिर कभी नहीं जगता। संकल्प ही ज्ञान और इच्छा है, उसकी निवृत्ति परमानन्द है। वह आनन्दमय कोष में ब्रह्म-अनल में उपलब्ध होता है। इसके बाद जो अवस्था होती है, वह वास्तव में अवस्था नहीं, वही स्वभाव या सहज है, वह अव्यक्त है। परमार्थ की दृष्टि से वह आनन्द के भी अतीत है।

योगी इसी सहज या स्वभाव को पाने के लिए आयास करते हैं। इसी के सम्बन्ध में कहा गया है : '**दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना।**'

वेदान्त का पंचकोष-विवेक, तन्त्र का चक्रभेद, पातंजल मत का अष्टांग योगाभ्यास, बौद्धों का 'अनुपुब्बविहार'—मूलतः एक ही पथ के प्रकार-भेद हैं।

सिद्ध योगी कहते हैं, जीवदेह में जाल की भाँति असंख्य नाडियाँ व्याप्त हैं। इन नाडियों में साधारणतया पित्त, श्लेष्मा आदि आवरक पदार्थ अल्पाधिक परिमाण में संसक्त हैं। प्राणायाम-साधना के पहले नाडियों का यथाविधि शोधन जरूरी है। अशोधित नाडियों में वायु को प्रवेश करने का पथ नहीं मिलता। '**शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्। तदैव जायते योगी प्राणसङ्ग्रहणे क्षमः॥**' (गोरक्षपद्धति, ९५)

कहना व्यर्थ है, नाडीशुद्धि के विना जैसे प्राणायाम का अधिकार नहीं होता, वैसे ही प्राण की क्रिया के विना ठीक-ठीक नाडीशुद्धि भी नहीं होती। तब, एक बात यह है कि कोई-कोई आचार्य कहते हैं, आसन का अभ्यास और पूरक तथा रेचक नामक प्राणक्रियाएँ ही नाडीशुद्धि के लिए उपयोगी हैं। अशुद्ध नाडी से कुम्भक का अधिकार नहीं आता।[1]

---

१. 'वशिष्ठयोग' नामक ग्रन्थ में नाडीशुद्धि के प्रसंग में पूरक के बाद एवं रेचक के पहले अग्निमण्डल-संस्थित वह्निबीज के ध्यान का उपदेश है। 'नकुलीशयोग-परायण' के कर्त्ता ने उस उपदेश की व्याख्या में कहा है कि कुम्भक भी नाडीशुद्धि का साधन है, अर्थात् कुम्भक-सहित रेचक और पूरक द्वारा ही नाडीशुद्धि होती है। यथा : "तस्माद्....निरोधसहितध्यानमेव फलसाधनं विधीयते इत्येव वशिष्ठवाक्यार्थः।" कालिकापुराण, स्कन्दपुराण आदि ग्रन्थों का भी यही मत है।

प्राणक्रिया के द्वारा ही मन का शोधन करना याज्ञवल्क्य आदि अधिकांश आचार्यों का मत है। वे 'नेति' आदि षट्कर्म की आवश्यकता को नहीं मानते।[1]

अभ्यासयोग से नाडीचक्र के विशुद्ध होने से कतिपय बाह्य और आभ्यन्तरीण चिह्न प्रकाशित होते हैं। देह की कृशता और लाघव, दीप्ति या कान्ति, जठराग्नि की वृद्धि, चिन्ताशून्यता और नादाभिव्यक्ति—ये सब नाडीशुद्धि के प्रधान लक्षण हैं।

देह में नाडियों की संख्या कितनी है, गिनी नहीं जा सकती। सिद्धगण साधारणतया बहत्तर हजार नाडियों की बात कहते हैं। उनमें से चौदह नाडियाँ अपेक्षाकृत प्रधान हैं। इडा, पिंगला और सुषुम्णा की बात बहुत बार कही जा चुकी है। इनसे भिन्न सरस्वती, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, वारुणी, विश्वोदरी, यशस्विनी, पूषा और अलम्बुषा—इन ग्यारह नाडियों के नाम और परिचय सिद्धों के ग्रन्थों एवं अन्यान्य शास्त्रों में मिलते हैं।[2] ये सारी नाडियाँ प्राणवाहिनी हैं और नाभिमण्डल से निकलकर चारों ओर फैली हुई हैं।

इस देह का परिमाण साधारणतः छियासी अंगुल निर्दिष्ट किया गया है। उसमें पायुदेश (गुदा-प्रदेश) से २ अंगुल ऊपर और निम्नस्थान से २ अंगुल नीचे देह में[3] (तुलनीय: दर्शनोपनिषद्, ४।२-३; वराहोपनिषद् ५।१९-२०; त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्, मन्त्रभाग ६६)—यही अग्नि का स्थान है। मनुष्यदेह में यह अन्तर्नेत्र में एक उज्ज्वलवर्ण-विशिष्ट त्रिकोण

---

१. प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत् कर्म न सम्मतम्॥
नेति, धौति, नौली, बस्ति, त्राटक और भस्त्रा—इन छह क्रियाओं को हठयोगी षट्कर्म कहते हैं। यद्यपि षट्कर्म का उद्देश्य प्राणायाम से ही सिद्ध होता है, तथापि कोई-कोई योगी दैहिक प्रकृति की विशिष्टता को लक्ष्य करके इन सारे कर्मों की उपयोगिता को भी स्वीकारते रहे हैं। विशेषतः, मेद और श्लेष्मा का आधिक्य रहने से धौति आदि क्रियाएँ बहुत ही उपकारी होती हैं। "षट्कर्म निर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः। प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति॥"

२. शिवसंहिता (२।१३–१५) में नाडियों की संख्या तीन लाख पचास हजार वर्णित है। उनमें दस प्रधान हैं। विराट्पुराण के चतुर्थ पटल, योगशारीर आदि ग्रन्थों में दस प्रधान नाडियों का उल्लेख मिलता है। 'योगशारीर' में पयस्विनी, वारुणी, विश्वोदरी और यशस्विनी के नाम नहीं हैं। विराट्पुराण में जो संख्या दी गई है, उसमें कोई-कोई नाम दूसरे प्रकार से लिखा गया है। उस मत से इडा, पिंगला, सुषुम्णा, हस्तिजिह्विका, जिह्विका, पुंशावरी, यशावरी, बिन्दुका, कुहू और शंखिनी—ये दस नाडियाँ प्रधान हैं।

३. चौपाये जन्तु की देह में स्थित हृदय में और अन्य जीवों के तुन्द या उदर में।

जैसा प्रतिभात होता है ।[1] इस स्थान से तेज अभिव्यक्त करके देहस्थ वायु की न्यूनता या साम्य-सम्पादन कर पाने से ब्रह्मज्ञान का उन्मेष हो सकता है। मूलाधार से नौ अंगुल दूर में कन्दस्थान है—देखने में यह अण्डाकार ('कुक्कुटाण्डवत्') है तथा त्वक् आदि से घिरा है। इसी के बीच नाभि में विलम्बिनी नाम की नाडी प्रतिष्ठित है—यहीं तिर्यक्-गतिशील, ऊर्ध्वमुख और अधोमुख नाडियाँ उत्पन्न हुई हैं। इडा और पिंगला नाडियाँ भी इस विलम्बिनी से ही निकली हैं।

यहाँ से दो नाडियाँ दोनों आँखों में, दो कानों में, एक भ्रूमध्य में, एक जीभ के किनारे गई है। इनके नाम हैं—गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुषा, शूरा और सरस्वती। विश्वोदरी नाडी चतुर्विध अन्न का भोग करती है, राका जलपान करके छींक लाती है एवं नाक में कफ जमा करती है और अधोमुखी शंखिनी नाडी अन्न का सार ग्रहण करके मस्तक में संचय करती है। शंखिनी कण्ठकूप से समुद्भूत है। ये सब नाडियाँ नाभि के ऊपर हैं। नाभि के नीचे की ओर तीन नाडियाँ अधोमुख होकर फैली हुई हैं। उनमें कुहू का काम मल निकालना है, वारुणी का काम मूत्रत्याग है और चित्रा से शुक्रमोचन होता है।[2]

---

१. चौपाये पशुओं का अग्निस्थान चतुष्कोण, पक्षियों का वृत्ताकार, साँप आदि का षट्कोण एवं स्वेदज जीवों का अष्टकोण होता है।

२. तुलनीय: योगशिखोपनिषद्, पंचम अध्याय। 'योगशारीर' में है कि वाम और दक्षिणकर्णान्तिगामिनी नाडियों के नाम गान्धारी और हस्तिजिह्वा हैं। कुहू और सरस्वती में कोई भेद नहीं। शंखिनी नाडी ब्रह्मरन्ध्र से ब्रह्ममार्ग तक संचरण करती है। जननेन्द्रिय के निकट जाकर यही बिन्दुवहा के नाम से ख्यात होती है। 'मानसोल्लास' का मत बहुत कुछ 'योगशिखोपनिषद्' जैसा है। परन्तु, इसमें शूरा नाडी का नाम पयस्विनी कहकर उल्लिखित हुआ है। 'मानसोल्लास' के मत से नाभि के नीचे की तीनों नाडियों में कुहू मलवहा है, राका शुक्रवहा और सिनीवाली मूत्रवहा। शंखिनी नाडी भुक्त अन्न का रस ग्रहण करके कपालकुहर में जाकर मस्तक-स्थित सहस्रारकमल में सुधा-संचय करती है। भास्कर राय के 'भावनोपनिषद्' के भाष्य में जो विवरण दिया गया है, वह कुछ और ही प्रकार का है। उसमें सरस्वती जिह्वाग्रगामिनी है, किन्तु शंखिनी और पयस्विनी कर्णगा, गान्धारी और पूषा नेत्रगा, हस्तिजिह्वा और यशस्विनी पादांगुष्ठ तक विस्तृत, कुहू त्रिकोण के आगे से उठकर जननेन्द्रिय की अन्तगामिनी, कुहु की बाईं ओर विश्वोदरी और बाईं ओर वारुणी एवं अलम्बुषा पायुगामिनी है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सरस्वती और कुहू नाडी सुषुम्णा के दोनों ओर, गान्धारी और हस्तिजिह्वा इडा के पृष्ठ पर, और सामने, पूषा और यशस्विनी पिंगला के पीछे और सामने; विश्वोदरी,

जिस स्थान से सारी नाड़ियाँ निकलकर चारों ओर फैली हैं, वही स्थूल तथा सूक्ष्म-देह का सन्धिस्थल है। ये सब नाड़ियाँ वायव्य एवं प्राणवाहिनी हैं। रस-रक्त आदि का वहन करनेवाले स्रोतों की चर्चा यहाँ अनावश्यक है। परन्तु, यह बात सत्य है कि वह

कुहू और हस्तिजिह्वा के बीच में, वारुणी यशस्विनी और कुहू के बीच में, शंखिनी पूषा और सरस्वती की मध्यस्था एवं अलम्बुषा कन्दमध्य या पायुमूल से अधोदेश तक में अवस्थित है। कुहू का स्थान है सुषुम्णा के सामने की ओर लिंग तक, वारुणी सर्वगामिनी है, यशस्विनी दक्षिणपादांगुष्ठ तक, पूषा पिंगला के पीछे की ओर से दायें नेत्र तक, पयस्विनी उसी प्रकार दायें कान तक, और सरस्वती जीभ तक फैली है। शंखिनी दायें कान से ऊर्ध्वांग, गान्धारी इडा के पीछे से बाईं आँख तक, हस्तिजिह्वा बायें पाँव के अँगूठे तक। याज्ञवल्क्य के विवरण को ध्यान से आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि उनके अनुसार इडा के पीछे से एक नाडी बाईं आँख और पिंगला के पीछे से वैसी ही दूसरी एक नाडी दाईं आँख तक गई है। उसी तरह इडा के सामने की ओर से एक नाडी बायें पाँव के अँगूठे और पिंगला के सामने से और एक दायें पाँव के अँगूठे तक फैली है। दोनों आँखों से पाँव के अँगूठे का एक निगूढ सम्बन्ध है। दायें कान से माथे का एक गुह्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की स्थापिका शंखिनी ही है। इस शंखिनी नाडी का मुख ही तन्त्र-शास्त्र में 'गुरुवक्त्र' अथवा शिव के ऊर्ध्व वदन के रूप में वर्णित है। इसी स्थान से शिष्य के दायें कान में तारकमन्त्र का उपदेश होता है। इसीलिए, सुषुम्णा में मन और प्राण प्रविष्ट होने से जब नाद की अभिव्यक्ति होती है, तब उसे दाहिने कान से ही सुनना चाहिए; क्योंकि उससे नाद का बाहरी आवरण सहज ही भग्न हो जाता है, चित्त आकाशगामी होता है और प्रणव की परमावस्था प्राप्त होती है। उसके बाद परब्रह्म में स्थिति होती है। 'योगशिखोपनिषद्' में जिस शंखिनी को अधोमुखी कहा गया है, वह इस सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही। इन सब नाडियों का सूक्ष्म और विस्तृत विवरण यहाँ आलोच्य नहीं, और योगपथ में अप्रविष्ट पाठकों के लिए वह आवश्यक और सुबोध भी नहीं। किन्तु, कुछ चर्चा किये बिना विषय का स्पष्टीकरण नहीं होगा, इसलिए यहाँ इनका संक्षिप्त वर्णन किया गया। 'त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्' में स्पष्ट ही कहा गया है कि साधारणतः सात हजार नाड़ियों की बात का उल्लेख होता है, वह सब स्थूल नाड़ियाँ हैं, इनका मूल दस प्रधान नाड़ियाँ हैं, और इनका आश्रय करके जो कितनी सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, उनकी संख्या नहीं बताई जा सकती। 'द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडयः। सङ्ख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः ॥' (मन्त्रभाग,

सब भी प्राणवाही हैं; क्योंकि रस आदि का संचालन भी वायुक्रिया-सापेक्ष है। नाभिकन्द या मूलस्थान से इन्द्रिय के गोलक तक जो सारी नाडियाँ फैली हुई हैं, जिन्हें रूपवहा, शब्दवहा आदि नामों से आख्यात करने से भी अत्युक्ति नहीं होगी, वह सब भी वास्तव में प्राणवहा नाडियाँ हैं। क्योंकि, रूप आदि के संचालन में भी शास्त्रमत से सूक्ष्म वायु की कारणता ही स्वीकृत हुई है। मनोवहा नाडी को भी ऐसा ही समझना चाहिए। अतएव, नाडी-मात्र ही वायुघटित और वायु के चलाचल का मार्गस्वरूप है। वायु की स्थूलता और सूक्ष्मता पर नाडी की स्थूलता और सूक्ष्मता निर्भर करती है। जबतक वायु की क्रिया रहती है, तबतक नाडीजाल को भेदकर शान्त आकाश में स्थिति पाना सम्भव नहीं। हमारी इन्द्रियों की क्रियाओं के साथ ही मन और बुद्धि की क्रियाएँ— सब वायु के स्पन्दन से उद्भूत हैं, अतएव नाडीचक्र की सहायता से निष्पन्न होती हैं। ज्ञान, इच्छा आदि भी वैसी ही हैं। क्रिया की परावस्था में जब वायु की गति निरुद्ध हो जाती है, तब नाडीजाल उपसंहृत होता है और तभी ज्ञान आदि सारे व्यापार निरुद्ध हो जाते हैं— यही योगशास्त्रोक्त वृत्ति-निरोध की अवस्था है। ऐसी स्थिति में शून्य या ब्रह्म का साक्षात्कार एवं निरोध की भी निवृत्ति होने से व्युत्थान और निरोध समभावापन्न होता है। भीतर और बाहर, कारण और कार्य —सब प्रकार के द्वन्द्व दूर होकर द्वन्द्वातीत परम साम्यभाव का उदय होता है। वास्तव में, निर्वाण-अवस्था इसी का दूसरा नाम है। 'निर्वाण' पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यही है, अर्थात् वायु की निवृत्तावस्था।

जीवभाव एवं ईश्वरभाव, दोनों का ही मूल वायु है—वायु की स्तिमित अवस्था में जीवत्व एवं ईश्वरत्व दोनों ही निरुद्ध होने पर एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ही अवस्थान करता है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार, वायु को शक्ति भी कहा जाता है। अतएव, पूर्वोक्त वायु का निरोध और शक्ति का लय समानार्थक हैं। निरोध या लय को कोई ध्वंस न समझ लें। क्योंकि, योगियों का कहना है, इस संसार में किसी सत्ता का ही ध्वंस नहीं होता। वैषम्य ही सृष्टि का लक्षण है, अतएव निरोध या लय कहने से साम्यभाव ही समझना होगा। वायु के कम्पन या शक्ति के स्पन्दन से सृष्टि का आविर्भाव होता है, ऐसा कहा गया है। कम्पन वास्तव में साम्यच्युति से भिन्न और कुछ नहीं। तीन गुण, अणु आदि विभिन्न प्रकार के स्पन्दन या छन्द से आविर्भूत हुए हैं। वायु के ऐकान्तिक समताकाल या महाप्रलय में सब एकाकार हो जाता है।

७५-७६)। इस उपनिषद् में उल्लिखित दस मूल नाडियों में इडा आदि तीन नाडियों के अलावा सात और नाडियाँ गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, शुभा तथा कौशिकी हैं। पहली दो नाडियाँ इडा के सामने और पीछे की ओर बाईं और दाईं आँख तक तथा तीसरी और चौथी बायें और दायें कान तक फैली हुई हैं। अलम्बुषा पायु से अधोगत, शुभा लिंग तक एवं कौशिकी पादांगुष्ठ तक फैली हुई है।

इस प्रकार, थोड़ा गौर करने से ही सहज ही समझ में आता है कि शक्ति का प्रवाह-मार्ग ही नाडी है। व्यष्टि एवं समष्टि—दोनों में ही यह विद्यमान है। पिण्ड या देह में सर्वत्र जैसे नाडियों का जाल फैला हुआ है, वैसे ही ब्रह्माण्ड में सर्वत्र यह जाल फैला हुआ है। देह में ये सारे मार्ग नाभि से निकले हैं, नाभि में सूर्यमण्डल प्रकाशमान होता है, इसलिए यह सब मार्ग सर्वदा ही सूर्य के प्रकाश से आलोकित रहता है। वास्तव में, यह सब सूर्यरश्मि-रूप में ही प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार बाह्यजगत् या ब्रह्माण्ड में भी सूर्यमण्डल से रश्मिरूप में अनन्त धाराएँ चारों ओर बिखर पड़ी हैं। यह सब नाड़ियाँ वक्रभाव पाकर आपस में काटाकाटी करके कुटिल और जटिल जाल की भाँति आभासमान होकर रहती हैं। इसीलिए, शास्त्र में नाडी और रश्मि अभिन्नार्थक शब्द हैं। एक जीव से दूसरा जीव, एक आदमी से दूसरा आदमी इन सूक्ष्म तारों से जड़ा और गुँथा हुआ है। मृत्यु के समय लिंगात्मक जीव जब स्थूल देह त्यागकर कर्मानुसार जाता है, तब उसे इन नाडियों या रश्मियों का सहारा लेकर ही जाना पड़ता है। देह से वह जिस नाडी के द्वार से निकलता है, वह नाडी ही उसे उसके स्थान पर ले जाती है। व्यासकृत 'योगभाष्य' में है कि योगी इच्छानुसार सूर्यरश्मि में विहार कर सकते हैं, चल-फिर सकते हैं। कहना नहीं होगा, यह नाडी-संचार से भिन्न और कुछ नहीं। परकाया-प्रवेश, सूक्ष्मदेह में यातायात आदि सारे व्यापार ही सूर्यरश्मि या नाडी-पथ का आश्रय करके ही होते हैं। इन विषयों की विस्तृत आलोचना यहाँ अप्रासंगिक है किन्तु जो कहा गया, उससे यह ज्ञात होगा कि नाडी और 'nerve' ठीक समानार्थक नहीं हैं।

इन सब वक्र नाडियों में जो वायु संचरण करती है, वह भी वक्रगति, अतएव स्थूल है। वायु ही जब शक्ति है, तब इस वक्र या स्थूल वायु को जडशक्ति कहा जा सकता है। साधना द्वारा क्रमशः दीर्घकाल के अभ्यास और वैराग्य से वायु सरल होती रहती है। कहना बाहुल्य है, यह सरलता आपेक्षिक है एवं यही वायु की विशुद्धि है। बाह्य या स्थूल वायु मिश्रभावापन्न है, इसीलिए इसमें हजारों प्रकार के आकर्षण-विकर्षण का मूल है। परन्तु, जब क्रिया-कौशल से यह शोधित होती है, अर्थात् इसका आगन्तुक मल दूर होता है, तब यह स्वभावतः सरल पथ से ही गतिशील होती है। सरल गति ही स्वाभाविक गति है। वायु की ऐसी अवस्था को सूक्ष्म कहा जा सकता है। यद्यपि, यह आपेक्षिक है, तथापि यहीं से स्थूलत्व की निवृत्ति का आरम्भ होता है। इसलिए, इसको एक स्वतन्त्र कोटि का सोपान कहना असंगत नहीं लगता। सरल और सूक्ष्म वायु जिस पथ से प्रवाहित होती है, वह भी सरल पथ है, इसी का दूसरा नाम सुषुम्णा नाडी है। शास्त्र में यद्यपि इसे ब्रह्मनाडी या शून्यनाडी कहा गया है, तथापि प्रथम अवस्था में यह ठीक-ठीक उस नाम के योग्य नहीं। क्योंकि, गति का सरल होना आरम्भ होते ही जैसे उसी क्षण सरलता सिद्ध नहीं होती, वैसे ही ब्रह्मनाडी (इडा-पिंगला) त्याग करने पर भी प्रथमतः ही एकबारगी पूरी सफलता नहीं प्राप्त होती, धीरे-धीरे होती है। इसीलिए, सरल पथ में प्रवेश कर जाने पर भी वक्रता के अवशेष को क्रमशः काटना होता है।

सुषुम्णा के भीतर वज्रिणी, वज्रिणी में चित्रिणी और चित्रिणी के बीच वास्तविक ब्रह्मनाडी प्रतिष्ठित है। सिद्ध योगी सूक्ष्म दृष्टि से सुषुम्णा में भी भेद देख पाते हैं, इसीलिए इन सब स्तरों का विन्यास स्वीकृत हुआ है। असली बात यह कि जैसे मनुष्यमात्र ठीक-ठीक मनुष्यलक्षणोपेत नहीं, वैसे सुषुम्णा में प्रवेश करने पर भी प्रकृत शून्य अथवा ब्रह्मपथ का पता पाने में कुछ समय लगता है।

अतएव, वायु की क्रमिक शुद्धि और सूक्ष्मता के लिए सरलता अवश्यम्भावी है। ब्रह्ममार्ग में यह सरलता निरपेक्ष और पूर्ण है। इसलिए, जडत्व के परिहार से चैतन्यभाव भी ब्रह्मपथ द्वारा ही सम्यक् रूप से सिद्ध होता है। स्थूल और सूक्ष्म वायु एक ही वायु के दो अवस्था-भेदमात्र हैं। उसी प्रकार, शक्ति भी जड और चेतन रूप में पृथक् रूप से निर्दिष्ट होते हुए भी मूलतः एक और अभिन्न है। साधना का उद्देश्य है, शक्ति की जडता को दूर करके उसे चैतन्य रूप में प्रतिष्ठित करना। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जडशक्ति के ही स्तरभेद से विभिन्न नाममात्र हैं। देह के बहिर्भूत विषय के अन्तर्गत पदार्थनिष्ठ शक्ति भी वही है। परन्तु, वायु जब क्रमशः सूक्ष्म और सरल होकर शून्य में प्रवेश करती है, तब शक्ति का चैतन्य-सम्पादन या जागरण पूर्ण होता है। इसी को कुण्डलिनी का चैतन्य या मन्त्रचैतन्य आदि नामों से अभिहित किया जाता है। वक्रपथ से संचरण करनेवाली स्थूल वायु जब क्रिया के प्रभाव से निर्गम-स्थान में आकर संहत होती है, तब वहाँ एक घनीभूत तेज का विकास होता है। बिखरी हुई सूर्यरश्मि को एकत्र संचित करने से जैसे एक उज्ज्वल सूर्याकार ज्योतिर्बिम्ब प्रकाशमान होता है एवं उसमें दाहिका शक्ति जगती है, उसी प्रकार देह में यहाँ-वहाँ संचारशील वायु, अर्थात् इन्द्रिय आदि का वृत्ति-नियामक प्राण एक स्थान में मिलित होने से एक सूर्यमण्डल जैसा ही आकारवाला तेजोमण्डल प्रकाशित होता है। इसमें भी दाहिका शक्ति रहती है। वस्तुतः, यही ज्ञानाग्नि है और इसी से कर्म आदि दग्ध होते हैं। यह त्रिकोण में अभिव्यक्त होता है, इसलिए त्रिकोणाकार दीखते हुए भी मध्यबिन्दु में वृत्ताकार ही प्रतिभात होता है। किन्हीं-किन्हीं ने इसका नाम भानुमण्डल दिया है। वास्तव में, यह सूर्य का प्रतिबिम्ब-मात्र है। नाभिचक्र में इसी का विकास होता है। बाहर की सौर रश्मि को संहत करने से जो तेजोबिन्दु दीखता है, उससे सूर्य का एक प्रकार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सरल रेखा से घटित है। अर्थात्, उस तेजोबिन्दु से सूर्य तक एक सरल पथ बना हुआ है, दोनों में कोई स्थूल व्यवधान नहीं, दोनों ही एक दूसरे के सन्निहित हैं। बाह्य प्राण और मन की एकाग्रता से जिस ज्योति का उदय होता है, उससे भी परज्योति का वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। बात यह है कि इस अपर और पर ज्योति की संयोजिका सरल रश्मि ही सुषुम्णा नाडी है।[1] अपर और पर ज्योति में वास्तविक कोई व्यवधान नहीं है; पर

१. वैदिक साहित्य में और तदनुयायी परवर्त्ती शास्त्र आदि में हृदय को नाडी-निर्गम का मूल कहा गया है। अर्थात्, बाहरी नाडीजाल और उसमें चलनेवाली

सूक्ष्म व्यवधान अवश्य है। वही सब ग्रन्थिरूप (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि) में तथा और भी सूक्ष्मतम रूप में देखने से चक्ररूप में प्रतीयमान होता है। इन्हीं सबका भेद कर सकने से अपर और परम ज्योति का योग या मिलन सम्पन्न हो सकता है। अतएव,

---

वायु के संयत होने से, अतएव मनःस्थिर होने से जिस आकाश का आविर्भाव होता है, वही हृदय या दहर-पुण्डरीक है इसके ठीक बीच में—कर्णिका में तेजोमण्डल का विकास होता है। कोई-कोई उसे सूर्य कहते हैं। यह हृदय आकाशपद का अभिधेय होते हुए भी और स्थूल वृत्ति का लयस्थान होने पर भी यथार्थ आकाश नहीं है। यह चित्ताकाश या अन्तराकाश-मात्र है—चिदाकाश नहीं। क्योंकि, यहाँ भी एकाग्र वृत्ति का सरल प्रवाह रहता है। वैदिक जन वस्तुतः यहीं से ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्णा नाडी का उदय अंगीकार करते हैं: "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥" तिर्यक्-गामी सभी नाडियाँ 'पुरीतत्' नामक हृदय-वेष्टन के बाहर चारों ओर समग्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड में फैली हुई हैं। "यतो निर्याति विषयो यस्मिंश्चैव प्रलीयते। हृदयं तद् विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम्॥" अतएव, हृदय से विषय उद्भूत होता है और हृदय में ही विषयसमूह विलीन होता है। मन के हृदय में प्रवेश करते ही उसकी क्रिया विलुप्त होती है; क्योंकि तब वह विषयहीन हो पड़ता है और वायुशून्य होता है। मन जबतक चारों ओर संचरण करता है, तबतक वह विषय में ही भ्रमण करता है और वक्र नाडीपथ से विचरण करता है। यह संकल्प-विकल्प या संशय है। तबतक श्वास-प्रश्वास रहता है। यह मन का स्थूल भाव से विचरण है। हृदय-कमल का विकास होने से मन एकाग्र होकर उपसंहृत होता है और उस कमल में प्रवेश करके वक्रगति, स्थूलता और जाड्य का त्याग करता रहता है। क्योंकि, हृदय ही मन का 'स्थितिकारण' है। तब, ऊपर से मन पर ज्ञान का आलोक पड़ता है और उसे सरल कर देता है। ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल मन उस समय लघु होकर सरल पथ से ऊपर उठता रहता है और ज्ञान के केन्द्र-स्थल में प्रवेश करता है। यह केन्द्र-स्थान हृदय-पुण्डरीक की कर्णिका या ब्रह्मरन्ध्र है—यहाँ आत्मा से उसका मिलन या योग होता है। तब, सरल गति भी निरुद्ध हो जाती है। यही मनोनिवृत्ति है। इस उद्बुद्ध मन को जीव का नाम देने से इस योग को जीवात्मा और परमात्मा का परस्पर संयोग भी कहा जा सकता है। जो भी हो, वैदिक जन जहाँ से अध्यात्मपथ पर यात्रा करते थे, उसका नाम हृदय है। सिद्धजन जहाँ से यात्रा करते हैं, उसका नाम है नाभिमण्डल। किसी-किसी सम्प्रदाय में भ्रू-मध्य से भी यात्रा की व्यवस्था है। उनमें वहीं हृदय और मनःस्थान स्वीकृत होता है।

सुषुम्णा नाडी सरल रश्मि होते हुए भी जब वह ब्रह्मनाल में परिणत होती है, तभी वह यथार्थ में सरलता शब्द का वाच्य होती है।

विस्तार से इन सब विषयों की अन्यत्र चर्चा करने की हमारी इच्छा बनी हुई है। यहाँ आपाततः केवल इतना ही कहना है, प्रस्थान-भेद से क्रिया का तारतम्य-भेदनिबन्धन एवं अधिकार-वैचित्र्यवश यात्रास्थान का आपात-प्रतीयमान पार्थक्य के बावजूद वास्तविक कोई भेद नहीं है। 'योग-चिन्तामणि'-कार शिवानन्द ने 'श्रीमत् शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य के मत से मूलाधार ही सुषुम्णा का मुख है', यह कहकर याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि मुनियों एवं गोरक्षनाथ आदि सिद्ध योगियों के मत का इस प्रकार उल्लेख किया है : "याज्ञवल्क्यवशिष्ठादिमुनीनां गोरक्षादियोगिनां च मते नाभिस्थ-कन्दमध्ये सुषुम्णामुखं कुण्डलिनी च।" अर्थात्, इनके मत से सुषुम्णा नाडी का मुख एवं कुण्डलिनी नाभिस्थित कन्द में अंगीकृत हुई है। इसके बाद उन्होंने इस मत का खण्डन किया है : 'ब्रह्मविष्णुग्रन्थिशब्दितयोर्मूला-धारस्वाधिष्ठानचक्रयोर्भेदानुपपत्तेर्मतमिदं चिन्त्यम्।' खण्डन का यह प्रयास, जो नितान्त ही अशोभन हुआ है, उसे अनुभवशील और कर्मकुशल योगी-मात्र ही पकड़ लेंगे। क्योंकि, ग्रन्थि और चक्र का एक सूक्ष्म भेद है, जो यहाँ उपेक्षित हुआ है। चक्रमात्र ही पारिभाषिक संज्ञा से ग्रन्थि नहीं है, अन्यथा ग्रन्थि की संख्या तीन की अपेक्षा छह या उससे भी अधिक माननी होगी। इसके सिवा मूलाधार और स्वाधिष्ठान-चक्र को ब्रह्मग्रन्थि और विष्णुग्रन्थि कहें, तो मणिपूर को रुद्रग्रन्थि कहना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में अनाहत आदि चक्रों को ग्रन्थिहीन स्वीकार करना होगा। यदि अनाहत में जाना ही इष्ट हो, तो ऐसा ग्रन्थि-विन्यास माना जा सकता है। परन्तु, वास्तविकता यह है कि ब्रह्मपथ अनाहतचक्र को भेदकर ऊपर की ओर गया है। अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा में भी आवरण है। प्रश्न हो सकता है, जो नाभि में कुण्डलिनी को जगाते हैं, वे निम्नचक्र का भेदन कैसे करेंगे? इसका उत्तर यह है—नाभिचक्र में अधःस्थ चक्रद्वय का साम्य होता है। जो मूलाधार से यात्रा आरम्भ करने के पक्षपाती हैं, उनके तेज का विकास भी नाभिस्थान में ही होता है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान की क्रिया केवल अरणिमन्थन है। सृष्टिक्रिया वस्तुतः नाभि को आश्रय करके ही निष्पन्न होती है। मूलाधार के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि यह अधोमुख त्रिकोणाकार एवं योनिस्थान है। स्वाधिष्ठान लिंगस्थान है। कुण्डलिनी को जगाने के लिए इस योनिपीठस्थ महालिंग को चेतन करना होता है। यह लिंग और योनि, अर्थात् शिव और शक्ति के ऊर्ध्वमुख मिलित

यहाँ जो अपर ज्योति की बात कही गई, वही प्रबुद्ध कुण्डलिनी-शक्ति है। मन-प्राण-समन्वित जीव इसके साथ आश्रित रूप में वर्त्तमान है। ग्रन्थि या चक्रभेद इसी से होता है। कुण्डलिनी-शक्ति शीत की अधिकता से सोये साँप की भाँति कुण्डली के आकार में ब्रह्मद्वार के मुँह को घेरकर सोई हुई है। इसी निद्रा के कारण जीव की बाह्यवृत्ति और भेदज्ञान जागरूक है। स्थूल आदि देह से तादात्म्य-बोध, इन्द्रिय आदि की अपने-अपने विषय की ओर प्रवृत्ति, जडता या अज्ञान, जन्म-मृत्यु—ये सभी इस निद्रा के ही फल हैं। साधना द्वारा अग्नि और वायु की सहायता से इन्हें जगाना होता है। यह अष्ट प्रकृतिरूप एवं अष्टधा कुण्डली-कृत है। यह जगते ही सरल भाव से ऊपर की ओर धावित होती है। प्रक्रियाविशेष (मूलबन्ध) के द्वारा अधःस्थित वायु को ऊपर की ओर करके कुम्भक का अवलम्बन करते ही वह निरुद्ध वायु अग्निस्थान में प्रतिष्ठित अग्नि को आघात देकर जगा देती है। फिर, उद्दीपित अग्नि और वेगवान् वायु दोनों ही एक साथ कुण्डलिनी को प्रबुद्ध करने में प्रवृत्त होती हैं। अथवा, ऊर्ध्वगामी अपान नाभि के नीचे के अग्निमण्डल में प्रवेश करके आघात करते ही अग्नि की शिखा लम्बी होती है। तब, अग्नि और अपान एक साथ उष्णस्वरूप प्राण का स्पर्श करते हैं। उससे देहज अग्नि बहुत ही प्रदीप्त होती है। इस ताप से तप्त होकर निद्रित कुण्डलिनी जाग उठती है और निःश्वासपूर्वक सरल आकार धारण करके सुषुम्णा में प्रवेश करती है। कहीं-कहीं सरस्वती नाडी की चालना एवं वायु के निरोध को कुण्डलिनी के जागरण का मुख्य साधन कहा गया है। सरस्वती या अरुन्धती नाडी के चालित होने से कुण्डलिनी को चलाने के लिए अलग से चेष्टा नहीं करनी पड़ती। लेकिन, प्राणायाम की निश्चित आवश्यकता है एवं मूल आदि बन्धत्रय की भी अवस्थाविशेष में उपयोगिता है।

मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड्डीयानबन्ध - इन तीन बन्धों के बारे में सिद्धगण बहुतेरी बातें बता गये हैं। मूलबन्ध के द्वारा अधोगामी अपान वायु ऊर्ध्वगतिशील होकर अग्निमण्डल में प्रवेश करती है और अग्निशिखा को बढ़ाकर प्राण का स्पर्श करती है। उड्डीयानबन्ध कुम्भक के तुरत बाद ही अनुष्ठित होता है। इसके अभ्यास से प्राण

होने का कार्य आरम्भ होते ही नाभिचक्र जग उठता है और कुण्डलिनी उद्बुद्ध होती है। इस मिलन की पूर्णता का इतिहास ही षट्चक्र-भेद का रहस्य है। सहस्रार में यह मिलन सम्पूर्ण होता है। कुण्डलिनी के उत्थान के साथ-साथ त्रिकोण और लिंग दोनों ऊर्ध्वमुख होकर परस्पर गाढ़तर भाव से मिलित होते रहते हैं। फलतः, कुण्डलिनी का उत्थान और लिंग का उत्थान एक प्रकार से समानार्थक हैं। योग एवं अहंतभाव की उपलब्धि नहीं होने तक यह क्रिया चलती रहती है। यही ऊर्ध्वरेता होने की साधना है। अतएव, नाभिचक्र को सुषुम्णा का मूल स्वीकार करने में कोई दोष नहीं।

ऊर्ध्वगतिशील होता है। जालन्धरबन्ध पूरक के बाद करने की व्यवस्था है। इससे नाडियों का मुँह बन्द होता है, अधोगामी अमृत-प्रवाह निरुद्ध होता है और वायु की गति सभी नाडियों से लौटकर सुषुम्णा में प्रवेश करती है। उड्डीयानबन्ध के प्रभाव से प्राण शिरोमध्य में प्रवेश करता है।

वेदान्त-धारा

शांकर वेदान्त और अद्वैत-प्रस्थान

बादरायण का ब्रह्मसूत्र :

ब्रह्मसूत्रकार **बादरायण** के बारे में यद्यपि कुछ कहना अनावश्यक है, तथापि आलोचना के प्रसंग में कुछ चर्चा आवश्यक है। यह सबको मालूम है कि **बादरायण** व्यास का ही दूसरा नाम है। परन्तु, आजकल बहुतेरे पाश्चात्त्य एवं भारतीय तत्त्वान्वेषी पण्डित इसे नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि बादरायण व्यास हों भी, तो वही, जो **कृष्ण-द्वैपायन व्यास** हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन, इस विषय में विचारणीय यह है कि **पाणिनि** के सूत्र में जिस भिक्षुसूत्रकार 'पाराशर्य' का उल्लेख किया गया है, वह कौन 'पाराशर्य' थे ? भिक्षु शब्द संन्यासी का ही नामान्तर है। अतएव, भिक्षुसूत्र संन्यासियों के पठन-योग्य उपनिषद् की भित्ति पर रचा गया है, यह अनुमान किया जाता है। यदि यह अनुमान सत्य हो, तो वह भिक्षुसूत्र वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र से भिन्न नहीं है। 'पाराशर्य' पराशर-पुत्र के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अतएव, पराशर-पुत्र व्यास-विरचित यह भिक्षुसूत्र बहुत प्राचीन या प्रसिद्ध था। पाणिनिसूत्र में इस ग्रन्थ के उल्लेख से ऐसा लगता है कि **भगवान् पाणिनि** उस ग्रन्थ से परिचित थे। आज भी जो ब्रह्मसूत्र प्रचलित है, वह भी बादरायण व्यास के नाम से ही ख्यात है। यह ग्रन्थ उस प्राचीन ग्रन्थ से अभिन्न है या उसी सम्प्रदाय का कोई आधुनिक ग्रन्थ है, यह निर्णय करना बड़ा ही कठिन है। इस विषय में यही कहा जा सकता है कि जबतक इसके विरुद्ध कोई अकाट्य प्रमाण नहीं मिल जाय, तबतक केवल कल्पना के सहारे एकाधिक ब्रह्मसूत्रकार व्यास के होने को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। प्राध्यापक **जैकोबी** तथा अन्यान्य पाश्चात्त्य पण्डितों का विश्वास है कि प्रचलित वेदान्तसूत्र अन्यान्य दर्शनसूत्रों के बाद की रचना है। इसका कारण वेदान्तदर्शन का खण्डन करने के लिए जिन दार्शनिकों का पूर्व-पक्ष उपस्थित था, वे अपेक्षाकृत आधुनिक थे। सांख्य, सांख्यानुगत योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, आर्हत, पांचरात्र एवं पाशुपत—ये सारे मत प्रवाह-रूप में प्राचीन होते हुए भी दार्शनिक साहित्य के इतिहास में बहुत प्राचीन नहीं हैं; क्योंकि वेदान्तसूत्र में अत्यन्त प्राचीन सांख्य-मत का खण्डन किया गया है, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं। **ईश्वरकृष्ण-कृत** 'सांख्य-कारिका' में सांख्यदर्शन का जो रूप दिखाया गया है, वेदान्तसूत्र में उसी का खण्डन किया गया है। **आसुरि, पंचशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य, जनक** एवं **पराशर,** इन प्राचीन आचार्यों ने सांख्यज्ञान में निष्ठालाभ करके संसार में उसका प्रचार किया। **वोढ़ु, सनन्दन** आदि आचार्यों के सम्बन्ध में भी यह प्रयोज्य है। 'प्राचीन षष्टितन्त्र' ग्रन्थ का प्रतिपाद्य ज्ञान **ईश्वरकृष्ण-कृत** कारिकोपदिष्ट ज्ञान से बिलकुल भिन्न नहीं है। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में तथा चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं विभिन्न प्रकार के सांख्य-सिद्धान्तों के विषय में वर्णन है।

वर्त्तमान पण्डितों का यह मत समीचीन नहीं लगता; क्योंकि ब्रह्मसूत्र में अत्यन्त प्राचीन ऋषियों के अलावा आधुनिक किसी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता अथवा दार्शनिक सिद्धान्त के किसी स्थापक आचार्य का उल्लेख नहीं है। ब्रह्मसूत्र में यदि सांख्यमत का निराकरण हुआ हो, तो समझना होगा, वह अत्यन्त प्राचीन सांख्यमत है। ब्रह्मसूत्र में जिस न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का खण्डन किया गया है, वह भी प्रचलित गौतमसूत्र या कणादसूत्र-प्रतिपादित नहीं है। सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद का खण्डन ब्रह्मसूत्र में है, पर वह अत्यन्त आधुनिक ऐतिहासिक बौद्धमत-विशेष है, इसके पक्ष में कोई युक्ति नहीं है। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक का सर्वास्तिवाद-सिद्धान्त बीजरूप में 'कथावत्थु' आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। योगाचार-सम्प्रदाय के स्थापयिता बोधिसत्त्व मैत्रेयनाथ तथा योगाचार्य असंग के पहले भी विज्ञानवाद विद्यमान था। 'लंकावतार' आदि ग्रन्थों में तो स्पष्ट रूप से है ही, इसके सिवा पालि-साहित्य में भी इसका स्पष्ट निर्देश मिलता है। माध्यमिक-मत नागार्जुन के समय नागार्जुन के ग्रन्थ एवं आर्यदेव, धर्मत्रात, भव्य आदि के ग्रन्थों में वर्णित है, यह सत्य है, परन्तु शून्यवाद प्राक्-नागार्जुन-युग में केवल अश्वघोष के ही ग्रन्थ में नहीं, बहुत प्राचीन पालि-ग्रन्थों में भी मिलता है। इन सब सिद्धान्तों का परिचय सूक्ष्म रूप से प्राचीन उपनिषद् आदि में भी प्राप्त होता है। अतएव, यद्यपि यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि वर्त्तमान ब्रह्मसूत्र ही पाणिनि द्वारा कथित अत्यन्त प्राचीन भिक्षुसूत्र का अभिनव संस्करण है या नहीं, तथापि यह निश्चित है कि इस ग्रन्थ को पाश्चात्य पण्डित जितना नवीन समझते हैं, उतना यह नवीन है नहीं।

पांचरात्र और पाशुपत-ग्रन्थ से भी यही सिद्ध होता है; क्योंकि ये दोनों अवैदिक मत 'महाभारत' के भी समय में प्रचलित थे। 'महाभारत' के शान्तिपर्व की आलोचना से ही यह विषय स्पष्ट प्रतीत होगा। आर्हत मत को भी नितान्त नया समझना अनुचित है; क्योंकि प्राचीन वैदिक, बौद्ध एवं जैनशास्त्रों की समालोचना से लगता है, ऐसी दार्शनिक चिन्तनधारा प्राचीन काल से ही थी। बाद में ये सारे मत संगृहीत होकर विभिन्न दृष्टि-भंगियों के अनुसार लिखे गये और प्रत्येक संग्रह एक-एक दर्शन के नाम से विख्यात हुआ। जिन्होंने दर्शनशास्त्र के तत्त्वांश का विशेष रूप से अध्ययन किया है, वे इसकी उपलब्धि कर सकते हैं। केवल सादृश्य से किसी मत को किसी सम्प्रदाय का मूल मत मान लेना ठीक नहीं; क्योंकि उन सम्प्रदायों के पहले भी यह सब मत थे। वास्तव में, उसी मत का अवलम्बन करके ही उन सम्प्रदायों ने अपने सिद्धान्त का प्रचार किया। किन्हीं का मत-विशेष लौकिक उपाय से ज्ञानगोचर नहीं होते हुए भी व्यक्तिगत साधनजन्य दृष्टि के प्रभाव से उसकी उपलब्धि करना सम्भव है, परन्तु इसमें भाषागत विशेषता विशेष रूप से विचारणीय है।

वेदान्त और प्राचीन आचार्य-सम्प्रदाय :

बादरायण के ग्रन्थ में बहुतेरे प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख है। ये प्राचीन आर्यवेदान्त के आचार्य थे। इनके दार्शनिक मत में सर्वथा ऐक्य नहीं दिखाई

पड़ता। आचार्य बादरि का नाम ब्रह्मसूत्र में चार स्थानों (ब्र० सू०, १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०) पर मिलता है। जैमिनि के 'मीमांसासूत्र' (३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।३०) में भी बादरि का नाम मिलता है। अतएव, अनुमान किया जाता है कि इन्होंने कर्ममीमांसा एवं ब्रह्ममीमांसा के सूत्रग्रन्थों की रचना की है। इनके मत से वैदिक कर्म में सबका अधिकार है। इस मत का खण्डन करके जैमिनि ने शूद्र के अधिकार को निषिद्ध किया। उपनिषद् में कहीं-कहीं सर्वव्यापी ईश्वर का केवलमात्र प्रादेशिक रूप से वर्णन किया गया है। इसके पक्ष में कौन-सी युक्ति है? इस विषय में आश्मरथ्य तथा आचार्य जैमिनि की भाँति आचार्य बादरि के मत को भी ब्रह्मसूत्र में उद्धार करके उसका खण्डन किया गया है। इस विषय में बादरि का वक्तव्य है कि मन आंशिक रूप से हृदय में अवस्थान करता है, इसीलिए शास्त्र में वह प्रादेशमात्र व्यवहृत हुआ है। उस मन से परमेश्वर का स्मरण किया जाता है, इसीलिए वह केवल प्रादेशिक भाव से वर्णित हुआ है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के 'तद् य इह रमणीयचरणाः' आदि वाक्यों (५।१०।७) में 'चरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अंश में 'चरण' शब्द के अर्थ पर भी आचार्यों में मतभेद है। बादरि के मतानुसार, सुकृत और दुष्कृत अर्थ में ही 'चरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुष्ठानवाचक 'चरण' शब्द का प्रयोग इन्होंने कर्म के अर्थ में किया है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' (४।१५।५) में 'स एनान् ब्रह्म गमयति'—ऐसा वर्णन मिलता है। यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ परब्रह्म लेना चाहिए या कार्यब्रह्म—ऐसा संशय उत्पन्न होता है। जैमिनि का मत है कि यह परब्रह्म है, पर बादरि कहते हैं, यह परब्रह्म नहीं हो सकता—परब्रह्म सर्वव्यापी एवं गन्ता का प्रत्यगात्मस्वरूप है, इसलिए उसमें गन्ता, गन्तव्य और गति—ऐसा भेद सम्भव नहीं। परन्तु, कार्यब्रह्म प्रदेशवान् है, इसलिए उसका गन्तव्य रूप में वर्णन किया जाता है। अतएव, छान्दोग्य के वर्णन में जो ब्रह्म शब्द है, वह कार्यब्रह्म-वाचक है। छान्दोग्य के अष्टम प्रपाठक (८।२।१) में मुक्तपुरुष के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है: 'सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति।' यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ईश्वरभावापन्न महापुरुष को शरीर और इन्द्रियों का अनुभव रहता है या नहीं? बादरि कहते हैं, नहीं रहता है। इसलिए, छान्दोग्य (८।१२।५) में कहा गया है: 'मनसा एतान् कामान् पश्यन्'।

बादरायण ने आश्मरथ्य का उल्लेख दो सूत्रों (ब्र० सू०, १।२।२९, १।४।२०) में किया है। पूर्वोक्त अंश में 'प्रादेशमात्र' शब्द की व्याख्या विशेष विशिष्टता से युक्त है। उनका अभिमत है—वास्तव में, अनन्त होते हुए भी परमेश्वर उपासक के प्रति अनुग्रह करने के लिए सान्त रूप में आविर्भूत होते हैं; क्योंकि सम्पूर्ण रूप में उन्हें कोई नहीं पा सकता। परमेश्वर की उपलब्धि हृदय आदि उपलब्धिस्थान, अर्थात् प्रदेश में विशेष रूप से होती है। इसलिए भी परमेश्वर को प्रादेशमात्र कहा जाता है, यह आश्मरथ्य की वैकल्पिक व्याख्या है। उनके मतानुसार, विज्ञानात्मा और परमात्मा में परस्पर भेदाभेद-सम्बन्ध है। 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' आदि वाक्यों से एकविषयक ज्ञान द्वारा सर्वविषयक ज्ञान सिद्ध होता है। इस मतवाद में जो प्रतिज्ञा की गई है, उससे भी भेदाभेद-

वाद प्रतिपादित होता है। आश्मरथ्य का भेदाभेदवाद परवर्ती काल में यादवप्रकाश द्वारा परिपुष्ट हुआ था, यह 'श्रुतप्रकाशिका'-कार सुदर्शनाचार्य ने स्पष्ट ही कहा है।[1] मीमांसा-दर्शन में भी आश्मरथ्य का नाम मिलता है।

आत्रेय का नाम केवलमात्र एक ही स्थान (ब्र० सू०; ३।४।४४) में उल्लिखित हुआ है। अंगाश्रित उपासना यजमान एवं पुरोहित द्वारा—दोनों प्रकार से करना सम्भव है। इसमें यह संशय होता है कि उसका फल कौन पायेंगे? इस सम्बन्ध में आत्रेय का मत यह है कि उस कर्म का फल स्वामी, अर्थात् यजमान ही पायेंगे, पुरोहित नहीं पा सकते। 'महाभारत' (१३।१३७।३) में निर्गुण ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा के रूप में एक आत्रेय ऋषि का नाम आया हे, परन्तु ब्रह्मसूत्र में उल्लिखित आत्रेय और यह आत्रेय दो हैं या एक ही, यह निश्चित करना कठिन है। 'मीमांसादर्शन' (४।३।१८, ६।१।२६) में भी आत्रेय का उल्लेख मिलता है।

आचार्य काशकृत्स्न (ब्र० सू०, १।४।२२) कहते हैं, 'छान्दोग्य उपनिषद्' के षष्ठ प्रपाठक से प्रतीत होता है कि परमात्मा ही जीवलोक में अवस्थित हैं। जीव परमात्मा का विकार नहीं। आचार्य शंकर कहते हैं: 'काशकृत्स्नस्य आचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवः नान्य इति मतम्।' श्रुति के अनुसारी होने से उन्होंने इस मत को स्वीकार कर लिया है।

औडुलोमि का नाम ब्रह्मसूत्र में तीन जगह (१।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६) मिलता है। उनका मत है, भेदाभेद अवस्था के अन्तर से होता है, अर्थात् सत्य संसार-दशा में जीव और ब्रह्म में भेदबोध होता है, मुक्ति होने से अभेद मिलता है। वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में इनके मत को इस प्रकार से दिखाया है: जीवो हि परमात्मनोऽत्यन्तं भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपधानसम्पर्कात् सर्वदा कलुषः, तस्य च ज्ञानध्यानादि-साधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहेन्द्रियादिसङ्घातात् उत्क्रमिष्यतः परमात्मना ऐक्योपपत्तेः इदमभेदेनोपक्रमणम्। एतदुक्तं भवति—भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽपि अभेद उक्तः। यथाहुः पाञ्चरात्रिकाः—

> "आमुक्तेर्भेद एव स्यात् जीवस्य च परस्य च।
> मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः॥"

आचार्य कार्ष्णाजिनि का नाम केवल एक सूत्र (ब्र० सू०, ३।१।९) में उल्लिखित है। 'मीमांसासूत्र' (४।३।१७, ६।७।३५) में भी कार्ष्णाजिनि का नामोल्लेख है।

---

१. शंकर ने (ब्रह्मसूत्र, १।४।२२) आचार्य आश्मरथ्य के मत की इस प्रकार आलोचना की है: 'आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात् कार्यकारणभावः कियानपि अभिप्रेत इति गम्यते।'

बादरायण के ब्रह्मसूत्र (१।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२-७, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।११) में जैमिनि के नाम का उल्लेख सबसे अधिक मिलता है।

लगता है, प्राचीन काल में काश्यप[1] का भी सूत्रग्रन्थ था। भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य ने अपने ग्रन्थ में काश्यप और बादरायण का उल्लेख करके अपने मत की प्रतिष्ठा की। उनके मत से[2] काश्यप भेदवादी एवं बादरायण अभेदवादी थे। उनके यथानिर्दिष्ट

---

१. महाभारत (१३।३१९।४९) में जिन आचार्यों ने गन्धर्व विश्वावसु को पच्चीस तत्त्व अथवा पुरुष का रूपविषयक उपदेश दिया था, उनमें काश्यप भी थे। प्राचीन साहित्य में खोज करने से और भी २-३ ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में काश्यप का उल्लेख मिलता है। इनमें एक आचार्य संगीत और अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे। अभिनवगुप्ताचार्य ने 'नाट्यशास्त्र' की टीका में प्रसंगतः उनके मत का उल्लेख किया है। 'हृदयंगमा' नामक ग्रन्थ में काश्यप, वररुचि आदि के लक्षणशास्त्रों का उल्लेख पाया जाता है। किसी-किसी पण्डित के मत से काश्यप ने सम्पूर्ण 'नाट्यशास्त्र' का अवलम्बन करके ही उस संगीत और अलंकार-विषयक ग्रन्थ की रचना की। राजा नान्यदेव ने अपनी, 'सरस्वती-हृदयालंकार' नामक 'नाट्यशास्त्र' की टीका में स्थान-स्थान पर काश्यप का उल्लेख किया है। नान्यदेव के उक्त ग्रन्थ में दूसरे एक काश्यप का परिचय मिलता है। पहले काश्यप से पृथक्ता के बोध के लिए दूसरे काश्यप बृहत्काश्यप के नाम से सम्बोधित हुए हैं। एक तीसरे काश्यप का भी परिचय मिलता है। उन्होंने चित्रविद्या पर एक पुस्तक रची थी। 'शाण्डिल्यसूत्र' में जिन काश्यप का उल्लेख है, वह महाभारत में चर्चित काश्यप एवं उन काश्यप में कोई एक हैं या नहीं, इसका निर्णय बड़ा कठिन है।

२. बादरायण के बारे में शाण्डिल्य का यह मत भी विचारणीय है। शाण्डिल्य की उक्ति से यह स्पष्ट प्रतीयमान होता है कि उनकी दृष्टि में बादरायण अद्वैत-वादी थे। शंकर-सम्प्रदाय ने भी इसी विश्वास के सहारे अद्वैतपक्ष में उनके सूत्र की व्याख्या की है। प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित थिबो ने शंकराचार्य-कृत भाष्य के अपने अनुवाद की भूमिका में शंकराचार्य की व्याख्या पर कटाक्ष किया है। उनका कहना है कि 'बादरायण का दार्शनिक सिद्धान्त शंकर के सिद्धान्त से बिलकुल भिन्न है, लेकिन शंकराचार्य ने अपने शुष्क निर्विशेष अद्वैत-सिद्धान्त के प्रचार के लिए बादरायण पर अपने मत का आरोप किया है। इसलिए, ब्रह्मसूत्र का शंकरभाष्य पढ़ने से सूत्रकार का वास्तविक सिद्धान्त जाना नहीं जाता।' इसी आलोचना के भाव के अनुसार बाद के समालोचकों ने शंकराचार्य की व्याख्या पर वैसा मत व्यक्त किया है। प्राचीन समय में रामानुज आदि आचार्यों ने भी ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के

सूत्रों में काश्यप-सिद्धान्त, बादरायण-सिद्धान्त और अपने सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है। जैसे :

१. तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात् । (२९)
२. आत्मैकपरां बादरायणः । (३०)
३. उभयपरां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम् । (३१)

इनके अतिरिक्त, और भी अनेक ऋषियों का वर्णन मिलता है, जिन्होंने विभिन्न दार्शनिक ज्ञान का प्रचार किया है। इस प्रसंग में असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर, भृगु आदि ऋषियों के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

प्राचीन वेदान्त-मत :

प्राचीन दर्शन के पढ़ने से भर्तृप्रपंच, ब्रह्मनन्दी, टंक, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दरपाण्ड्य, द्रमिडाचार्य, ब्रह्मदत्त आदि वेदान्ताचार्यों के नाम मिलते हैं। इनमें सबने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य-रचना की है या नहीं, यह निर्णय करना कठिन है। इनमें से कतिपय आचार्यों ने गीता पर, कतिपय ने गीता और ब्रह्मसूत्र—दोनों पर ही भाष्य-रचना की है। उपनिषद् पर भी कतिपय आचार्यों की व्याख्या प्रचलित थी। पर, इन सबका ठीक निर्देश अब सम्भव नहीं है। पर, इतना सुनिश्चित है कि भर्तृप्रपंच ने कठोपनिषद् और बृहदारण्यक पर भाष्य-रचना की है। सुरेश्वराचार्य तथा आनन्दगिरि के समय में भी भर्तृप्रपंच का ग्रन्थ था, ऐसा लगता है; क्योंकि इन लोगों ने जिस प्रकार से इनके मतों का उल्लेख और विस्तार किया है, वह ग्रन्थ की साक्षात् आलोचना के बिना हो नहीं सकता। भर्तृप्रपंच का सिद्धान्त था—ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद। शंकराचार्य ने यद्यपि

प्रसंग में शंकराचार्य की व्याख्या में, विभिन्न स्थानों में दोष दिखाया है। रामानुजाचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य भास्कर ने अपने भाष्य के प्रारम्भ में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि शंकराचार्य ने सूत्रकार की व्याख्या गुप्त रखकर ब्रह्मसूत्र की भाष्य-रचना के व्याज से अपना सिद्धान्त प्रकट किया है। उनका वक्तव्य यह है कि इस अपव्याख्या की त्रुटि दिखाकर यथायथ रूप में ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करना ही उनके रचित भाष्य का उद्देश्य है :

"सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात् ।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये ॥"

पूर्वोक्त आलोचना से यह सिद्ध होता है कि डॉ० थिबो एवं उनके अनुसरणकारी पण्डितों की समालोचना समग्रतया आधुनिक नहीं है। क्योंकि, उसके पहले भी वैसी आलोचना हुई है। परन्तु, शाण्डिल्य के वक्तव्य से यह भी प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में बादरायणसूत्र का अभिप्राय अद्वैत-वर्जित है, यह भी स्वीकार किया जाता था। ऐसा मत केवल भाष्यकारों का ही नहीं, सूत्रकारों का भी था।

बृहदारण्यक के भाष्य में कभी-कभी 'औपनिषदम्मन्य' कहकर उनका उपहास किया है, तथापि यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि उस समय दार्शनिक क्षेत्र में उनका पाण्डित्य और प्रभाव कुछ कम नहीं था। इसीलिए, शंकर के साक्षात् शिष्य अपने वार्त्तिक में, 'सम्प्रदायवित्' तथा 'ब्रह्मवादी' कहकर उनकी प्रशंसा करने को बाध्य हुए हैं। दार्शनिक दृष्टि से उनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि नामों से प्रसिद्ध था।[1] उनके मतानुसार परमार्थ एक एवं अनेक भी है—ब्रह्मरूप में एक और जगत्-रूप में अनेक। इसलिए, एकान्त भाव से कर्म या ज्ञान को स्वीकार न करके दोनों की ही सार्थकता मान ली गई है। ज्ञान और कर्म—दोनों को ही स्वीकार करने का यही मुख्य उद्देश्य था। भर्तृप्रपंच की दृष्टि से जीव अनेक एवं परमात्मा एकदेश-मात्र है। जैसे ऊषरभूमि पृथिवी के एक अंश में अवस्थित है, वैसे ही जीव भी परमात्मा के एक अंश में अवस्थित है। विद्या, कर्म और पूर्वकर्म-संस्कार जीव में विद्यमान रहता है। अविद्या परमात्मा से अभिव्यक्त होकर जीव में विकार उत्पन्न करके अनात्मस्वरूप अन्तःकरण में धर्मरूप में वर्त्तमान रहता है। यह कहते हैं, जीव परममोक्ष-लाभ करने के पहले हिरण्यगर्भ-लाभ करता है। हिरण्यगर्भ मुक्तावस्था नहीं है, किन्तु वह मोक्ष के ठीक पूर्ववर्त्ती अन्तराल अवस्था-मात्र है। इस अवस्था में परमात्मा की अभिमुखता सदा वर्त्तमान रहती है। काम, वासना आदि जीव का धर्म है। जीव का नानात्व औपाधिक नहीं है, पर धर्म एवं दृष्टि की विभिन्नता इसका कारण है। ब्रह्म एक होते हुए भी समुद्रतरंग की भाँति द्वैताद्वैत है। अद्वैतभाव जैसा सत्य है, द्वैत-भाव भी वैसा ही सत्य है। द्वैतभाव की सत्ता की वर्त्तमानता के कारण कर्मकाण्ड के प्रामाण्य को मानना आवश्यक हो जाता है। कार्यकारणभाव केवलमात्र कल्पना नहीं है, वह वास्तविक सत्य है।

मुमुक्षु और मुक्तपुरुष का आत्मदर्शन ठीक एक जैसा नहीं। भर्तृप्रपंच ने प्रथम प्रकार के दर्शन को परिच्छिन्न कर्मात्मदर्शन और द्वितीय प्रकार के दर्शन को अपरिच्छिन्न परमात्मदर्शन कहा है। परिच्छेदक विज्ञान ही अविद्या है। 'अहमेव इदं सर्वम्' ऐसा भाव परमात्मा में नित्य ही है, किन्तु तिरस्कृतविज्ञान सांसारिक आत्मा में इस प्रकार के भाव का अस्तित्व अनित्य है। अविद्या के प्रपंच में परब्रह्म ही हिरण्यगर्भ-पदवाच्य होते हैं। हिरण्य-

---

१. शंकराचार्य ने शारीरकभाष्य में (ब्र० सू०, २।१।१४) भर्तृप्रपंच के भेदाभेद-मत का उल्लेख इस प्रकार किया है : "(ननु) अनेकात्मकं ब्रह्म, यथा अनेकशाखः वृक्षः, एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्व-ञ्चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वम्, शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वम्, फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम्। यथा मृदात्मनैकत्वम्, घट-शरावाद्यात्मना नानात्वम्। तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति, नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति। एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति।"

गर्भ सर्वत्र व्यापक हैं—निखिल की समस्त सत्ता के अन्तर्गत आत्मा—अर्थात् जगदात्मा। हिरण्यगर्भ से आसक्ति के सम्बन्ध से जीवभाव का विकास होता है। आसंग अथवा वासना अन्तःकरण का धर्म है, जीव में संक्रान्त होने से ही यह जीव के धर्म के रूप में बदल जाता है। जीव ही कर्त्ता, भोक्ता एवं ज्ञाता है। भर्त्तृप्रपंच की दृष्टि के अनुसार जीव ब्रह्म का परिणामस्वरूप है। इनके मत से इन्द्रिय भौतिक है, आहंकारिक नहीं।

मोक्ष दो प्रकार का है : १. अपर मोक्ष अथवा अपवर्ग और २. परामुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति। इस देह में ब्रह्मसाक्षात्कार होने से पहले प्रकार का मोक्ष प्राप्त होता है, यह जीवन्मुक्ति के अनुरूप है। यही अपवर्ग है। वास्तव में, यह आसंग-त्यागवश संसार-निवृत्ति-मात्र है। देहपात हुए विना ब्रह्म में लय नहीं हुआ जा सकता, पर देहपात के बाद दूसरे प्रकार के मोक्ष का उदय होता है। यही ब्रह्म में जीव का लय अथवा जीव में ब्रह्मभावापत्ति है। इस अवस्था का आविर्भाव अविद्या की निवृत्ति के फलस्वरूप है। इससे सिद्ध होता है कि भर्त्तृप्रपंच के मतानुयायियों के अनुसार, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी, अर्थात् अपरा मुक्ति या अपवर्ग-अवस्था में भी अविद्या पूर्णतया दूर नहीं होती। अविद्या के निवृत्त होने से ही जीव के ब्रह्मभाव की उपलब्धि का प्रतिबन्धकभूत शरीर का त्याग और परामुक्ति का अधिगम होता है। परमात्मा अथवा परब्रह्म नित्यवस्तु हैं। इस अवस्था में निखिल विशेष अव्यक्त रहता है—समुद्र जैसे ऊर्मिमाला का एकत्व है, वैसे ही अविशेष अव्यक्त परमात्मा में निखिल विशेष का एकत्व सिद्ध होता है।

ब्रह्म का परिणाम तीन प्रकार का है : १. अन्तर्यामी और जीवरूप में, २. अव्याकृत, सूत्र, विराट् एवं देवता-रूप में और ३. जाति एवं पिण्ड-रूप में। ब्रह्म की पूर्वोक्त आठ प्रकार की अवस्था सम्भव है। इस प्रकार जगत् आठ भागों में विभक्त है। प्रकारान्तर से यह तीन भागों में विभक्त किया गया है : १. परमात्मराशि, २. जीवराशि और ३. मूर्त्तामूर्त्त राशि। भर्त्तृप्रपंच प्रमाणसमुच्चयवादी थे। लौकिक प्रमाण और वेद—दोनों ही सत्य हैं। इसलिए, उन्होंने लौकिक प्रमाणगम्य भेद को एवं वेदगम्य अभेद को सत्यरूप में ग्रहण किया है। इसीलिए, उनके मत से जैसे केवल कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, वैसे ही केवल ज्ञान भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। मोक्षलाभ के लिए ज्ञान-कर्मसमुच्चय ही प्रकृष्ट साधन है।

भर्त्तृमित्र :

भर्त्तृमित्र का उल्लेख जयन्त-कृत 'न्यायमंजरी' (पृ० २१३, २२६) तथा यामुनाचार्य के 'सिद्धित्रय' (पृ० ४-५) में मिलता है। इससे लगता है कि वह भी सम्भवतः वैदान्तिक आचार्य थे। भर्त्तृमित्र की मीमांसाविषयक रचना भी है। भट्टपाद कुमारिल ने अपने 'श्लोकवार्त्तिक' (१।१।१।१०, १।१।६।१३०-१३१) में भर्त्तृमित्र का उल्लेख किया है। टीकाकार पार्थसारथिमिश्र ने 'न्यायरत्न' नाम की टीका में ऐसा ही अभिप्राय प्रकट किया है। कुमारिल ने कहा है कि भर्त्तृमित्र आदि आचार्यों के अपसिद्धान्तों के

प्रभाव से मीमांसाशास्त्र लोकायतीकृत हुआ। विशिष्टाद्वैत-ग्रन्थ में उल्लिखित भर्तृमित्र और 'श्लोकवार्त्तिक' में उक्त मीमांसक भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति हैं या नहीं, इसका निर्णय सहज नहीं। परन्तु, कुमारिल की समालोचना से लगता है कि ये दोनों भिन्न थे। मुकुलभट्ट ने 'अविद्यावृत्तिमातृका' ग्रन्थ में भी पृथक् रूप से भर्तृमित्र के नाम का उल्लेख किया है। (निर्णयसागर, पृ० १७)।

भर्तृहरि :

भर्तृहरि का नाम भी **यामुनाचार्य** के ग्रन्थ में उल्लिखित हुआ है। वाक्यपदीय-कार से इनकी अभिन्नता स्वीकार करने के विपक्ष में कोई युक्ति नहीं मिलती। परन्तु, इनका कोई वेदान्त-ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। 'वाक्यपदीय' व्याकरण-विषयक ग्रन्थ है, परन्तु दार्शनिक ग्रन्थ के रूप में भी इसकी ख्याति है। अद्वैत-सिद्धान्त ही इनका उपजीव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कतिपय आचार्यों के मत से, प्रधानतः भर्तृहरि के शब्दब्रह्मवाद को आश्रित करके ही **आचार्य मण्डनमिश्र** ने 'ब्रह्मसिद्धि' नाम के ग्रन्थ की रचना की। इसपर **वाचस्पतिमिश्र** की 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' नाम की एक टीका थी। **उत्पलाचार्य** के गुरु काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रधानतम आचार्य **सोमानन्दपाद** ने अपने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद की विशेष रूप से समालोचना की है। **शान्तरक्षित**-कृत 'तत्त्वसंग्रह', **अविमुक्तात्म**-कृत 'इष्टसिद्धि' तथा **जयन्त**-कृत 'न्यायमंजरी' में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। **उत्पल** एवं **सोमानन्द** की उक्ति से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि एवं उनके अनुसारी शब्दब्रह्मवादी दार्शनिक 'पश्यन्ती' वाक् को ही शब्दब्रह्मरूप मानते थे। यह भी समझ में आता है कि इस मत के अनुयायी परावाक्-रूप में पश्यन्ती का ही व्यवहार करते थे। यह शब्द विश्व-जगत् का नियामक एवं अन्तर्यामी चित्-तत्त्व से अभिन्न है।

उपवर्ष :

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में किसी-किसी स्थान पर **उपवर्ष** नामक एक प्राचीन वृत्तिकार के मत का उल्लेख किया है। इन वृत्तिकार ने दो ही मीमांसाग्रन्थों पर वृत्तिग्रन्थ की रचना की थी, ऐसा प्रतीत होता है। पण्डितों का अनुमान है, यह 'भगवान् उपवर्ष' वही हैं, जिनका उल्लेख शाबरभाष्य (मी० सू०, १।१।५) में स्पष्ट रूप से किया गया है। शंकर (ब्र० सू० ३।३।५३) कहते हैं: उपवर्ष ने अपनी मीमांसावृत्ति में कहीं-कहीं शारीरकसूत्र पर लिखित वृत्तियों की बातों का उल्लेख किया है। यह उपवर्षाचार्य शबरस्वामी के पहले थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु, **कृष्णदेव**-लिखित 'तन्त्रचूडामणि' नामक ग्रन्थ में, शाबरभाष्य पर उपवर्ष की एक वृत्ति थी, ऐसा लिखा है (द्रष्टव्य : Fitz Edward Hall द्वारा लिखित 'Index to sanskrit Philosophy)। **कृष्णदेव** की उक्ति की यथार्थता का निर्णय करना कठिन है। यदि उनकी बात मानी जाय, तो इन उपवर्ष को प्राचीन उपवर्ष से भिन्न मानना होगा।

बोधायन :

प्रसिद्धि है कि ब्रह्मसूत्र पर बोधायन की एक वृत्ति थी और आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में इनके वचनों को उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य : 'Sacred Books of the East' ग्रन्थमाला में Thibaut द्वारा लिखित वेदान्तशांकरभाष्यानुवाद की भूमिका, पृ० २१)।

प्रसिद्ध जर्मन-पण्डित Hermann Jacobi का मत है कि बोधायन ने मीमांसासूत्र पर भी वृत्ति-रचना की (द्रष्टव्य : Journal of the American Oriental Society 1911, p. 17)। 'प्रपंचहृदय' नामक ग्रन्थ से भी यह प्रतीत होता है कि बोधायन-रचित वेदान्तवृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था (द्रष्टव्य : Trivandrum से प्रकाशित 'प्रपंचहृदय', पृ० ३९)।

ब्रह्मनन्दी :

प्राचीन काल में ब्रह्मनन्दी नाम के भी एक वेदान्ताचार्य हुए थे। इनके मत को मधुसूदन सरस्वती ने 'संक्षेपशारीरक' की टीका (३।२१७) में उद्धृत किया है। इससे अनुमान होता है, सम्भवतः यह भी अद्वैतवेदान्त के आचार्य थे। प्राचीन वेदान्त-साहित्य में 'ब्रह्मनन्दी' छान्दोग्यवाक्यकार या केवल वाक्यकार के नाम से प्रसिद्ध थे।

टंक :

वैष्णव-सम्प्रदाय के साहित्य में भी एक वाक्यकार का उल्लेख मिलता है। इनका नाम है टंक। विशिष्टाद्वैतवादी ब्रह्मनन्दी और टंक को एक ही मानते हैं, लेकिन इसकी सत्यता का निर्णय कठिन है।

ब्रह्मदत्त :

शंकराचार्य से पहले ब्रह्मदत्त नाम के एक और भी बहुत ही प्रसिद्ध वेदान्ती थे।[1] सम्भवतः, वह भी वेदान्तसूत्र के भाष्यकार थे। परन्तु, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।[2] ब्रह्मदत्त का मत है, जीव अनित्य है, एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है : 'एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिमात् इत्यायातम्, तेन जीवोऽपि अचिदिव अनित्यम्।'—यही ब्रह्मदत्त का मत है। वेदान्तदेशिकाचार्य ने अपने 'तत्त्वमुक्ताकलाप' की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' (२।१६) में इसी को उद्धृत किया है। ब्रह्मदत्त कहते हैं : जीव एवं जगत् दोनों ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। उनकी दृष्टि से उपनिषद् आदि का यथार्थ तात्पर्यबोध 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से नहीं होता, वरन् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि नियोगवाक्यों से होता है। इनका वक्तव्य यह है कि भिन्न दिखते हुए भी जीव वास्तविक ब्रह्म से भिन्न नहीं। ब्रह्मदत्त के मतानुसार, साधक

१. माध्व-सम्प्रदाय के 'मणिमंजरी' नामक ग्रन्थ (६।२-३) में लिखा है कि शंकराचार्य ब्रह्मदत्त से मिलने गये थे, पर यह प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता।

२. 'सिद्धित्रय' (प्रारम्भ में)।

की किसी भी अवस्था में कर्म का त्याग सम्भव नहीं। प्राचीन आचार्यों में **आश्मरथ्य** का मत था कि ब्रह्म से ही जीव उत्पन्न होता है और मुक्ति होने पर पुनः ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। इसी प्रकार, ब्रह्मदत्त भी जीव की उत्पत्ति एवं विनाश मानते थे। किन्तु, **आश्मरथ्य** भेदाभेद-मत के समर्थक थे। ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी थे (नैष्कर्म्यसिद्धि, १।६८)। **शंकराचार्य** के मतानुसार, महावाक्यजन्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है। उनके मत से उपासना ज्ञान से भिन्न है। शंकर उपासना-विषयक विधि मानते हुए भी (ब्र० सू०, १।१।४) ज्ञानविषयक विधि को अंगीकार नहीं करते। अविद्या को निवृत्त करनेवाला यथार्थ ज्ञान वस्तुतन्त्र या पुरुषतन्त्र है। इसलिए, आत्मज्ञान के लिए विधि की कोई आवश्यकता नहीं। अन्यान्य वेदान्ती ज्ञान और उपासना में ऐसा भेद नहीं मानते। पूर्वोक्त आचार्य जिस उपाय से भी हो, आत्मज्ञान में भी विधि निश्चय ही मानते थे। मीमांसक कहते हैं : वेद का मुख्य तात्पर्य सिद्ध वस्तु के निर्देश-मात्र में ही नहीं, परन्तु शंकरेतर वेदान्ती कर्म का उपदेश प्रायः इसी प्रकार से मानते थे। इन वेदान्तियों की दृष्टि में पूर्व तथा उत्तरमीमांसा में यह भेद है कि पूर्वकाण्ड में कर्म-विधि है और उत्तरकाण्ड में भावना-विधि। इसलिए, उपनिषद् में '**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**' आदि विधिवाक्यों की प्रधानता को ही स्वीकार करना उचित है, '**तत्त्वमसि**' आदि वाक्यों की प्रधानता को नहीं। वस्तु के स्वरूपज्ञान के विना भावना सम्भव नहीं। '**तत्त्वमसि**' आदि वाक्य वस्तु के स्वरूप-मात्र का बोधक है, अतएव आत्मा उपासना-विधि का अंगमात्र है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड—दोनों ही साध्य-विषयक हैं, सिद्ध-विषयक नहीं।

सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' (१।६७) में कहा है : "**केचित् स्वसम्प्रदाय-बलावष्टम्भात् आहुः—यदेतत् वेदान्तवाक्याद् अहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति। किं तर्हि, अहन्यहनि द्राघीयसा कालेन उपासीनस्य सतः भावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति श्रुतेः।**" 'ज्ञानामृतविद्यासुरभि' नाम की नैष्कर्म्यसिद्धि-टीका में यही ब्रह्मदत्त का अभिमत है, ऐसा निर्णय किया गया है। **शंकराचार्य** ने अपने बृहदारण्यक के भाष्य (१।४।७) में ब्रह्मदत्त का उल्लेख किया है। इस मत के अनुसार, अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से ही सम्भव है—उपनिषद्-ज्ञान मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं। ऐसा ज्ञानलाभ करने के बाद भी आजीवन भावना आवश्यक है। ब्रह्मदत्त कहते हैं : यद्यपि, देह के रहते हुए भी किसी उपाय से देवता का साक्षात्कार हो सकता है, तथापि उनसे मिलन एकमात्र देहत्याग के बाद ही सम्भव है। प्रारब्ध कर्मफल-लब्ध देह उपास्य से उपासक के मिलन का प्रतिबन्धक है (द्रष्टव्य : बृ० उ० वार्त्तिक, पृ० १३५७; नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका 'चन्द्रिका', १।६७)। स्वर्गलाभ जैसे मृत्यु के बाद ही सम्भव है, वैसे ही मोक्षलाभ भी देहत्याग के बाद ही सम्भव है। दोनों ही वैदिक विधि के पालन के फल हैं।

ब्रह्मदत्त ध्याननियोगवादी थे। वह जीवन्मुक्ति नहीं मानते थे। **शंकराचार्य** के मत से मोक्ष दृष्टफल है, ब्रह्मदत्त के मतानुसार अदृष्टफल। शंकर के मत से, कर्म से

जिज्ञासा की उत्पत्ति होती है, मोक्ष नहीं। जीवन्मुक्त को कर्म की आवश्यकता नहीं। इस अवस्था में कर्मसंन्यास स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। शंकर के मत में सत्त्वशुद्धि अथवा वैराग्य के उदय होने से फिर कर्म का प्रयोजन नहीं रहता। इस अवस्था में विधिप्राप्त कर्मसंन्यास होता है (द्र० : ऐतरेयभाष्य, उपोद्घात)। इस प्रकार की दूसरी अवस्था में साधक को केवल ज्ञान-अर्जन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। ब्रह्मदत्त के अनुसार, साधन का क्रम इस प्रकार है : पहले उपनिषद् से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है। उसके बाद '**अहं ब्रह्मास्मि**'—इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। इस अवस्था में कर्म आवश्यक है। आजीवन कर्मत्याग नहीं होता। इसीलिए, ब्रह्मदत्त भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी थे। **सुरेश्वराचार्य** ने भी उनका उल्लेख समुच्चयवादी के रूप में ही किया है। **ज्ञानोत्तम** ने भी 'नैष्कर्म्यसिद्धि' की टीका में उन्हें ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी ही कहा है।[१] ब्रह्मदत्त कहते हैं, मुमुक्षुओं को '**अहं ब्रह्मास्मि**' इत्याकारक अहंग्रहोपासना करनी चाहिए। बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।७।१०) में भी '**आत्मेत्येव उपासीत**' इस प्रकार का उपदेश पाया जाता है। प्रश्न यह है, जीव परमात्मा से परमार्थतः भिन्न है कि अभिन्न ? शंकर ने अभेद-पक्ष का समर्थन किया है। किन्तु, कतिपय वेदान्ताचार्यों के मत से जीव के ब्रह्म से अभिन्न न होने पर भी अभेद-भावना की आवश्यकता है (द्रष्टव्य : सम्बन्धवार्त्तिक, श्लोक, ७०२, ८४५; ब्रह्मसूत्रभाष्य ४।१३; संक्षेपशारीरक, १।३०७–३११; पंचपादिका, पृ० २५२-५३)। ब्रह्मदत्त के मत से, जीव और ब्रह्म का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है, यह जानना सम्भव नहीं है। यदि भेद रहे, तो ऐक्य-भावना के बल से मोक्ष में जीव का लय हो जायगा। यदि यह स्वीकार किया जाय कि जीव ब्रह्म का अंश है, या दोनों में कोई भेद नहीं है, तो ध्यानाभ्यास में भेदभाव की निवृत्ति, अभेद-भाव का स्फुरण या साक्षात्कार और अन्त में मोक्षलाभ होगा। ब्रह्मदत्त की दृष्टि से '**तत्त्वमसि**' आदि महावाक्य के सुनने से आत्मस्वरूप-विषयक अखण्ड वृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि उन वाक्यों में वैसी शक्ति नहीं है, परन्तु निदिध्यासन या प्रसंख्यान में वैसा सामर्थ्य है। प्रसंख्यान यदि पूर्ण रूप से सम्पन्न हो, तो इससे आत्मा का अखण्ड ज्ञान आविर्भूत होता है (द्रष्टव्य : ब्र० सू० भा०, नि० सा०, १२८ से १३० एवं १५३)। शंकर के मत से इस मत का विरोध स्पष्ट प्रतीत होता है। **सुरेश्वराचार्य** ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' (१।६७) और 'पंचपादिका' (पृ० ९९) में स्पष्ट ही कहा है कि महावाक्य द्वारा साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है।[२]

---

१. **'वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षात् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेणैव अज्ञानस्य निवृत्तेः ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः।'**

२. **परन्तु, मण्डनमिश्र का मत यह है कि शब्द द्वारा अपरोक्ष ज्ञान असम्भव है। द्रष्टव्य : बृ० भाष्यटीका (४।४, श्लोक ७९६)।**

भारुचि :

रामानुज-कृत 'वेदार्थसंग्रह' (पृ० १५४) में प्राचीन युग के छह वेदान्ताचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है। उन लोगों ने रामानुज से पहले वेदान्त के प्रचार के लिए ग्रन्थों का निर्माण किया। आचार्य रामानुज के द्वारा सम्मानपूर्वक किये गये उल्लेख से ज्ञात होता है कि ये वेदान्ताचार्य निर्विशेष ब्रह्मवादी नहीं थे। इन आचार्यों के नाम हैं : **भारुचि, टंक, बोधायन, गुहदेव, कपर्दिक** और **द्रमिलाचार्य (द्रविडाचार्य)**। **श्रीनिवासदास** ने 'यतीन्द्रमतदीपिका' में, इस प्रसंग में (पूना-सं०, पृ० २) **व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मनन्दी, द्रमिडाचार्य, श्रीपरांकुश, नाथमुनि, ज्योतिरीश्वर** आदि का उल्लेख किया है। इनमें टंक और **ब्रह्मनन्दी** वैष्णवों के मत से एक ही हैं। उनके नाम और परिचय पहले दिये जा चुके हैं।

भारुचि के बारे में विशेष कुछ नहीं जाना जाता। **विज्ञानेश्वर** की 'मिताक्षरा' (१।१८ तथा १।१२४), **माधवाचार्य**-कृत 'पराशरसंहिता' की टीका (२।३, पृ० ५१०) तथा 'सरस्वतीविलास' (अनुच्छेद १३३) आदि ग्रन्थों में एक धर्मशास्त्रकार **भारुचि** का नाम मिलता है। लगता है, उन्होंने विष्णुकृत धर्मसूत्र पर एक टीका रची थी। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भारुचि और धर्मशास्त्रकार भारुचि को एक मानने से यह समझ में आता है कि वह ईसा की नवीं सदी के प्रथमार्द्ध में विद्यमान थे (द्रष्टव्य : P. V. kane द्वारा लिखित 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पृ० २६५)।

द्रविडाचार्य :

द्रविडाचार्य भी प्राचीन वैदान्तिक थे। उन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर अतिशय बृहद् भाष्य लिखा है। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी उनका भाष्य था, ऐसा प्रमाण मिलता है। माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य (२।२०, २।३२) में शंकर ने उन्हें 'आगमविद्' के नाम से अभिहित किया है एवं बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य (पृ० २९७, पूना-संस्करण) में उनका उल्लेख 'सम्प्रदायविद्' के नाम से किया है। **द्रविडाचार्य** के नामोल्लेख की जहाँ भी आवश्यकता पड़ी, वहीं श्रद्धा का भाव परिलक्षित होता है। कहीं भी उनके मत का खण्डन नहीं किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रविडाचार्य का सिद्धान्त शंकर-सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या के प्रसंग में द्रविडाचार्य ने व्याधसंवर्द्धित राजपुत्र की आख्यायिका का वर्णन किया है। **आनन्दगिरि** कहते हैं कि '**तत्त्वमस्यादिवाक्यमैक्यपरम्, तच्छेषः सृष्ट्यादिवाक्यम्।**' यह मत **आचार्य द्रविड** ने माना है।

पहले यह कहा गया है कि रामानुज-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी **द्रविडाचार्य** नाम के एक प्राचीन आचार्य का उल्लेख पाया जाता है। **किन्हीं-किन्हीं का कहना है कि यह द्रविडाचार्य शंकरोक्त द्रविड से भिन्न हैं। उन्होंने पांचरात्र-सिद्धान्त का अवलम्बन करके द्रविड-भाषा में ग्रन्थ-रचना की थी। यामुनाचार्य** ने 'सिद्धित्रय' में इन आचार्य के बारे में

कहा है : "भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमित-गम्भीरभाष्यकृता ।" यहाँ 'भाष्यकृत्' शब्द द्रविडाचार्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। और फिर, बहुतों के अनुसार, द्रविडसंहिताकार अलवर, शठकोप अथवा बकुलाभरण ही वैष्णव-ग्रन्थावली में द्रविडाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों द्रविडों की परस्पर भिन्नता या अभिन्नता के बारे में अब भी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका है। सर्वज्ञात्ममुनि ने 'संक्षेपशारीरक' (३।२२१) में ब्रह्मनन्दी के ग्रन्थ के द्रविड-भाष्य की जिन उक्तियों को उद्धृत किया है, वे रामानुज द्वारा उद्धृत द्रविड-भाष्य के वचनों से मिलती हुई लगती हैं। इसीलिए, किन्हीं-किन्हीं के मत से शंकर-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध द्रविड और रामानुज-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध द्रविड एक ही व्यक्ति हैं, दो नहीं।

सुन्दरपाण्ड्य :

भगवान् शंकर से पहले सुन्दरपाण्ड्य नामक आचार्य ने कारिकाबद्ध वार्त्तिक की रचना की थी। यह वार्त्तिक ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य अथवा वृत्ति के आधार पर रचा गया था। परन्तु, उस वृत्ति या भाष्य का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। उस वृत्ति के रचयिता बोधायन या उपवर्ष या और कोई प्राचीन आचार्य हैं—निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु, 'समन्वयाधिकरण-भाष्य' के अन्त (१।१।४) में इस वार्त्तिकग्रन्थ से स्वयं शंकराचार्य ने 'अपि चाहुः' कहकर तीन श्लोकों को उद्धृत किया है :

"अपि चाहुः—
गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥ इति ।"

इसका तात्पर्य यह है कि जबतक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्मज्ञान का उदय नहीं होता, तबतक सब प्रकार की विधि एवं प्रमाण सार्थक हैं। आत्मवस्तु हेय भी नहीं, उपादेय भी नहीं। यह अद्वैत है, इस प्रकार के आत्मबोध में प्रमाण का प्रयोजन नहीं। क्योंकि, उस समय प्रमाण या विषय कुछ भी नहीं रहता। वाचस्पतिमिश्र ने 'भामती' में इन श्लोकों को 'ब्रह्मविदां गाथा' नाम से अभिहित किया है। परन्तु, पद्मपाद-कृत 'पंचपादिका' पर 'प्रबोधपरिशोधिनी' नाम की एक टीका है। इसके रचयिता हैं नरसिंहस्वरूप के शिष्य आत्मस्वरूप। इस टीका से ज्ञात होता है कि इन तीनों श्लोकों के रचयिता सुन्दरपाण्ड्य हैं। 'सूतसंहिता' की माधवमन्त्री-कृत 'तात्पर्यदीपिका' नाम की टीका में कथित है कि इन तीन श्लोकों में से तीसरा श्लोक, अर्थात् 'देहात्मप्रत्ययो

यद्वत्' सुन्दरपाण्ड्य-कृत वार्त्तिक से उद्धृत है। अमलानन्द-कृत 'कल्पतरु' (३।३।२५) में सुन्दरपाण्ड्य के 'निःश्रेण्यारोहणप्राप्यम्' आदि और भी तीन वचन तथा 'तन्त्र-वार्त्तिक' (बनारस-संस्करण, पृ० ८५२-८५३) में ये तीन तथा 'तेन यद्यपि सामर्थ्यम्' आदि दो, कुल पाँच वचन उद्धृत हुए हैं। 'न्यायसुधा' (पृ० १२२८) में ये पाँच श्लोक 'वृद्धों के वचन' नाम से उद्धृत हुए हैं। कतिपय आचार्यों के मत से सुन्दरपाण्ड्य सन् ६५० ई० के थे। सुन्दरपाण्ड्य शैव वेदान्ती थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। कुछ पण्डितों के अनुसार, सुन्दरपाण्ड्य राजा नेडुमारण नायनर का नामान्तर है।[1] भट्ट कुमारिल ने 'तन्त्रवार्त्तिक' (पृ० २८०-२८१ एवं ३५७) में 'आह च' कहकर इन दो श्लोकों को उद्धृत किया है। 'न्यायसुधा' के अनुसार यह भी 'वृद्धवचन' है। यह वृद्ध सुन्दरपाण्ड्य ही थे, और कोई नहीं। ऐसा प्रतीत होता है, सुन्दरपाण्ड्य ने पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा पर एक वार्त्तिक की रचना की थी।

शंकराचार्य-कृत ब्रह्मसूत्रभाष्य :

ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य हैं। उनमें शंकराचार्य का भाष्य ही विशेष प्रसिद्ध है। शंकराचार्य के पहले के आचार्यों की भाँति शंकर-परवर्त्ती आचार्यों ने भी विभिन्न पक्ष के अवलम्बन से वेदान्तसूत्र पर अपने-अपने मत के अनुकूल भाष्य-रचना की है।

प्राचीन काल के **उपवर्ष, बोधायन, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि, द्रविडाचार्य** आदि वेदान्ताचार्यों के नाम और उनके सिद्धान्त आधुनिक ग्रन्थों में संगृहीत मिलते हैं। इनमें कोई-कोई सम्भवतः भाष्यकार भी थे। आधुनिक समय में **भास्कराचार्य, यादव-प्रकाश, रामानुज, श्रीकण्ठ, निम्बार्क, मध्व एवं वल्लभाचार्य** के नाम विशेष उल्लेख्य हैं।

शंकराचार्य ने बादरायण के सूत्र पर भाष्यरचना क्यों की, यह विचारणीय है। लगता है, बौद्ध आदि सम्प्रदायों के विस्तार से वेदान्त का यह प्राचीन ग्रन्थ और सम्प्रदाय

---

१. इस विषय का पूर्ण विवरण म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री द्वारा लिखित 'Some Problems of Identity in the Cultural History of Ancient India' नामक प्रबन्ध में द्रष्टव्य है। यह रचना 'Journal of Oriental Research, Madras' नाम की पत्रिका के प्रथम खण्ड (पृ० १–१५) में छपी थी। प्रसंगतः, उक्त लेखक की अन्य रचना भी देखना उचित है (Proceeidng of Third Oriental Conference, पृ० ४६५–४६८)। वह पाण्ड्यराज कुब्जवर्धन या कुलपाण्ड्य नाम से भी परिचित थे। बहुतों का कहना है, उनकी उपाधि थी 'अरिकेसरी'। प्रसिद्ध शैवाचार्य तिरुज्ञान सम्बन्धर इनके समसामयिक थे। इन्हीं से प्रभावित होकर सुन्दरपाण्ड्य ने जैनधर्म त्याग कर शैवधर्म ग्रहण किया और अपने साधन-प्रभाव से ६३ शैवाचार्यों में स्थान प्राप्त किया। इन्होंने चोल-राजकुमारी के साथ विवाह किया था।

प्रायः विच्छिन्न हो गया था। इसीलिए, ऐसा बोध होता है कि भाष्य की रचना का मुख्य उद्देश्य वैदिक धर्म का पुनरुत्थान ही था। 'तर्कपाद' में जिन सम्प्रदायों का खण्डन हुआ है, वे पूर्णतया या आंशिक रूप में अवैदिक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय उन प्राचीन मतों का प्रचलन विशेष रूप से हुआ। उस समय के वैदिक सम्प्रदाय ने बौद्ध, जैन, पाशुपत, पांचरात्र, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक आदि मतों को वैदिक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं किया। इनके अभ्युदय से वैदिक मत धीरे-धीरे म्लान हुआ जा रहा था। इसलिए, उस समय यथायथ रूप में वैदिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नितान्त आवश्यक हो पड़ा था, ऐसा लगता है।

शंकर की गुरु-परम्परा :

भगवान् शंकर के गुरु का नाम **गोविन्दपाद** एवं उनके गुरु का नाम **गौडपादाचार्य** है। गौडपादाचार्य तक गुरु-परम्परा ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत है, यह मान लेने से किसी प्रकार का मतभेद नहीं होता। किन्तु, गौडपाद के गुरु **शुकदेव** एवं उनके गुरु **व्यास** इस क्रम के अनुसार प्राचीन गुरु-परम्परा वर्त्तमान ऐतिहासिक विचार के बाहर है। यदि इस सम्प्रदाय को, जिसका वर्णन साम्प्रदायिक ग्रन्थ में पाया जाता है, सत्य मान लिया जाय, तो यह भी मानना होगा कि व्यासपुत्र शुकदेव ने सिद्धशरीर या निर्माण-शरीर से आविर्भूत होकर गौडपादाचार्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। जिस प्रकार परमर्षि भगवान् कपिल ने निर्माणकाय का अवलम्बन करके जिज्ञासु शिष्य आसुरि को 'षष्टितन्त्र' का उपदेश दिया था, उसी प्रकार भगवान् शुक ने भी गौडपादाचार्य को विद्या का उपदेश दिया होगा।

गोविन्दपाद :

गोविन्द भगवत्पाद ने किसी वेदान्त-ग्रन्थ की रचना की थी, ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। गोविन्द भगवत्पाद-रचित 'रसहृदय' नाम का एक ग्रन्थ मिलता है, पर यह रसायनशास्त्र-विषयक है। **माधवाचार्य**-कृत 'सर्वदर्शनसंग्रह' के रसेश्वर-दर्शन-प्रकरण में इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता स्वीकार की गई है। गोविन्दपाद नर्मदातट पर रहते थे। वह महायोगी थे और उनका शरीर रसप्रक्रिया द्वारा सिद्ध था, ऐसी किंवदन्ती साधक-मण्डल में अब भी प्रचलित है। यह भी प्रसिद्धि है कि उनकी देह हजार वर्ष तक स्थूल जगत् में रहते हुए भी उसमें जरा (बुढ़ापा) का नाम-मात्र भी नहीं था। वह सदा सोलह साल के लगते थे। वास्तविक गोविन्दपाद कौन थे, इसका ऐतिहासिक विवरण मिलना असम्भव है।[1] विद्यारण्य के अनुसार गोविन्दपाद महाभाष्यकार पतंजलि के प्रतिरूप हैं। (द्रष्टव्य : शंकर-दिग्विजय, ५।९४)

---

१. 'रजबाड़े की कथा' नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि जिनसेन, गुणभद्र और शंकराचार्य के गुरु गोविन्दपाद समकालीन थे। इस ग्रन्थ के अनुसार, जिनसेन के छात्र थे गुणभद्र और गुणभद्र के छात्र थे गोविन्दपाद। भट्टारक गोविन्द के

गौडपाद :

आचार्य गौडपाद 'माण्डूक्यकारिका' के प्रणेता हैं। माण्डूक्योपनिषद् दस (प्रमुख) उपनिषदों के अन्तर्गत है। आकार में छोटा होते हुए भी यह ग्रन्थ बहुत सारवान् है। 'मुक्तिकोपनिषद्' (१।२६।२९) में इसकी बहुत ही प्रशंसा मिलती है। इसमें लिखा है: एकमात्र 'माण्डूक्योपनिषद्' ही मुमुक्षुओं को मुक्ति देने में सक्षम है। इस उपनिषद् में केवल बारह वाक्य हैं। इनमें आरम्भ के सात वाक्य 'नृसिंहपूर्वोत्तरतापिनी' तथा 'रामोत्तरतापिनी' में भी उपलब्ध होते हैं। इस उपनिषद् पर आचार्य गौडपाद ने परिशिष्ट के रूप में सुन्दर कारिकाओं की रचना की है। कारिकाओं को उन्होंने चार प्रकरणों में बाँटा है—१. आगमप्रकरण, कारिका-संख्या २९। २. वैतथ्यप्रकरण, कारिका-संख्या ३८। ३. अद्वैत-प्रकरण, कारिका-संख्या ४८। ४. अलातशान्तिप्रकरण, कारिका-संख्या १००। कुल मिलाकर २१५ कारिकाएँ हैं। अन्तिम तीन प्रकरणों में कारिकाएँ क्रमबद्ध हैं। पर, प्रथम प्रकरण की कारिकाएँ 'माण्डूक्योपनिषद्' के वाक्यों से मिलती हैं। षष्ठ वाक्य पर ९ कारिकाएँ हैं, सप्तम पर ९, एकादश पर ५ और द्वादश पर ६। आगमप्रकरण की २९ कारिकाओं का भी इसी प्रकार से सन्निवेश है।

अद्वैतमत से 'माण्डूक्योपनिषद्' के वाक्य को श्रुति के रूप में माना जाता है और कारिकांश को गौडपाद-कृत। परन्तु, मध्व या द्वैत-सम्प्रदाय के मत से प्रथम प्रकरण की

पुत्र हस्तिमल्ल ने अपने 'विक्रान्तकौरव' नाटक के अन्त में, कवि-प्रशस्ति में लिखा है कि गुणभद्र जिनसेन के शिष्य थे एवं गोविन्दपाद गुणभद्र की शिष्य-परम्परा में अन्यतम थे। यह गोविन्द दूसरे ही आचार्य हैं। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जिनसेन ने ७०५ शकाब्द, अर्थात् सन् ७८३ ई० में हरिवंश की रचना की थी। इस ग्रन्थ में लिखा है कि ये तीन आचार्य धारापति भोज के सभापण्डित थे। परन्तु, यह रचना प्रामाणिक नहीं हो सकती; क्योंकि प्रसिद्ध राजा भोज ११वीं शती के थे। किन्हीं-किन्हीं की यह धारणा है कि यह भोज धारापति प्रसिद्ध भोज नहीं, कान्यकुब्ज के कोई गुप्तवंशीय राजा हैं, आदि (द्रष्टव्य : Proceedings of Third Oriental Conference, P. 224)। 'प्रभावकचरित' में लिखा है कि वप्पभट्टि, गोविन्द आदि समकालीन थे। सन् ८३१ ई० में वप्पभट्टि की मृत्यु के बाद राजा भोज ने गोविन्द को अपनी सभा में बुलाया। वप्पभट्टि का जन्म-काल था सन् ७४४ ई०। उक्त गोविन्द लोकोत्तर पण्डित थे, यह वप्पभट्टि की उक्ति से प्रतीत होता है। वप्पभट्टि ने वाक्पति के पाण्डित्य की विशेष रूप से प्रशंसा की है।

सभी कारिकाएँ 'माण्डूक्योपनिषद्' का अंश एवं श्रुतिरूप हैं, ये कारिकाएँ गौडपाद-रचित नहीं। अन्तिम तीन प्रकरण की कारिकाएँ गौडपाद-विरचित हैं।[१]

उत्तरगीता और सांख्यकारिका के टीकाकार भी गौडपाद हैं। परन्तु, ये माण्डूक्य-कारिकाकार से अभिन्न नहीं लगते। रामभद्र दीक्षित के 'पतंजलिचरित' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि आचार्य गौडपाद भाष्यकार पतंजलि के शिष्य थे। प्रवाद है कि पतंजलि

१. कतिपय पण्डितों का कहना है, ये दोनों ही मत भ्रान्त हैं। इनके मतानुसार गौडपाद केवल २१५ कारिकाओं के ही रचयिता नहीं हैं, इनके अंतिरिक्त मा० उ० के १२ गद्यवाक्य कें भी निर्माता वही हैं। यह अभिमत प्रचलित मतानुसार व्यक्त किया गया है। परन्तु, गौडपाद के बारे में पण्डित एकमत नहीं हैं। डॉ० वालेसर (Walleser) कहते हैं कि (Der Aeltere Vedanta, PP. 5 etc.) माण्डूक्यकारिका ईसा की छठी शताब्दी के मध्यवर्त्ती समय में रची गई है। इनके मतानुसार गौडपाद किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, किन्तु यह सम्प्रदायविशेष का नाम है। सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' (४।४१ आदि) में कहा है कि यह सब कारिकाएं गौडपाद की अभिमत हैं, द्रविड-सम्प्रदाय की नहीं। यह सब देखकर डॉ० वेलवलकर और डॉ० राणाडे ने अपने-अपने ग्रन्थ में सन्देह प्रकट किया है कि गौडपाद किसी व्यक्ति का नाम है या नहीं। वेंकट सुब्बय नाम के एक पण्डित ने दिखलाने की चेष्टा की है कि ऐसा सन्देह अमूलक है (Indian Antiquary, October, 1933, PP. 192–3)। 'नैष्कर्म्यसिद्धि' (४।४१–४४) में लिखा है :

कार्यकारणबद्धौ ताविष्यते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः॥
अन्यथा गृह्णतःस्वप्नं निद्रातत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥

तथा भगवत्पादीयमुदाहरणम् :

सुषुप्ताख्यं तमोज्ञानं बीजं स्वप्नप्रबोधयोः।
आत्मबोधं प्रदग्धं स्याद्बीजं दग्धं यथाभवम्॥
एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रकाशितः।

यहाँ 'कार्यकारण' आदि दो श्लोक 'गौडपादकारिका' के प्रथम प्रकरण का ११वाँ एवं १५वाँ श्लोक है। 'सुषुप्ताख्यं तमोज्ञानम्' यह श्लोक शंकराचार्य-कृत 'उपदेशसाहस्री' के १७वें प्रकरण का २६वाँ श्लोक है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सुरेश्वराचार्य ने 'गौडैः' पद द्वारा गौडपादाचार्य को तथा 'द्राविडैः' पद से शंकराचार्य का निर्देश किया है। अतएव, इससे स्पष्ट है कि ये दोनों शब्द सम्प्रदाय-विशेष के वाचक नहीं।

परदे की आड़ से अनेक शिष्यों को महाभाष्य पढ़ाते थे। किसी समय उत्सुकतावश शिष्यों ने परदे के छेद से देखा कि स्वयं आदिशेष सहस्र मस्तक एवं सहस्र जिह्वा धारण किये वहाँ विराजित हैं। शिष्यों के इस व्यवहार से पतंजलि बडे क्रुद्ध हुए और परिणाम हुआ कि उस क्रोध में सब शिष्य भस्म हो गये। परन्तु, उन शिष्यों में एक शिष्य पहले ही बाहर निकल गये थे। उन्होंने आकर क्षमा माँगी। इन्हीं शिष्य का नाम गौडपाद था। पतंजलि ने उन्हें ब्रह्मराक्षस होने का अभिशाप दिया। परन्तु, साथ-ही-साथ यह भी कहा, यदि कभी तुम्हें उपयुक्त शिष्य प्राप्त हो, तो तुम इस शाप से मुक्त होओगे। यह शिष्य (गौडपाद) ब्रह्मराक्षस होकर सबसे यह पूछते फिरने लगे कि 'पच्' धातु के निष्ठाप्रत्यय का रूप क्या है। अधिकांश ने ही उत्तर दिया—'पचितम्'। किसी के मुँह से 'पक्वम्' यह शुद्ध पद नहीं निकला। उत्तर अशुद्ध होने से ही ब्रह्मराक्षस उत्तर देनेवाले को उसी समय खा जाते थे। अन्त में, बहुत दिनों के बाद उज्जयिनी के 'चन्द्र' नामक एक ब्राह्मण ने सही उत्तर दिया।[1]

गौडपाद ने उसे महाभाष्य-विषयक पूरा ज्ञान दिया। शिष्य चन्द्र ने भी बड़ी क्षिप्रता से पूरे महाभाष्य को लिख लिया। उसे लेकर चन्द्र उज्जयिनी लौट गये। ऐसा कहा जाता है कि चन्द्र के चार जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—की चार स्त्रियाँ थीं। चार स्त्रियों से चार पुत्र भी थे। उनके नाम थे : वररुचि, विक्रम, भट्टि और भर्तृहरि। भर्तृहरि बहुत बुद्धिमान् थे। चन्द्राचार्य ने इन्हें महाभाष्य की शिक्षा दी थी। भर्तृहरि महावैयाकरण हुए, किन्तु अहंकारवश उनके एक लाख पचीस हजार कारिकाओं से पूर्ण ग्रन्थ नष्ट हो गया। इसके बाद गौडपाद शापमुक्त हुए और उन्हें सौभाग्य से व्यासपुत्र शुकदेव के दर्शन हुए। उन्होंने उनसे (शुकदेव से) यथाविधि संन्यास ग्रहण किया और अन्त में हिमालय में जाकर योगाभ्यास किया, ऐसा कहा जाता है। तक्षशिला के शाक्यवंशीय राजा प्रावृती तथा अगकुन्य, दॉमिश आदि प्रान्तदेशवासी योगी उनका बड़ा सम्मान करते थे। उन्होंने हिमालय के बौद्ध राजा अयाचार्य को दीक्षा दी। यह सब विवरण आत्मबोध के 'गौडपादोल्लास' नामक ग्रन्थ में लिखा है।[2] गौडपाद ने चन्द्राचार्य को संन्यास देकर उनका नामकरण किया गोविन्द। यही गोविन्द भगवान् शंकराचार्य के गुरु थे। संन्यास लेकर गोविन्द अपने पुत्र भर्तृहरि के साथ नर्मदातीर पर रहने लगे और 'गोविन्द' नाम जपते रहे। संन्यास लेने के लिए शंकराचार्य उन्हीं के पास पहुँचे।

भगवान् शंकराचार्य का आविर्भाव-काल :

भगवान् शंकराचार्य के आविर्भाव और तिरोभाव के समय-निरूपण के सम्बन्ध में मतभेद है। लेकिन, इतना सर्ववादिसम्मत है कि उनका जन्म ईसापूर्व छठी सदी से ईसा

---

१. राजतरंगिणी में लिखा है कि चन्द्राचार्य ने काश्मीरराज अभिमन्यु के समय वहाँ जाकर महाभाष्य का प्रचार किया। यह निर्णय करना कठिन है कि ये दोनों चन्द्र एक ही व्यक्ति हैं।

२. द्रष्टव्य : एन्० वेंकटरमण-कृत 'श्रीशंकराचार्य', पृ० २५।

की नवीं सदी के बीच हुआ था। लेकिन, किस वर्ष जन्म हुआ था, इस विषय में ठीक-ठीक कुछ जाना नहीं जा सका है।

पहले मत के अनुसार शंकराचार्य का जन्म ईसा-पूर्व ५०८ में हुआ और ईसापूर्व ४७६ (२६२५ कलिवर्ष) में, ३२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने देहत्याग किया। जो इस मत की पुष्टि करते हैं, उनकी दृष्टि में प्रचलित 'शंकरदिग्विजय' आदि ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वज्ञ सदाशिवबोध-कृत 'पुण्यश्लोकमंजरी' (आत्मबोधचरित उसका परिशिष्ट है), सदाशिव ब्रह्मेन्द्र-कृत 'गुरुरत्नमाला' तथा आत्मबोध-कृत गुरुरत्नमालाटीका-सुषमा आदि ग्रन्थों की प्रामाणिकता अधिक है। ये सभी ग्रन्थकार कांचीवर्त्ती कामकोटिपीठ से संश्लिष्ट रहे। इस मत के अनुयायी पाँच शंकरों के नामसाम्य के कारण कुछ झमेला रहने से आदिशंकर का समय-निरूपण करना कठिन है। पहले जिस समय का उल्लेख किया गया है, वह आदिशंकर का है। उनके परवर्त्ती समय में कृपाशंकर (ति० का० ६९ ई०), उज्ज्वलशंकर (ति० का० ३६७ ई०), मूकशंकर (ति० का० ४३७ ई०), और अभिनवशंकर (ति० का० ८४० ई०) आविर्भूत हुए थे। ये कांची के पीठाधीश सर्वज्ञात्मा के बाद क्रम से सप्तम, चतुर्दश, अष्टादश और षट्त्रिंश स्थानापन्न कांची-मठ के मठाध्यक्ष थे।

कांचीमठ एवं द्वारकामठ में जो गुरुपरम्परा-काल[1] प्रसिद्ध है, उससे लगता है कि शंकर ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी में आविर्भूत हुए थे। परन्तु, कांची और द्वारकामठ के मत में भेद केवल इसलिए हुआ कि एक मत से उनका जन्मकाल ईसापूर्व ४७६ वर्ष और दूसरे मत से उनका निर्वाणकाल ई० पू० ४७५ वर्ष है।

कतिपय पण्डितों के अनुसार, शंकर का आविर्भाव-काल ईसापूर्व ४४ वर्ष माना जाता है।

'केरलोत्पत्ति' के मतानुसार शंकर का आविर्भाव-काल है ईसा की चौथी सदी। इस मत से शंकर की आयु ३२ वर्ष की जगह ३८ वर्ष की मानी जाती है।[2]

शंकर ने छठी शताब्दी के शेषभाग में जन्म लिया था, यह भी एक प्रचलित मत है।

बर्नेल ने अपने 'South Indian Palaeography' नामक ग्रन्थ (पृ० ३७–१११) में और सिवेल ने 'List of Antiquities in Madras' नामक ग्रन्थ (पृ० १७७) में लिखा है कि शंकराचार्य का आविर्भाव-काल ईसा की सातवीं सदी है। वर्त्तमान समय में स्वर्गीय

१. कांची की गुरु-परम्परा एन्० वेंकटरमण-कृत 'Sankaracharya the Great and his successors in Kanchi' नामक ग्रन्थ में (सन् १९२३ ई०) एवं द्वारका का गुरुपरम्परामूलक काल 'Theosophist' पत्र के सोलहवें खण्ड के तीसरे एवं पाँचवें अंक में बाबू गोविन्ददास की रचना में द्रष्टव्य है।

२. द्रष्टव्य : Indian Antiquary, पृ० २८२।

राजेन्द्रनाथ घोष ने अनेक प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शंकराचार्य ६०८ शकाब्द, अर्थात् ६८६ खृष्टाब्द में आविर्भूत हुए थे।[1] उनका कहना है, शंकराचार्य ने ३४ वर्ष की उम्र में शरीर छोड़ा था। उनका यह अभिमत महानुभाव-सम्प्रदाय के 'दर्शन-प्रकाश' नामक ग्रन्थ में उद्धृत शंकरपद्धति की उक्ति के अनुसार है। इस ग्रन्थ में शंकर के तिरोभाव का समय 'युग्म' (२) 'पयोधि' (४) रसामित (६) शकाब्द उल्लिखित है। इससे उनका जन्मकाल ६४२ शकाब्द अनुमित होता है। रसा पद एक या रसातल के रूप में छह माना जा सकता है। घोष साहब के अनुसार, छह मानना ही युक्ति-संगत है। एक मानने से असम्भव दोष होता है। इसके अनुसार, ६४२+७८, अर्थात् ७२० ई० में शंकर की मृत्यु हुई।

शंकर आठवीं सदी के हैं, ऐसा भी एक मत है। अध्यापक Weber ने प्राचीन काल में इसका समर्थन किया है।[2] Lewis Rice शृंगेरीमठ के गुरुपरम्परा-काल को एक-एक करके जोड़कर अनुमान करते हैं कि शंकर ७४० से ७६७ ईसवी के बीच में जीवित थे।[3]

और, इस प्रकार का भी एक मत है कि शंकराचार्य सन् ७८८ ई० में आविर्भूत हुए तथा ३२ वर्ष की उम्र में, अर्थात् सन् ८२० ई० में तिरोहित हुए।[4] आजकल

१. द्रष्टव्य : आचार्य शंकर एवं रामानुज (बँगला), पृ० ७८७–८०७।

२. द्रष्टव्य : History of Indian Literature, पृ० ५१, note।

३. Proceedings of the Third Oriental Conference, पृ० २२५।

४. नीलकण्ठभट्ट-कृत 'शंकरमन्दारसौरभ' में भी यही मत गृहीत हुआ है (द्रष्टव्य : आर्यविद्यासुधाकर)। अध्यापक टीले ने अपने 'Outline of the History of Ancient Religions' नामक ग्रन्थ (पृ० १४१) में इसी मत को स्वीकार किया है। स्वर्गीय के० बो० पाठक ने बेलगाँव में तीन पत्रयुक्त एक पुस्तक पाई थी। उसके अन्तिम अंश में ऐसा लिखा है :

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः॥

निधिनागेभवह्न्यब्दे [३८८९ कल्यब्द = शकाब्द ७१० = खृष्टाब्द ७८८]
विभवे शङ्करोदयः।

अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रकृत्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥
कल्यब्दे चन्द्रनेत्राङ्कवह्न्यब्दे (३९३१) गुहाप्रवेशः।
वैशाखे पूर्णिमायान्तु शङ्करः शिवतामियात्॥

(द्रष्टव्य : के० बी० पाठक-कृत 'The date of Sankaracharya' नामक रचना, Indian Antiquary, 1882, pp. 173-75) कृष्णब्रह्मानन्द-कृत 'शंकरविजय' में भी शंकर का जन्मकाल इस प्रकार कहा गया है :

अधिकांश प्रत्नतात्त्विक इसी मत को मानते हैं। शंकर के प्रमुख शिष्य देवेश्वर, अर्थात् सुरेश्वर आचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्मा ने 'संक्षेपशारीरक' नामक बहुत ही उत्कृष्ट वेदान्त-ग्रन्थ की रचना की। जिस समय मुकुलादित्य राज्य करते थे, उसी समय वह ग्रन्थ रचा गया, उसमें ऐसा उल्लेख भी हैं : 'श्रीमत्यक्षशासने मुकुलादित्ये भुवं शासति।'

डॉ० भण्डारकर ने अपने 'Early History of the Deccan' ग्रन्थ में लिखा है : अनुमान किया जा सकता है कि ये मानव-वंश के राजा आदित्य चालुक्य थे। किन्तु, चोलराज ही मनुसम्भूत हैं—यही मत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। मनुचोल प्रसिद्ध व्यक्ति थे; शिलालेख आदि में भी मनुवंशीय चोल नाम से अभिहित हुए हैं। इस वंश के तीन राजा आदित्य नाम से ख्यात हुए। उनमें सबसे प्राचीन आदित्य प्रथम परान्तक के पिता थे। पण्डितों की मान्यता है कि वह दसवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध के थे। इससे सिद्ध होता है कि शंकराचार्य नवीं शताब्दी के प्रथमांश में ही जीवित थे।

भगवान् शंकराचार्य ने ठीक किस समय जन्म ग्रहण किया, कितने दिनों तक मानव-शरीर में वर्त्तमान रहे, उन्होंने किन-किन ग्रन्थों की रचना की और कौन-कौन-से काम किये, इसका ठीक-ठीक निर्णय बहुत ही कठिन है। शंकर के चरित-ग्रन्थ में ये विषय अल्पाधिक आलोचित हुए हैं।[1] परन्तु, इन ग्रन्थों के आलोचित प्रसंगों में सामंजस्य

निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे शङ्करोदयः।
कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दुशतसप्तके (७१०)॥
कल्यब्दे भूदृगङ्काग्निसम्मिते शङ्करो गुरुः।
शालिवाहशके त्वक्षि सिन्धुसप्तमितेऽभ्यगात्॥

अतएव, शंकर का आविर्भाव-काल कल्यब्द ३८८९ अथवा शकाब्द ७१० एवं तिरोभाव-काल ३९२१ अथवा शकाब्द ७४२ है।

१. शंकर के चरित्र-विषयक ये सब ग्रन्थ विशेष उल्लेख-योग्य हैं : १. माधवाचार्य-कृत 'शंकरदिग्विजय'। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्य विशेष नहीं है; क्योंकि इसमें बाण, मयूर, दण्डी, अभिनवगुप्त एवं श्रीहर्ष को शंकराचार्य का समकालीन मान लिया गया है। कतिपय पण्डितों के अनुसार, यह माधव और भागवतचम्पूकार माधव (जिन्हें नवकालिदास की उपाधि दी गई है) एक हैं। यह ग्रन्थ विद्यारण्य का नहीं है। इसका मंगलश्लोक ही केवल विद्यारण्य-विरचित है। २. शंकरविजय' : आनन्दगिरि-कृत। प्रसिद्धि है कि यह आनन्दगिरि शंकर के प्रशिष्य एवं त्रोटक के शिष्य थे। परन्तु, यह भी प्रामाणिक रचना नहीं; क्योंकि उत्तर-कालीन अनेक आचार्यों के नाम इसमें उल्लिखित हैं। ३. राजचूडामणि-कृत 'शंकराभ्युदय', ४. चिद्विलासेन्द्र-कृत, 'शंकरविजय', ५. सदानन्द-रचित 'शंकरजय', ६. 'पुण्यश्लोकमंजरी' : सर्वज्ञसदाशिव-बोधकृत।

नहीं है। किसी-किसी अंश की प्रामाणिकता के बारे में ऐतिहासिक विद्वान् सन्देह प्रकट करते हैं। शंकर के आविर्भाव के प्रसंग में पहले जिन मतों का उल्लेख किया गया है, उनमें इस विषय में भी उनका मतानैक्य देखा जाता है।

शंकर के काल-निर्णय में निम्नांकित विषयों के प्रति दृष्टि रखने की आवश्यकता है :

(क) शंकर के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थ में बौद्ध पण्डित धर्मकीर्त्ति का उल्लेख किया है। यही धर्मकीर्त्ति ही प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्त्ति हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।[1]

यह ग्रन्थकार कांची के शंकरमठ के अध्यक्ष थे। इसमें १०९ श्लोक हैं। ७. 'पुण्यश्लोकमंजरीपरिशिष्ट' : महादेवेन्द्र सरस्वतीशिष्य आत्मबोध-कृत। ८. 'गुरुरत्नमाला' : कांचीमठाध्यक्ष परमशिवेन्द्र सरस्वती-शिष्य सदाशिव ब्रह्मेन्द्र-कृत। यह ग्रन्थ ८६ आर्या छन्दों में है। इस ग्रन्थ पर आत्मबोध की टीका भी है। इसकी रचना १६४२ शकाब्द में हुई थी। इन सबके अतिरिक्त स्कन्दपुराण के नवमांश में, मार्कण्डेयसंहिता में, शिव-रहस्यपुराण में, 'गुरुमतमालिका' में और 'गुरुपरम्पराचरित' में भी शंकरचरित वर्णित है। विद्यारण्य-कृत 'श्रीविद्यार्णव' तथा 'शक्तिसंगमतन्त्र' में भी प्रसंगतः शंकर और शंकर-सम्प्रदाय का वर्णन है। मलयलम-भाषा में भी एक शंकरचरित रचा गया है।

१. धर्मकीर्त्ति का समय प्रायः सन् ६३५ से ६५० ई० (?) मान लिया जाता है। यह धर्मकीर्त्ति नालन्दा-विश्वविद्यालय के अध्यक्ष आचार्य धर्मपाल के शिष्य और धर्मपाल के परवर्त्ती नालन्दा के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी थे। यह धर्मकीर्त्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक विङनाग के शिष्य ईश्वरसेन के भी शिष्य थे। 'प्रमाणवार्त्तिक', 'प्रमाणविनिश्चय', 'न्यायबिन्दु' आदि ग्रन्थों की रचना करके बौद्ध-न्यायशास्त्र को उन्होंने बहुत ही गौरवान्वित किया है। 'श्लोकवार्त्तिक', 'तन्त्रवार्त्तिक' आदि मीमांसा-ग्रन्थों के रचयिता भट्ट कुमारिल इनके समसामयिक थे, ऐसी प्रसिद्धि है। तिब्बतीय लामा तारानाथ-कृत बौद्धधर्म के इतिहास में इस विषय के अनेक तथ्य मिलते हैं कि कुमारिल और धर्मकीर्त्ति में परस्पर कैसा सम्बन्ध था। धर्मकीर्त्ति के प्रत्यक्षलक्षण—'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' (द्रष्टव्य : न्यायबिन्दु, ११, बनारस) का 'श्लोकवार्त्तिक' में खण्डन किया गया है। यह धर्मकीर्त्ति का ही लक्षण है, विङनाग का नहीं; क्योंकि विङनाग के 'प्रत्यक्षलक्षण' में 'अभ्रान्त' विशेषण नहीं मिलता। दिङनागाचार्य के 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष-लक्षणकारिका इस प्रकार है :

(ख) स्वयं शंकराचार्य ने 'शारीरकभाष्य' के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के २८वें सूत्र के भाष्य में धर्मकीर्त्ति की एक कारिका का कुछ अंश, योगाचार की समालोचना के प्रसंग में उद्धृत किया है। धर्मकीर्त्ति की कारिका है :

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्यतेन्दाविवाद्वये ॥

इस कारिका के '**सहोपलम्भनियमादभेदो**' अंश का उल्लेख शंकराचार्य ने किया है।

(ग) दिङ्नाग के 'आलम्बनपरीक्षा'-ग्रन्थ से भी '*यदन्तर्ज्ञेयरूपं तत्*' (२।२।२८) अंश को भी उद्धृत किया है।

(घ) ब्रह्मसूत्र (२।२।२२ एवं २।२।२४) के भाष्य में शंकराचार्य ने जिन दो बौद्ध आचार्यों की विवृति उद्धृत की है, उनमें प्रथम वचन **गुणमति**-कृत (६३०–६४० ई०) 'अभिधर्मकोश' की व्याख्या में मिलता है।

(ङ) जैनमत के खण्डन में शंकर ने जिस मत का उल्लेख किया है, वह दिगम्बराचार्य **अकलंक** के गुरु **समन्तभद्र** का रचा हुआ प्रतीत होता है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग में **समन्तभद्र**-रचित 'आत्ममीमांसा' का वचन भी उद्धृत किया है :

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधेः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ॥ (२।२।३३)

अकलंक साहसतुंग राजा के सभासद थे। यह राजा साहसतुंग राष्ट्रकूटराज दन्तिदुर्ग का नामान्तर है। इनका शासनकाल ६७५ शकाब्द अथवा ७५३ खृष्टाब्द है। यह अकलंक अष्टसाहस्रीकार विद्यानन्द के गुरु थे।[1]

नापि पुनः प्रत्यभिज्ञाऽनवस्था स्यात् स्मृतादिवत् ।
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥३॥

(द्रष्टव्य : दिङ्नाग-कृत 'प्रमाणसमुच्चय', मैसूर-संस्करण, पृ० ८)

१. महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण के मतानुसार यह अकलंक राष्ट्रकूटराज शुभतुंग अथवा प्रथम कृष्णराज (सन् ७५३–७७५ ई०) के समकालीन थे। प्रसिद्ध है कि मान्यखेटक के राजा शुभतुंग के दो पुत्र थे—प्रथम अकलंक, द्वितीय निष्कलंक। अकलंक तीव्रवैराग्यवान् थे। वह राज्य-सम्पत्ति परित्याग कर त्यागी का जीवन बिताते थे। सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्य ने समन्तभद्र की 'आत्ममीमांसा' पर 'अष्टशती' नामक एक टीका रची थी और 'न्यायविनिश्चय', 'तत्त्वार्थवार्त्तिकव्याख्यानालंकार' आदि अनेक ग्रन्थों की भी रचना की थी। समन्तभद्र ने उमास्वाति-कृत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' पर एक बृहत् भाष्य रचा, जिसका नाम 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' है। यह पुस्तक आज लुप्त है। इसका उपोद्घात-अंश 'देवागमस्तोत्र' या 'आप्तमीमांसा' के नाम से ख्यात है।

आदिशंकराचार्य ने किस-किस ग्रन्थ की रचना की ?

आदि शंकराचार्य ने किस-किस ग्रन्थ की रचना की, यह कहना कठिन है। शंकर-विरचित प्रायः २०० प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। उनके प्रकरणग्रन्थ, भाष्य, स्तोत्र आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ इन्हीं दो सौ ग्रन्थों में सम्मिलित हैं। शंकराचार्य नाम के एकाधिक व्यक्ति हो गये हैं। आदिशंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित मठ में जो आचार्य-पद पर अभिषिक्त होते हैं, वह सभी शंकराचार्य नाम से अभिहित होते हैं। यह प्रथा आज भी प्रचलित है। इसलिए, शंकराचार्य नाम के बहुत लोगों की रचना एकत्रित हो गई है। उनमें से आदिशंकराचार्य की रचनाओं को अलग कर सकना कठिन है। यहाँ ज्ञातव्य यही है कि ब्रह्मसूत्र पर 'शारीरकभाष्य'-निर्माता शंकराचार्य ने कौन-कौन-से ग्रन्थ की रचना की। प्रसिद्ध है कि प्रस्थानत्रय पर ही उनका भाष्य है। ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता[१] तथा कतिपय प्रधान उपनिषदों[२] पर ही उनका भाष्य है। गौडपाद-कृत 'माण्डूक्यकारिका' का भी

---

१. गीताभाष्य के विषय में भी मतभेद है। अधिकांश पण्डितों का मत है कि यह आदिशंकर का ही है। इस विषय में विशद विवरण B.N. Krishnamurti की रचना में द्रष्टव्य है : Annals of Bhandarkar Institute, Vol. 14, 1983, PP. 39–60.

२. केनोपनिषद् का पदभाष्य और वाक्यभाष्य शंकराचार्य द्वारा ही रचित है, यही प्रसिद्ध मत है। परन्तु, पण्डितजन सन्देह करते हैं कि वाक्यभाष्य शंकर-विरचित नहीं है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार, वाक्यभाष्य विद्याशंकर-विरचित है। एक ही व्यक्ति द्वारा दोनों की रचना सम्भव नहीं; क्योंकि किसी-किसी स्थल पर दोनों भाष्यों में मूल की व्याख्या परस्पर भिन्न एवं विपरीत दिखाई पड़ती है। (द्रष्टव्य : ४७।३२ तथा २।१।२)। मूल २।२ का पदभाष्य-पाठ 'नाहम्' है, पर वाक्यभाष्य-मत से 'नाह'। श्वेताश्वतर उपनिषद् का भाष्य भी आदिशंकर-कृत नहीं है; क्योंकि उसमें एक स्थान पर गौड-पाद की एक कारिका (३।३५) का उल्लेख इस प्रकार किया गया है : 'तथा च शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः।' शंकर जैसे महापण्डित, शिष्य के आचार-विरुद्ध अपने परमगुरु का नाम इस प्रकार से लेंगे, यह विश्वास योग्य नहीं। ब्रह्मसूत्र के भाष्य (१।४।१५, २।१।९) में शंकराचार्य ने 'सम्प्रदायविदः' तथा 'वेदान्तार्थसम्प्रदायविदः' नाम से गौडपाद का उल्लेख किया है। पण्डितों का मत है, माण्डूक्य उपनिषद् का भाष्य भी आदिशंकर का नहीं है (द्र० : Sir Ashutosh Mukerji's Silver Jubilee Commemoration, Volume III, Orientalia, Part 2, Pages 103–110)। इसके दो मंगलश्लोक रचना की दृष्टि से निकृष्ट भाषा में लिखित हैं। दूसरे श्लोक में छन्दोभंग भी हुआ है। पहली तीन पंक्तियाँ मन्दाक्रान्ता और चौथी पंक्ति स्रग्धरा छन्द में है। अन्तिम तीन श्लोकों में व्याकरण की अशुद्धियाँ भी हैं।

भाष्य उन्होंने रचा। 'विष्णुसहस्रनामभाष्य' तथा 'सनत्सुजातभाष्य' भी प्राचीन काल से आदिशंकर-विरचित ही विदित है। 'हस्तामलक' पर जो शंकर-कृत भाष्य मिलता है, वह वास्तव में शंकर-कृत है या उनके किसी शिष्य का या और किसी शंकर का रचा है, यह निर्णय करना कठिन है। संन्यासी-सम्प्रदाय में यह शंकर-विरचित ही माना जाता है। शंकराचार्य का 'गायत्रीभाष्य' प्रसिद्ध है। 'मण्डलब्राह्मणोपनिषद्' पर 'राजयोगभाष्य' नाम की एक व्याख्यान-पुस्तक मिलती है। ग्रन्थ को देखने से यह आदिशंकर का ही लिखा लगता है। यह ग्रन्थ मैसूर से प्रकाशित हुआ है। 'सांख्यकारिका' पर 'जयमंगला' नाम की जो टीका प्रकाशित हुई है, किन्हीं-किन्हीं के मत से वह भी शंकर-कृत है। परन्तु, इस ग्रन्थ के लेखक ने ग्रन्थ की भूमिका में यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि उक्त टीका शंकराचार्य नामक एक पण्डित की रचना है, जिन्होंने अन्यान्य ग्रन्थों पर भी 'जयमंगला' नाम की टीका प्रस्तुत की है। विश्वास ही नहीं होता कि यह आदिशंकर-विरचित है। इनके अलावा, 'विवेकचूडामणि', 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह' और 'उपदेशसाहस्री' भी शंकराचार्य-लिखित है।[1] 'प्रपंचसार', 'सौन्दर्यलहरी' आदि ग्रन्थों से शंकर का नाम संश्लिष्ट है, परन्तु ये सब ग्रन्थ आदिशंकर-रचित हैं या नहीं, इसपर ऐतिहासिकों को विशेष सन्देह है।[2] ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि शंकराचार्य-कृत 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह'

शंकर ने अपने ग्रन्थों में कदाचित् ही मंगलाचरण किया है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' का मंगलाचरण भी प्रक्षिप्त ही है। 'नृसिंहतापिनी उपनिषद्' के भाष्यकार भी एक शंकर हैं। वही 'प्रपंचसार' के भी रचयिता हैं। इस भाष्य में 'प्रपंचसार' के छह वचन उद्धृत किये गये हैं। 'नृसिंहतापिनी उपनिषद्' के भाष्य में भी व्याकरण की यथेष्ट अशुद्धियाँ हैं। माण्डूक्यकारिकावली की टीका में व्याकरण-अशुद्धि-दोष है। परन्तु, उससे अपेक्षाकृत कम। 'प्रपंचसार' भी व्याकरण और छन्द की अशुद्धि से परिपूर्ण है। इस विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। ईश, कठ, प्रश्न, मुण्डक, ऐतरेय, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक पर शंकरभाष्य है, यह सर्वजनविदित है।

१. सुरेश्वराचार्य ने 'उपदेशसाहस्री' से 'नैष्कर्म्यसिद्धि' (अ० ४) में अनेक उक्तियाँ उद्धृत की हैं। इस ग्रन्थ पर शुद्धानन्द के शिष्य आनन्दज्ञान और कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ तथा विद्याधाम के शिष्य बोधनिधि की टीकाएँ हैं।

२. किन्तु, अमलानन्द ने 'वेदान्तकल्पतरु' नामक भामती टीका (१।३।३३) में 'प्रपंचसार' को शंकराचार्य-कृत माना है। यथा : 'तथा चावोचन्नाचार्याः प्रपञ्चसारे—अवनिजलानलमारुतविहायसां शक्तिभिश्च तद्बिम्बैः। सारूप्यमात्मनश्च प्रतिनीत्वा तत्तदाशु जयति सुधीः ॥' यहाँ बिम्बशब्द द्वारा भूतमण्डल अर्थात् चतुरस्र, धनुषाकार, त्रिकोण, षट्कोण एवं बिन्दु, शक्तिशब्द द्वारा निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति एवं शान्त्यतीत—इन पाँच प्रकार की

नामक एक ग्रन्थ है। परन्तु, यह ग्रन्थ आदिशंकर-रचित नहीं है; क्योंकि इस ग्रन्थ के लेखक के मतानुसार पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा तथा देवताकाण्ड (संकर्षणकाण्ड)—ये तीन ग्रन्थ एक ही शास्त्र के अन्तर्गत हैं। किन्तु, शारीरकभाष्य के कर्त्ता शंकराचार्य ने दिखाया है कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा एक ही शास्त्र नहीं (ब्र० सू०, १।१।१)।

पृथिवी आदि की शक्ति को समझना होगा। (अप्पय्यदीक्षित-कृत 'परिमल' द्रष्टव्य)। 'प्रपंचसार' के विवरण में लिखा है कि स्वयं शिव ने ही शंकराचार्य-रूप में अवतीर्ण होकर 'प्रपंचसार' नामक ग्रन्थ लिखा है। 'शारदातिलक' के टीकाकार राघवभट्ट, 'षट्चक्र' के टीकाकार कालीचरण आदि तत्त्वविद् पण्डित भी इसमें एकमत हैं कि 'प्रपंचसार' आदिशंकर की रचना है। विद्वद्वर Arthur Avalon ने भी कहीं-कहीं इसी मत का समर्थन किया है। अमरप्रकाश-शिष्य उत्तमबोधाचार्य ने भी 'प्रपंचसार'-सम्बन्धदीपिका' नाम की टीका में लिखा है कि 'प्रपंचसार' 'प्रपंचागम' नामक किसी एक प्राचीन ग्रन्थ का सारसंग्रह है (द्रष्टव्य : मद्रास की सूची-सं० ५२९९)। वास्तव में, यह शंकर-रचित कोई अभिनव ग्रन्थ नहीं। 'प्रपंचसार' पर पद्मपादाचार्य की टीका भी है। यदि इस पद्मपादाचार्य को आदिशंकर के मुख्य शिष्य प्रपंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य से अभिन्न माना जाय, तो 'प्रपंचसार' को आदिशंकर की रचना मानना ही अधिक संगत है। किन्तु, भाषा और रचना-शैली के विचार से आधुनिक समालोचकों की दृष्टि में यह ग्रन्थ शारीरकभाष्यकार का नहीं लगता।

गीर्वाणेन्द्र सरस्वती-कृत 'प्रपंचसार' का सारसंग्रह-स्वरूप ग्रन्थ प्रसिद्ध है। 'ललितात्रिशती' पर भी शंकराचार्य के नाम से एक भाष्यग्रन्थ प्रसिद्ध है। यह भी त्रिपुरा-सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ है। 'दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र' आदिशंकर-कृत है, इसमें सन्देह नहीं। उसपर सुरेश्वराचार्य ने 'मानसोल्लास' नामक वार्त्तिक की रचना की है। परन्तु, उसकी पर्यालोचना से प्रतीत होता है कि वह षट्त्रिंशत्तत्त्ववादी आगम के मतानुसार लिखा गया है। शैवागम के कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मूलस्तोत्र तथा वार्त्तिक में मिलता है। 'सौन्दर्यलहरी' आदिशंकर-कृत स्तोत्र है—यही प्रचलित मत है। प्राचीन काल से विभिन्न टीकाकार इसी मत का समर्थन करते आ रहे हैं। 'श्रीविद्यार्णव' नामक तन्त्रग्रन्थ में शंकर तान्त्रिक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक बताये गये हैं और उसमें तान्त्रिक गुरु-परम्परा का भी उल्लेख किया गया है। 'शक्तिसंगम' आदि तन्त्रग्रन्थों से भी शंकर का विशेष सम्बन्ध दिखाया गया है। शंकर के परमगुरु गौडपाद की 'सुभगोदय' नामक तान्त्रिक स्तुति प्रसिद्ध है। गौडपाद-कृत 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' भी तान्त्रिक ग्रन्थ है। किन्तु

शंकराचार्य ने बहुसंख्य छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें वेदान्ताधिकार का साधन, बैराग्य आदि सम्पत्ति सभी का वर्णन किया गया है। इन सारे ग्रन्थों के कर्त्तृत्व एवं प्रामाणिकता के सम्बन्ध में ठीक-ठीक विचार करना कठिन है। परन्तु, प्राचीन काल से विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न लिपियों में लिखित जो सारे ग्रन्थ गोविन्द भगवत्पाद-शिष्य शंकराचार्य द्वारा रचित कहे गये हैं, नीचे यथासम्भव उनकी एक सम्पूर्ण सूची देने की चेष्टा की जा रही है। यह सूची सब प्रकार से असम्पूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। विभिन्न ग्रन्थागारों की हस्तलिखित पोथियों की खोज करने से सम्भवतः ऐसे और भी ग्रन्थ मिलेंगे। फिर भी, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध छोटे ग्रन्थों के नामों का जहाँतक संग्रह करना सम्भव हुआ है, यहाँ वही देने की चेष्टा की गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस सूची पर विचार करना सम्भव नहीं। ये ग्रन्थ केवल शंकर के नाम से संश्लिष्ट हैं, इसलिए इनके नाम यहाँ दिये गये हैं :

१. एकश्लोकी। इस नाम से अलग-अलग दो श्लोक वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। उनमें एक पर गोपालयोगीन्द्र के शिष्य स्वयम्प्रकाश यति का 'स्वात्मदीपन' नाम का व्याख्यान है।

२. कौपीनपंचक। इसका दूसरा नाम 'यतिपंचक' है।

३. अद्वैतपंचरत्न। कहीं-कहीं यह पुस्तक 'आतमपंचक' या 'अद्वैतपंचक' नाम से अभिहित है। 'पंचक' नाम होते हुए भी कहीं-कहीं एक श्लोक अधिक देखा जाता है।

यहाँ उसकी विशेष आलोचना अप्रासंगिक है, अतः वह विषय यहाँ और अधिक आलोचित नहीं हुआ।

तन्त्रशास्त्र में दूसरे शंकर का भी उल्लेख मिलता है। 'ताराहस्यवृत्ति' (वासनातत्त्वबोधिनी) के रचयिता एक शंकर का नाम तन्त्र के इतिहास में मिलता है। लेकिन, उस ग्रन्थ में उन्होंने अपना परिचय कमलाकर-पुत्र एवं लम्बोदर-पौत्र के रूप में दिया है। सम्भवतः, इन्हीं शंकर ने 'शिवार्चनमहारत्न', 'कुलमूलावतार', 'क्रमस्तव' आदि ग्रन्थों की रचना की। 'षट्चक्रभेद-टिप्पणी' भी इन्हीं की रचना है। यह शंकर बंगाली थे। अपना परिचय इन्होंने 'गौडदेशवासी महामहोपाध्याय श्रीशंकराचार्य' कहकर दिया है। यह कौल थे। कुलागम या कुलतन्त्र का आश्रय लिये बिना किसी को सायुज्य-मुक्ति मिलना असम्भव है। उनका यही अभिमत है। इनके मत से वामाचार, दक्षिणाचार और सिद्धान्ताचार द्वारा केवल सालोक्यमुक्ति ही सम्भव है। इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि नेपाल-दरबार के ग्रन्थागार में है। इसकी प्रतिलिपि का समय ल० सं० ५५१, अर्थात् सन् १६३० ई० में लिखा हुआ है। 'ताराहस्यवृत्ति' में 'तारापज्झटिकास्तोत्र' नामक शंकर-कृत एक स्तोत्र का उल्लेख है, पर यह कौन शंकर हैं, इसका निर्धारण नहीं किया जा सका है।

४. आत्मबोध। गीर्वाणेन्द्र के शिष्य बोधेन्द्र ने इसपर 'भावप्रकाशिका' नाम की एक टीका लिखी है। ये गीर्वाणेन्द्र किसी अद्वैतपीठ के अध्यक्ष थे, ऐसा लगता है। टीकाकार बोधेन्द्र त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे। उन्होंने अपनी टीका में लिखा है :

श्रीचक्रमध्यनिलया समस्तगुणसेविता।
सा देवी त्रिपुरा तुष्टा वीक्षतां मत्कृतिं वराम्॥
(द्रष्टव्य : तंजोर-कैटलग, पृ० ७१७४)

५. अद्वैतानुभूति।

६. अद्वैतरसमंजरी। सदाशिव सरस्वती ने भी इस नाम से एक पुस्तक की रचना की है।

७. अपरोक्षानुभूति। 'अपरोक्षानुभवामृत' नाम से भी शंकर-रचित एक प्रकरण-ग्रन्थ का पता चलता है।

८. निर्वाणषट्क। इसका दूसरा नाम 'आत्मषट्क' और 'चिदानन्दषट्क' है।

९. पंचरत्न। इसके नामान्तर हैं—'उपदेशपंचक', 'पंचरत्नमालिका' या 'साधकपंचक'।

१०. निरंजनाष्टक।

११. स्वात्मप्रकाशिका।

१२. आर्यपंचक। इसपर सच्चिदानन्द सरस्वती की टीका है।

१३. विज्ञाननौका अथवा 'स्वरूपानुसन्धान'।

१४. अनात्मश्रीविगर्हणप्रकरण।

१५. जीवन्मुक्तानन्दलहरी।

१६. गुर्वष्टकम्।

१७. केवलोऽहम्।

१८. परापूजा। इसका नामान्तर है 'आत्मपूजा'।

१९. चर्पटपंजरिका। कहीं-कहीं यह ग्रन्थ 'द्वादशमंजरी' या 'द्वादशपंजरिका' नाम से भी प्रसिद्ध है। यह 'मोहमुद्गर' नाम से भी अभिहित है। कहीं-कहीं इस श्लोक के बदले दूसरे प्रकार के श्लोक 'मोहमुद्गर' में प्रसिद्ध हैं।

२०. निर्गुणमानसपूजा।

२१. प्रौढानुभूति।

२२. तत्त्वोपदेश।

२३. प्रश्नोत्तररत्नमालिका।

२४. ब्रह्मनामावलीमाला (अथवा ब्रह्मज्ञाननामावलीमाला)।

२५. निर्वाणमंजरी।

२६. प्रातःस्मरणस्तोत्र।

२७. धन्याष्टक।

२८. मणिरत्नमाला।

२९. मठाम्नाय। इसमें कुल ६५ श्लोक हैं।

३०. ब्रह्मानुचिन्तन अथवा आत्मानुचिन्तन।

३१. मनीषापंचक। इसमें शंकराचार्य से संवादरूप में चण्डालरूपी शिव का तत्त्वोपदेश है। इसपर सदाशिवेन्द्र की एक टीका है। 'मधुमंजरी' नाम से गोपालबालयतिकृत और भी एक टीका है। इसके रचयिता ने अपना परिचय जगन्नाथ मुनि के शिष्य के नाम से दिया है। यह जगन्नाथ मुनि यदि काशी के प्रसिद्ध 'जगन्नाथाश्रम' से अभिन्न हों, तो उक्त टीकाकार नृसिंहाश्रम के सतीर्थ्य ही होंगे। इस 'मनीषापंचक' के अलावा और भी एक 'मनीषापंचक' कहीं-कहीं मिलता है। 'मनीषापंचक' पर 'हस्तामलक' की टीका भी किसी संग्रह में मिलती है।

३२. सदाचार।

३३. सहजाष्टक।

३४. स्वात्मनिरूपण। इसके नामान्तर हैं—'वेदान्तार्या', बोधार्या', 'आत्मबोध' एवं 'अनुभूतिरत्नमाला'।

३५. दशश्लोकी अथवा निर्वाणदशक। इसपर प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' नाम की व्याख्या लिखी है।

३६. सारतत्त्वोपदेश।

३७. वेदवेदान्ततत्त्वसार।

३८. वाक्यवृत्ति। इसपर महायोगी माधवप्राज्ञ के शिष्य विश्वेश्वर पण्डित की 'प्रकाशिका' नाम की टीका है। रामानन्दयति की भी एक टीका है।

३९. योगतारावली। इसके अतिरिक्त भी और एक 'योगतारावली' है, जिसके रचयिता नन्दिकेश्वर हैं।

४०. लघुवाक्यवृत्ति। इसपर 'पुष्पांजलि' नाम की एक टीका है। इस टीकाकार के समय का निर्णय नहीं हो सका है, परन्तु उन्होंने विद्यारण्य का उल्लेख किया है, अतएव यह उनके परवर्त्ती होंगे।

४१. ज्ञानसंन्यास।

४२. बालबोधिनी।

४३. चिदानन्दात्मकस्तोत्र।

४४. महावाक्यमन्त्र।

४५. महावाक्यविवरण या महावाक्यदर्पण।

४६. महावाक्यविवेक।

४७. अष्टश्लोकी।

४८. द्वादशमहावाक्यविवरण।

४९. पंचीकरणप्रकरण। इसपर **गोपाल योगेन्द्र** के शिष्य **स्वयम्प्रकाश** ने 'विवरण' नाम की एक टीका लिखी है। स्वयम्प्रकाश ने **शिवराम**, **पूर्णानन्द** तथा **पुरुषोत्तम** नाम के आचार्यों को गुरु-रूप में अंगीकार किया है। शंकर के शिष्य सुरेश्वर ने इसपर एक वार्त्तिक की रचना की है। इस वार्त्तिक पर शिवरामतीर्थ की 'विवरण' नाम की टीका है। इस टीका पर 'आभरण' नाम की और भी एक टीका है।

५०. आत्मानात्मविवेक।

५१. प्रबोधसुधाकर।

५२. दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र। इस स्तोत्र पर सुरेश्वराचार्य का 'मानसोल्लास' नामक वार्त्तिक तथा **कैवल्यानन्द** के शिष्य **स्वयम्प्रकाशयति** की 'तत्त्वसुधा' नाम की एक टीका है।

५३. वाक्यसुधा। वास्तव में, यह ग्रन्थ शंकर का नहीं। यद्यपि इसके टीकाकार **मुनिदास भूपाल** ने यह स्वीकार किया है कि वाक्यसुधा के रचयिता शंकर हैं (तंजोर-कैटलग, पृ० ७३७४), तथापि यह उक्ति प्रामाणिक नहीं है। टीकाकार **ब्रह्मानन्द भारती** का कहना है कि **भारततीर्थ** तथा **विद्यारण्य**, दोनों ने मिलकर इस ग्रन्थ को लिखा है (द्रष्टव्य : तंजोर-कैटलग, पृ० ७३६८), परन्तु स्वयम्प्रकाश के प्रशिष्य एवं हयग्रीव के शिष्य **विश्वेश्वर मुनि** ने अपनी 'वाक्यसुधा' टीका में लिखा है कि वाक्यसुधा के रचयिता केवल विद्यारण्य ही हैं।

५४. परमहंससन्ध्योपासन।

५५. गायत्रीपद्धति। इसमें 'विश्वामित्रसंहिता' का उल्लेख है।

५६. अज्ञानबोधिनी (आत्मबोधटीका)। यह पुस्तक चतुर्थ संख्या की उक्त पुस्तक से भिन्न प्रतीत होती है।

५७. त्रिपुष्टिकरण। इसपर **आनन्दज्ञान** की टीका है।

५८. दशनामाभिधान। इसके किसी-किसी अंश का मठाम्नाय से यथेष्ट सम्बन्ध है, ऐसा लगता है।

५९. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह।

६०. केरलाचारसंग्रह। (केरलदेश में यह 'शंकरस्मृति' के नाम से प्रचलित है।)

६१. सामवेदमन्त्रभाष्य।

६२. वज्रसूच्युपनिषत्सार।

६३. हरितत्त्वमुक्तावली।

६४. जीवब्रह्मैक्यस्तोत्र।

६५. मायापंचक।

६६. ज्ञानगंगाशतक।

६७. शतश्लोकी (या वेदान्तकेशरी)।

६८. संन्यासपद्धति ।
६९. सर्वसिद्धान्तसंग्रह ।
७०. नवरत्नमाला ।
७१. सर्वप्रत्ययमाला ।
७२. मन्त्राणंवस्तुति ।
७३. मन्त्रमातृकापुष्पमाला ।
७४. अवधूतषट्क ।
७५. ज्ञानगीता ।
७६. सिद्धान्तपंजर ।
७७. आत्मज्ञानोपदेशविधि । इसपर **आनन्दगिरि** की टीका है ।
७८. विवेवचूडामणि ।
७९. सौन्दर्यलहरी ।
८०. आनन्दलहरी ।
८१. प्रपंचसार ।

ऐसी प्रसिद्धि है कि शंकराचार्य ने अनेक स्तोत्रग्रन्थों की रचना की है । परमार्थतः, अद्वैतवादी होते हुए भी वह व्यवहार-भूमि में देवताओं की उपासना तथा सार्थकता को दृढतापूर्वक अंगीकार करते थे और लोकशिक्षा के लिए स्वयं भी वैसा आचरण करते थे । उनके हृदय में साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावना को कोई स्थान ही नहीं था । इसलिए, शिव, विष्णु, शक्ति आदि अनेक देवताओं तथा उनके विभिन्न रूपों के अनेक स्तोत्र उनकी रचनावली में दृष्टिगत होते हैं । अवश्य, इनमें से बहुतेरे स्तोत्र सम्भवतः बाद के शंकरों के रचे हैं, पर ये आदिशंकर पर ही अरोपित हैं । जो लोग इस विषय में विशेष रूप से अनुसन्धान करेंगे, वे प्रत्येक स्तोत्र की प्रामाणिकता का विचार करके कालनिर्णय एवं उनके रचयिता के निर्धारण का प्रयत्न कर सकेंगे । यहाँ उन स्तोत्रों का उल्लेख केवल इसलिए किया गया है कि शंकर के नाम के साथ वे जुड़े हैं । इनमें दो-एक स्तोत्रों के नाम पहली सूची में आ गये हैं, इसलिए यहाँ उनकी पुनरुक्ति नहीं की जा रही है ।

१. शिवस्तोत्र

१. शिवभुजंगप्रयातस्तोत्र ।
२. शिवाष्टक ।
३. द्वादशज्योतिर्लिंगस्तोत्र ।
४. दक्षिणामूर्त्यष्टक (?)
५. शिवपंचाक्षरस्तोत्र ।
६. मृत्युंजयमानसपूजा ।
७. कालभैरवाष्टक ।
८. शिवपादादिकेशान्तस्तोत्र ।
९. शिवकेशादिपादान्तस्तोत्र ।
१०. दक्षिणामूर्त्तिवर्णमाला ।
११. वेदसारशिवस्तोत्र ।
१२. शिवज्ञानदकारिका ।

२. शक्तिस्तोत्र

१. अम्बाष्टक ।
२. त्रिपुरसुन्दर्यष्टक ।
३. ललितापंचरत्न ।
४. राजराजेश्वरीस्तोत्र ।
५. मीनाक्षीस्तोत्र ।
६. मीनाक्षीपंचरत्न ।
७. बालापंचरत्न ।
८. त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजा ।
९. त्रिपुरसुन्दरीवेदपाद ।
१०. अन्नपूर्णास्तोत्र ।
११. मातंगीस्तोत्र ।
१२. देवीभुजंगप्रयात ।
१३. देवीपंचरत्न ।
१४. देवीस्तुति ।
१५. गौरीदशक ।
१६. भवान्यष्टक ।
१७. भवानीभुजंगप्रयात ।
१८. दुर्गापराधभंजनस्तोत्र ।
१९. तारापञ्झटिका ।
२०. गिरिजादशक ।
२१. कालिकास्तोत्र ।
२२. काल्यपराधभंजनस्तोत्र ।
२३. देवीचतुःषष्ट्युपचारपूजास्तोत्र ।
२४. शारदाभुजंगप्रयात ।
२५. कामाक्षीस्तोत्र ।
२६. श्यामामानसार्चन ।
२७. भ्रमराम्बाष्टक ।

३. विष्णुस्तोत्र

१. कृष्णाष्टक (दो प्रकार का)
२. बालकृष्णाष्टक ।
३. कृष्णदिव्यस्तोत्र ।
४. अच्युताष्टक ।
५. चक्रपाणिस्तोत्र ।
६. विष्णुषट्पदी ।
७. नारायणस्तोत्र ।
८. गोविन्दाष्टक ।
९. आर्त्तत्राणनारायणाष्टक ।
१०. विष्णुपादादिकेशान्तस्तोत्र ।
११. हरिमीडेस्तोत्र ।
१२. जगन्नाथाष्टक ।
१३. जगन्नाथस्तोत्र ।
१४. भगवन्मानसपूजा ।
१५. पाण्डुरंगाष्टक ।
१६. मुकुन्दचतुर्दश ।
१७. हरिनामावलीस्तोत्र ।
१८. संकटहरणस्तोत्र ।
१९. रामाष्टक ।
२०. राघवाष्टक ।
२१. रामभुजंगप्रयात ।
२२. रामतत्त्वरत्न ।
२३. विष्णुकेशादिपादान्तस्तोत्र ।

४. गणेशस्तोत्र

१. गणेशभुजंगप्रयात ।
२. वरदगणेशस्तोत्र ।
३. गणेशाष्टक ।
४. गणेशपंचरत्न ।

५. युगलदेवतास्तोत्र

१. अर्द्धनारीश्वरस्तोत्र ।
२. श्रीउमामहेश्वरस्तोत्र ।
३. लक्ष्मीनृसिंहपंचरत्न ।
४. हरिहरस्तोत्र ।
५. हरगौर्यष्टक ।
६. संकटनाशनलक्ष्मीनृसिंहस्तोत्र ।

६. नदीतीर्थ-विषयक स्तोत्र

१. गंगाष्टक ।
२. गंगास्तोत्र ।
३. यमुनाष्टक (दो प्रकार का) ।
४. नर्मदाष्टक ।
५. काशीस्तोत्र ।
६. काशीपंचक ।
७. पुष्कराष्टक ।
८. त्रिवेणीस्तोत्र ।
९. मणिकर्णिकास्तोत्र ।

७. साधारण स्तोत्र

१. सुब्रह्मण्यभुजंगप्रयात ।
२. दत्तभुजंगप्रयात ।
३. दत्तमहिम्नःस्तोत्र ।
४. कनकधारास्तोत्र ।
५. कल्याणवृष्टिस्तोत्र ।
६. सुवर्णमालास्तोत्र ।
७. महापुरुषस्तोत्र ।
८. ब्रह्मानन्दस्तोत्र ।
९. हनुमत्पंचक ।
१०. अंजनिस्तोत्र ।

श्रीशंकराचार्य के शिष्य :

शंकराचार्य जैसे अलौकिक बुद्धिसम्पन्न थे, उनके शिष्यों में सुरेश्वराचार्य और पद्मपादाचार्य किन्हीं अंशों में वैसे ही बुद्धिसम्पन्न थे। हस्तामलक एवं त्रोटकाचार्य के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य विषय जानने का कोई उपाय नहीं।

सुरेश्वराचार्य :

सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि', 'तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक', 'बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक', 'दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्त्तिक' अथवा 'मानसोल्लास', 'पंचीकरणवार्त्तिक', 'काशीमृतिमोक्षविचार' आदि ग्रन्थों की रचना की। वेदान्तशास्त्र के इतिहास में 'वार्त्तिककार' पद के द्वारा केवल सुरेश्वराचार्य का ही निर्देश किया जाता है। सुरेश्वर केवल वेदान्तज्ञ ही नहीं थे, बल्कि धर्मशास्त्र में भी उनके पाण्डित्य का अगाध प्रवेश था। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर 'बालक्रीडा' टीका, जो विश्वरूपाचार्य की कृति के रूप में प्रसिद्ध है, सुरेश्वराचार्य की ही कृति है, यही पुरातात्त्विकों का मत है। उक्त मत से विश्वरूप सुरेश्वराचार्य का ही नामान्तर है।[१] 'बालक्रीडा' टीका के अतिरिक्त

---

१. पण्डितवर P.V. Kane ने 'History of Dharmashastra' ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों से विश्वरूप और सुरेश्वर के एक ही व्यक्ति होने का प्रतिपादन किया है। माधवाचार्य ने 'पराशरस्मृति' की टीका में सुरेश्वर के 'बृहदारण्यकवार्त्तिक' से एक उक्ति इस प्रकार उद्धृत की है :

"वार्त्तिके विश्वरूपाचार्य उदाजहार :
'आम्रे फलार्थे' इत्यादि ह्यापस्तम्बस्मृतेर्वचः।
फलमात्रत्वं समाचष्टे नित्यानामपि कर्मणाम् ॥"

धर्मशास्त्र में उनके और भी दो ग्रन्थों का पता चलता है, जिनमें एक है, 'श्राद्धकलिका', जिसमें श्राद्ध आदि का विशेष रूप से वर्णन है। दूसरी एक गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसमें आचार आदि का विशेष रूप से प्रतिपादन हुआ है। श्रीरघुनन्दन भट्टाचार्य के 'उद्वाहतत्त्व' में जिस 'विश्वरूपसमुच्चय' नाम के एक संग्रह-ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, सम्भवतः वही वह रचना है।

वेदान्तशास्त्र के इतिहास में प्रसिद्धि है कि सुरेश्वराचार्य का गृहस्थाश्रम का नाम मण्डनमिश्र था। यह भी प्रसिद्ध है कि सुरेश्वर पहले कुमारिल के शिष्य और कर्मवादी मीमांसक थे। श्रीशंकराचार्य के संस्पर्श में आकर और तत्कर्त्तृक विचार में उनसे पराजित होकर उन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। संन्यास-आश्रम में उनका नाम हुआ सुरेश्वर। इस मत के अनुसार, मण्डन-रचित सभी ग्रन्थ सुरेश्वर द्वारा संसार-आश्रम में रचित माने जाते हैं। मण्डनमिश्र एवं सुरेश्वर का यह अभेदवाद 'शंकर-दिग्विजय' के आधार पर प्रतिष्ठित है। इसीलिए, अबतक पण्डित-समाज में यह मत प्रामाणिक माना जाता था। परन्तु, आधुनिक पण्डितों ने विशेष पर्यालोचना द्वारा यह प्रमाणित किया है कि सुरेश्वर और मण्डनमिश्र एक व्यक्ति नहीं हैं। अतएव, दोनों के अभेद होने का मत सर्वथा निराधार है।

मण्डन ने 'ब्रह्मसिद्धि'[1] नाम के एक अत्यन्त ही उत्कृष्ट वेदान्त-ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ यद्यपि अद्वैत-सिद्धान्त का ही प्रतिपादक है, तथापि यह अद्वैतवाद नैष्कर्म्यसिद्धि एवं उपनिषद्-भाष्यवार्त्तिकों में सुरेश्वराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद से सर्वथा भिन्न है। माध्व-सम्प्रदाय के 'मणिमंजरी' नामक ग्रन्थ से भी मण्डन और सुरेश्वर दो भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। मण्डन सुरेश्वर से प्राचीन थे, इसमें कोई

'विवरणप्रमेयसंग्रह' में भी 'बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक' का एक वचन उद्धृत हुआ है। ब्रह्मानन्द भारती ने अपने 'पुरुषार्थप्रबोध' नामक ग्रन्थ में सुरेश्वर-रचित' नैष्कर्म्यसिद्धि' को विश्वरूपाचार्य की रचना होने का निर्देश किया है :

"इत्येवं नैष्कर्म्यसिद्धौ ब्रह्मांशैर्ब्रह्मवित्तमैः।
श्रीमद्भिर्विश्वरूपाख्यैराचार्यैः करुणार्णवैः॥" आदि।

रामतीर्थ के 'मानसोल्लास', 'वृत्तान्तविलास' तथा 'गुरुवंशकाव्य' में भी ऐसा ही प्रतीत होता है।

१. ब्रह्मसिद्धि पर वाचस्पतिमिश्र ने 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' नाम की एक टीका लिखी है। परन्तु, यह टीका आजतक प्राप्त नहीं हुई। भामती में इसका उल्लेख है। मण्डनमिश्र का अद्वैतवाद भर्तृहरि के अद्वैतवाद के अनुरूप है। यह एक प्रकार से शब्दब्रह्माद्वयवाद का भिन्न रूप है। मण्डन स्फोटवादी थे और स्फोट को सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'स्फोटसिद्धि' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। परन्तु, शंकराचार्य ने 'शारीरकभाष्य' में स्फोट का विशेष रूप से खण्डन किया है।

सन्देह नहीं। परन्तु, यह निर्णय करना कठिन है कि वह शंकर के समसामयिक थे या उनसे भी पुराने। प्रसिद्धि तो ऐसी है कि मण्डन कुमारिल के शिष्य थे।[1] किन्तु, सुरेश्वर साक्षात् अथवा परम्परा-रूप में कुमारिल के शिष्य थे। 'श्लोकवार्त्तिक' के **'मोक्षार्थी न प्रवर्त्तते'** आदि कारिका (सम्बन्धाक्षेप-परिहार, १०) उद्धृत करके उन्होंने कुमारिल को 'मीमांसकम्मन्य' कहा है। शिष्य द्वारा गुरु के लिए ऐसी आक्षेपोक्ति, सम्भव नहीं। 'विधिविवेक', 'भावनाविवेक', 'विभ्रमविवेक', 'मीमांसानुक्रमणी' तथा 'स्फोटसिद्धि'—ये सभी ग्रन्थ मण्डनमिश्र के हैं। इनमें 'विधिविवेक' पर वाचस्पति मिश्र[2] ने 'न्यायकणिका' नाम की टीका लिखी है। 'भावनाविवेक' पर **उम्बेकाचार्य** की टीका मिलती है, वह प्रकाशित हुई है। 'स्फोटसिद्धि' पर 'गोपालिका' टीका भी प्रकाशित हुई है।[3] मीमांसानुक्रमणिका पर महामहोपाध्याय गंगानाथ झा की नई टीका प्रकाशित हुई है।

---

१. आनन्दगिरि के मतानुसार, मण्डनमिश्र कुमारिल के बहनोई थे। लेकिन, यह विश्वास-योग्य नहीं लगता। वास्तव में, यह भी विश्वास-योग्य नहीं लगता कि मण्डनमिश्र कुमारिल के शिष्य थे। क्योंकि, वास्तव में, यदि ऐसा होता, तो 'श्लोकवार्त्तिक' के टीकाकार उम्बेकाचार्य ने, जो स्वयं कुमारिल के शिष्य थे, अपने सहयोगी मण्डनमिश्र के ग्रन्थ 'भावनाविवेक' पर टीका नहीं लिखी होती। 'भावनाविवेक' में कुमारिल के मत का खण्डन भी किया गया है। कुमारिल ने 'स्फोटवार्त्तिक' में जिस स्फोटवाद का खण्डन किया है, मण्डन ने अपनी स्फोटसिद्धि में उसी का विशेष रूप से समर्थन किया है।

२. वाचस्पतिमिश्र ने मण्डन के एक मीमांसाग्रन्थ तथा दूसरे एक वेदान्तग्रन्थ पर टीका लिखी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वाचस्पतिमिश्र, मण्डनमिश्र के भक्त थे। कतिपय पण्डितों का यह कहना है कि वाचस्पतिमिश्र ने 'भामती' में अनेक स्थलों पर मण्डनमिश्र के सिद्धान्त का अनुसरण करके व्याख्या की है। उनकी व्याख्या सर्वत्र ठीक-ठीक शंकर के मत के अनुकूल भी नहीं। शंकरवेदान्त का 'भामतीप्रस्थान' किस-किस स्थल पर मण्डनमिश्र के मत की अनुकूलता से रचित है, उसकी आलोचना का अवसर यहाँ नहीं है। किन्तु, प्रतिद्वन्द्वी विवरण-प्रस्थान की सत्ता से प्रतीत होता है कि पद्मपादाचार्य की धारा अथवा वार्तिक की सरणि से भिन्न रास्ते पर चलने का कोई उपयुक्त कारण होना चाहिए। मण्डन के सिद्धान्त के प्रति विशेष अनुराग ही इसका कारण प्रतीत होता है।

३. उम्बेकाचार्य की टीका-सहित 'भावनाविवेक' वाराणसी संस्कृत-कॉलेज, सरस्वतीभवन-संस्कृत-ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो गया है। प्रसिद्धि है कि उम्बेक कुमारिल के शिष्य थे। उन्होंने श्लोकवार्त्तिक पर एक टीका

सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में तीन प्रकार के समुच्चयवाद का उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। इनमें पहला मत ब्रह्मदत्त का है। 'नैष्कर्म्यसिद्धि' की 'विद्यासुरभि' टीका (१।६७) में यह बात कही गई। आनन्दज्ञान ने 'सम्बन्धवार्त्तिक' (७९७) में इसका समर्थन किया है। दूसरा मत मण्डनमिश्र का है। सुरेश्वर ने वार्त्तिक (४।४।७८६–८१०) में इस मत का खण्डन किया है। आनन्दज्ञान की टीका से ज्ञात होता है कि यह मत मण्डन का है और तीसरा मत है भर्तृप्रपंच का।

लिखी है, उसका उल्लेख 'शास्त्रदीपिका' के रामकृष्ण-कृत 'युक्तिस्नेह-प्रपूरणी' व्याख्या में है। शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' में 'श्लोकवार्त्तिक' के टीकाकार के रूप में जिस उम्बेक का उल्लेख किया है, वास्तव में वही यह उम्बेकाचार्य हैं। उनका नाम विभिन्न ग्रन्थों में कहीं उवेक, उवेयक, उम्बेक आदि तरह-तरह से उल्लिखित है। कमलशील ने भी अपनी पंजिका में उम्बेक का वचन उद्धृत किया है। पूरे 'श्लोकवार्त्तिक' की टीका उम्बेक ने अकेले ही रची या जयमिश्र की सहायता से, इसका निर्णय कठिन है। परन्तु, अधिकांश स्थल में वह उम्बेक के ही नाम से प्रचलित है। चित्सुखाचार्य-कृत 'तत्त्वप्रदीपिका' की 'नयनप्रसादिनी' टीका (पृ० २६५) में टीकाकार प्रत्यक्स्वरूपाचार्य ने, उम्बेक भवभूति का नामान्तर है, ऐसा निर्देश किया है। भवभूति कुमारिल के शिष्य थे, ऐसा भी किन्हीं-किन्हीं का मत है। 'मालती-माधव' की एक हस्तलिखित प्रति से ज्ञात होता है कि यह नाटक कुमारिल-शिष्य उम्बेकाचार्य द्वारा रचित है: "इति श्रीकुमारिलस्वामिप्रसादप्राप्त-वाग्वैभव—श्रीमदुम्बेकाचार्यविरचितमालतीमाधवे षष्ठोऽयमङ्कः।" (द्रष्टव्य: 'Introduction to Gaudavaho', note No. 4, Page 206)। उम्बेक-कृत 'श्लोकवार्त्तिक' की टीका के प्रारम्भ में 'मालतीमाधव' का 'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्' यह श्लोक मिलता है। V. P. Ramaswami Shastri ने अपने सम्पादित 'तत्त्वबिन्दु' की भूमिका में उम्बेक और भवभूति के एक होने पर सन्देह किया है। वह कहते हैं, भवभूति ने अपने नाटक में ज्ञान-निधि को अपना गुरु कहा है। वह कुमारिल का ही नामान्तर है, इसका कोई प्रमाण नहीं। पक्षान्तर में, उम्बेक भी वास्तव में कुमारिल के शिष्य थे या नहीं, यह भी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्होंने 'श्लोक-वार्त्तिक' की टीका में वार्त्तिक एवं भाष्य—दोनों का ही दोष दिखाया है और प्राचीन आर्यवचन की प्रतिध्वनि के रूप में निर्देश किया है: 'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥' इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कुमारिल उनके गुरु थे। इससे यही प्रमाणित होता है कि वह (कुमारिल) उम्बेक के गुरुस्थानीय थे। फिर भी, उनके मत में दोष देखकर उन्होंने निःसंकोच उनका खण्डन किया है।

ब्रह्मदत्त कहते हैं कि अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान से होता है, वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान से नहीं। वेदान्तवाक्य सुनने से 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके बाद दीर्घकाल तक उपासना करनी होती है। इस प्रकार, भावना के उत्कर्ष द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का आविर्भाव होता है, जिससे अज्ञान सम्पूर्णतया दूर होता है। ब्रह्मदत्त का वक्तव्य यह है कि इसीलिए ज्ञानाभ्यास के समय कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय असंगत नहीं। 'देवो भूत्वा देवानप्येति' यह श्रुति ही इसका प्रमाण है। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसी भावना की पुष्टता से देवभाव का साक्षात्कार होता है, उसके बाद देहपात के अनन्तर उपास्य देवभाव की प्राप्ति होती है। ब्रह्मदत्त के अनुसार, कर्मकाण्ड की भाँति उपनिषद् भी विधिप्रधान है, परन्तु यह विधि कर्मविधि नहीं, उपासनाविधि है। उपासना का नामान्तर है भावना अथवा प्रसंख्यान। 'आत्मेत्युपासीत' इत्याकारक उपासनाविधि ही उपनिषद्-वाक्य का तात्पर्य है। 'तत्त्वमसि' इत्याकारक वाक्य श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि इससे केवल उपासना का विषय निर्दिष्ट होता है। इसलिए, वेदान्तवाक्यजनित ज्ञान द्वारा मोक्ष सम्भव नहीं, किन्तु प्रसंख्यान की आवश्यकता होती है। जबतक, अविद्या की निवृत्ति या ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, तभी तक कर्म की आवश्यकता है, इसे ब्रह्मदत्त और शंकर दोनों ने ही माना है। परन्तु, शंकर ने कहा है, 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा होनेवाले ज्ञान से उत्तम अधिकारी पुरुष अविलम्ब ही ब्रह्मसाक्षात्कार में सक्षम होते हैं। किन्तु, ब्रह्मदत्त के अनुसार, इस ज्ञान के बाद उपासना अथवा ध्यान की आवश्यकता है। अतएव, उपनिषद्-ज्ञान एवं मुक्ति की प्राप्ति में वैदिक कर्म के अनुष्ठान की आवश्यकता है। इसीलिए, वह ज्ञान के साथ कर्म के समुच्चय का समर्थन करते हैं।

मण्डन के मत से भी, क्रिया अथवा उपासना में भी उपनिषद्-वाक्यों का तात्पर्य विद्यमान है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य विधिवाक्य के अधीन हैं। इनका भी वक्तव्य यही है कि श्रावण ज्ञान के अनन्तर उपासना या ध्यान आवश्यक है; क्योंकि वेदान्तवाक्य से 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह संसर्गात्मक है। अतएव, उससे आत्मा के स्वरूप का ठीक-ठीक बोध नहीं होता। उसके निरन्तर अभ्यास से एक पृथक् ज्ञान की उत्पत्ति होती है, जो वाक्यार्थ-रूप नहीं है, उसी से अज्ञान की निवृत्ति होती है। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' यही श्रुति यहाँ प्रमाण है। इसका अभिप्राय यह कि विज्ञान के अनन्तर, अर्थात् संसृष्ट रूप ब्रह्म को जानकर प्रज्ञा का साधन करना उचित है, अर्थात् साक्षात्कारात्मक अथवा असंसर्गात्मक ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इसीलिए, समुच्चय की आवश्यकता होती है। मण्डन के मत से लौकिक अथवा वैदिक—सभी प्रकार के वाक्यों की सहायता से ही संसर्गात्मक वाक्यार्थ का बोध होता है। इसीलिए, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक संसर्गात्मक ज्ञान पहले उत्पन्न होता है। उसके बाद प्रत्यगात्मविषयक 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक अवाक्यार्थ-रूप ज्ञान जबतक आविर्भूत नहीं होता, तबतक निदिध्यासन का अभ्यास करना

चाहिए। इस ज्ञान की सहायता से कैवल्य का आविर्भाव होता है। मण्डन का वक्तव्य यह है कि जब संसर्गबुद्धि को उत्पन्न करना ही शब्द का स्वभाव है, तब उससे अवाक्यार्थ-प्रतिपत्ति की आशा कैसे सम्भव है? इसीलिए, शब्दज्ञान के अभ्यास की अपेक्षा रहती है। इससे जिस तीसरे ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उससे अवाक्यार्थ-प्रतिपत्ति हो सकती है।

भर्तृप्रपंच के मत से भी समुच्चय की आवश्यकता है। वह भेदाभेदवादी या अनेकान्तवादी थे। उनके मतानुसार भेद और अभेद दोनों ही सत्य हैं। भेद की सत्यता के लिए कर्म का सदा ही प्रयोजन है तथा अभेद सत्य होने के कारण उसकी उपलब्धि के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। मुक्त एवं मुमुक्षु सबके लिए ही ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की आवश्यकता है। अभेद को अंगीकार किये विना 'अहं ब्रह्मास्मि', यह ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। इसीलिए, उनके मत से ब्रह्म भिन्नाभिन्नात्मक हैं।

सुरेश्वर ने तीनों ही मतों का खण्डन करके शंकर के मत को प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने दिखाया है कि प्रसंख्यान, उपासना अथवा ध्यान की आवश्यकता को शंकर भी स्वीकार करते हैं, किन्तु. शंकर का कहना है कि एकमात्र उपनिषद्-वाक्य की सहायता से ही साक्षात् रूप से ब्रह्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। उसके लिए ध्यान की आवश्यकता नहीं है। वाक्य के द्वारा क्या संसृष्ट का ज्ञान होता है या असंसृष्ट का? परोक्ष ज्ञान होता है या अपरोक्ष ज्ञान? इसका निर्णय प्रमेय के अधीन है। असंसृष्ट ब्रह्म वास्तव में प्रत्यगात्मा से अभिन्न है, इसलिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं। अतएव, वेदान्त-ज्ञान के लिए प्रसंख्यान की सहायता अपेक्षित नहीं। परन्तु, निम्न अधिकारी के लिए प्रसंख्यान के द्वारा अधिकार-रूप बल की वृद्धि होती है, जिससे महावाक्य के यथार्थ अर्थ की उपलब्धि का सामर्थ्य आता है। प्रसंख्यान से प्रतिबन्धक की निवृत्ति होती है। प्रतिबन्धक के नहीं होने से इन्द्रिय अथवा शब्दात्मक प्रमाण निरपेक्ष होकर ही प्रमेय को प्रकाशित करता है। यह शक्ति जिसमें नहीं है, वह वास्तव में प्रमाण ही नहीं। अतएव, प्रसंख्यान अथवा निदिध्यासन आत्मज्ञान का परवर्त्ती नहीं, बल्कि पूर्ववर्त्ती है।

ऊपर की संक्षिप्त आलोचना से यही प्रतीत होता है कि सुरेश्वर और मण्डन एक व्यक्ति नहीं हैं और इनके सिद्धान्त भी परस्परविरोधी हैं। आनुषंगिक रूप में, मण्डन की दृष्टि से शंकर-सम्प्रदाय के दृष्टिकोण का पार्थक्य इससे अवगत हो सकेगा।

मठाम्नाय के मतानुसार, सुरेश्वराचार्य द्वारकामठ के प्रथम मठाध्यक्ष थे, परन्तु इस विषय में बहुत मतभेद है।

पद्मपादाचार्य :

पद्मपादाचार्य का वास्तविक नाम सनन्दन था। उन्होंने शारीरकभाष्य के प्रथम अंश की 'पंचपादिका' नाम की प्रसिद्ध व्याख्या की रचना करके उसका प्रचार किया। प्रकाशात्मयति ने 'पंचपादिकाविवरण' नाम की उसकी व्याख्या लिखी।

पंचपादिकाविवरण' पर **माधवाचार्य** का 'विवरणप्रमेयसंग्रह' तथा **अखण्डानन्द** का 'तत्त्वदीपन' प्रसिद्ध व्याख्यान-ग्रन्थ है। 'पंचपादिका' ही वेदान्त के विवरण-प्रस्थान का मूल आधार है। मठाम्नाय के मतानुसार, पद्मपादाचार्य पुरी के गोवर्धन-मठ के प्रथम अधिष्ठाता हैं।[१]

त्रोटकाचार्य :

त्रोटकाचार्य अथवा तोटकाचार्य का प्रसिद्ध नाम था **आनन्दगिरि**।[२] किन्तु, यह कहाँतक विश्वास-योग्य है, कहा नहीं जा सकता। फिर भी, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आनन्दगिरि त्रोटकाचार्य से बहुत परवर्त्ती हैं। त्रोटक ने किस-किस ग्रन्थ की रचना की, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। लगता है, उन्होंने किसी बड़े ग्रन्थ की रचना नहीं की।[३]

हस्तामलकाचार्य :

हस्तामलक का दूसरा नाम है **पृथ्वीधराचार्य**। हस्तामलक के नाम से युक्त द्वादशश्लोकात्मक 'हस्तामलकस्तोत्र' एक प्रसिद्ध स्तोत्र है। आचार्य शंकर ने उसपर भाष्य की भी रचना की है।[४] परन्तु, उसकी प्रामाणिकता के बारे में निस्सन्देह नहीं हुआ

---

१. पद्मपादाचार्य काश्यपगोत्रीय ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। मठाम्नाय में लिखा है :

> गोवर्द्धनमठे रम्ये विमलापीठसंज्ञके।
> पूर्वाम्नाये भोगवारे श्रीमत्काश्यपगोत्रजः॥
> माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
> प्रकाशब्रह्मचारी च ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्॥
> श्रीपद्मपादः प्रथमाचार्यत्वेनाभ्यषिच्यत॥

श्रीपद्मपादाचार्य ने 'विज्ञानदीपिका' नामक और भी एक ग्रन्थ की रचना की है, ऐसा कतिपय पण्डितों का मत है। यह ग्रन्थ नेपाल-राज्य के ग्रन्थागार में सुरक्षित है। इसमें विशेष रूप से कर्मसम्बन्धी विचार और कर्मनिवृत्ति का उपाय आलोचित हुआ है। इस ग्रन्थ के आधार पर डॉ० उमेशमिश्र ने 'The Annihilation of Karman' नाम की एक पुस्तक लिखी है। यह सातवें वर्ष के Oriental Conference में पढ़ा गया था। (द्रष्टव्य : proceedings of Seventh Oriental Conference, PP. 457–480)

२. मठाम्नाय में लिखा है : 'तोटकं चानन्दगिरिं प्रणमामि जगद्गुरुम्।'

३. Aufrecht के 'Catalogus Catalogorum' में तोटक के नाम का तथा उसके साथ उनके कालनिर्णय, तोटकव्याख्या, तोटकश्लोक, श्रुतिसारसमुद्धरण आदि का उल्लेख मिलता है।

४. जीवानन्द विद्यासागर ने सन् १८७५ ई० में 'सुबोधिनी' टीका-सहित 'वेदान्तसार' के परिशिष्ट-रूप (पृ० ४९–६०) में इसे प्रकाशित किया है।

जा सकता। ऐसा भी हो सकता है कि स्तोत्र शंकर-रचित और भाष्य हस्तामलक का हो या दोनों ही शंकर-रचित हों।[1]

इसपर 'वेदान्तसिद्धान्तदीपिका' नाम की एक प्रसिद्ध टीका है। (द्रष्टव्य : Cat. Cat. vol. I, P. 765)। मठाम्नाय के अनुसार, हस्तामलक श्रृंगेरीमठ के प्रथम मठाधीश थे। परन्तु, यह मत सर्वमान्य नहीं है।

श्रीशंकराचार्य का मतस्थापन और धर्मप्रचार :

प्राचीन काल से ही यह प्रसिद्धि है कि बौद्ध आदि अवैदिक धर्मप्रचार एवं तदनुयायी दर्शनशास्त्र की प्रबलता से जिस समय भारतीय वर्णाश्रम-धर्म में विप्लव उपस्थित हुआ था, उस समय कुमारिल, मण्डनमिश्र, श्रीशंकराचार्य आदि महापुरुषों ने विरोधी मतों का खण्डन करके फिर से वैदिक मत की प्रतिष्ठा की। कतिपय पण्डितों का कहना है कि इन्हीं लोगों के पराक्रम से बौद्धधर्म भारत से निर्वासित होकर लुप्त-प्राय हो पड़ा है।[2]

---

१. यह भी असम्भव नहीं कि इस स्तोत्र के हस्तामलक से शंकर के शिष्य हस्तामलक का कोई सम्पर्क न हो।

२. बौद्धधर्म भारत से विताड़ित नहीं हुआ है, बल्कि रूप बदलकर यहीं विद्यमान है। यवनों के अत्याचार से त्रस्त बौद्ध भिक्षु विहारों से सब शास्त्रग्रन्थों को लेकर तिब्बत, नेपाल आदि देशों में चले गये—यह और बात है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, प्राच्यविद्यामहार्णव नगेन्द्रनाथ बसु आदि पण्डितों ने इस विषय पर प्रचुर चर्चा की है (द्रष्टव्य : H.P. Shastri : 'Discovery of Living Buddhism in Bengal'; N. Basu : 'Modern Buddhism in Orissa')। किन्तु, कुमारिल, शंकर, उदयन आदि आचार्यों के ग्रन्थनिर्माण के कारण बौद्ध पण्डित-समाज बहुत कुछ दुर्बल हो पड़ा। बौद्धधर्म की अवनति के वास्तविक कारण ये हैं :

१. बौद्धसंघ का संघटन और व्यवस्थापन विकृत हो गया था।

२. विभिन्न समयों में बहुतेरे अयोग्य लोग बौद्धधर्म में प्रवेश कर गये। इन्हें न तो बुद्ध के प्रति श्रद्धा थी और न ही धर्म के प्रति आस्था। बहुतों ने केवल वृत्ति के लिए या रोगमुक्त होने के लिए या कठिन कर्त्तव्य के भार से छुटकारा पाने के लिए बौद्धधर्म की शरण ली। ऐसे नकली बाना धारण करनेवाले लोगों के संसर्ग से बौद्ध विहारों का नैतिक आदर्श नष्ट हो गया था। नैतिक बल के ह्रास से जनता पर उसका प्रभाव स्वभावतः ही घट गया था।

३. कालक्रम से योग्य व्यक्तियों के अभाव में बौद्धधर्म का आध्यात्मिक आदर्श एवं महत्त्व लोग भूल गये थे। क्रम से विभिन्न संघ परस्पर सम्बन्ध-विहीन होकर विश्लिष्ट हो गये थे। उपर्युक्त अनुष्ठान के अभाव में बुद्ध के

यह मत सम्पूर्णतया सत्य नहीं होने पर भी, इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य शंकर के प्रभाव और प्रयत्न से ही वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई थी। सारा देश उनके ब्रह्मचर्य, विद्या, धी, प्रतिभा एवं तपस्या को नतमस्तक होकर मानने को बाध्य हुआ था।

उपदेशों के तात्पर्य पर भी लोगों के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ था; क्योंकि उन उपदेशों के पालन करनेवालों की संख्या नितान्त कम हो गई थी।

४. विदेशी राजा यद्यपि बौद्धधर्म को प्रोत्साहन देते थे, तथापि वे स्वयं उसपर पूर्ण विश्वास नहीं जमा सके; क्योंकि बौद्धधर्म ग्रहण करने पर भी वे सभी राजा अपने पहले के धर्म के पालन में यत्नवान् रहते थे। इससे भी बौद्धधर्म की क्षति हो रही थी। जैसे, ग्रीक Menander (मिलिन्द), कुषाणराजा कनिष्क आदि के उद्यम से यद्यपि भारतीय यवन एवं कुषाण बौद्धधर्म ग्रहण करते थे, तथापि अपना ग्रीक स्वभाव छोड़ नहीं सकते थे। क्रमशः इस प्रकृति के प्राबल्य से बौद्ध समाज पर भी कुछ-कुछ विदेशी प्रभाव पड़ रहा था। यद्यपि कनिष्क बौद्ध थे, तथापि उसके साथ-साथ वह ईरानी धर्म का भी पालन करते थे। वह ग्रीक, भारतीय एवं बौद्ध देवताओं पर समान श्रद्धा रखते थे।

५. बौद्धधर्म में ईश्वर का अभाव था। ईश्वर की सत्ता नहीं मानने के कारण जनता में उसके प्रति आकर्षण धीरे-धीरे कम हो गया था।

६. तान्त्रिक उपासना के छल से तान्त्रिक बौद्ध इतना अनाचार करते थे, और ऐसे दुर्नीतिपरायण हो उठे थे कि जनसमाज में उनकी बहुत बदनामी हो गई थी। यद्यपि ये अनाचार व्यक्तिगत दोष में ही गिने जाते थे, तथापि जनसाधारण उसके लिए बौद्धधर्म को ही जिम्मेदार मानते थे। बौद्धधर्म के प्रति समाज की श्रद्धा के शिथिल होने का यह भी एक कारण है।

इन सब भीतरी कारणों से धर्म का मूल पूर्णतया शिथिल पड़ गया था। दूसरी ओर शंकर एवं कुमारिल जैसे महापुरुषों के पवित्र जीवन एवं उनके उन्नत आध्यात्मिक उपदेशों की ओर लोगों का मन सहज ही विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। यदि बौद्धों का प्राचीन आदर्श नष्ट नहीं होता, तो धर्म-प्रचारकों का ग्रन्थनिर्माण अथवा उपदेश-प्रचार उनपर इतना प्रभाव-विस्तार नहीं कर सकता। यदि उनके भीतर दोष नहीं संचित होते, तो सैकड़ों वर्षों से बद्धमूल धर्म की, नये धर्म के उत्थान से, यह अवस्था न होती।

'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि ब्राह्मणों ने बौद्धों पर अत्याचार किया। राजा सुधन्वा के अत्याचार की बात प्रसिद्ध है। यह कहना कठिन है कि इसका कोई ऐतिहासिक आधार है या नहीं। यह सत्य या मिथ्या जो हो, कोई-कोई राजा अत्याचारी थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

वैष्णव, शैव, शाक्त, तान्त्रिक आदि सभी सम्प्रदाय यद्यपि सैकड़ों वर्षों से उनके अद्वैत सिद्धान्त का विरोध करते आ रहे हैं, तथापि यह निश्चित है कि उनका प्रताप और प्रभाव तनिक भी क्षुण्ण नहीं हुआ है। शंकराचार्य जिस समय आविर्भूत हुए थे, उस समय की देश की अवस्था से परिचित हुए विना उनके कार्य एवं महत्त्व की उपलब्धि नहीं की जा सकती।

शंकराचार्य ने शास्त्रीय विचार से विभिन्न मत के सभी विपक्षियों को पराभूत किया था। जो सब पुण्यक्षेत्र उस समय विधर्मियों के अधीन थे, उन्होंने यथासम्भव उनका उद्धार किया था। आचार्य शंकर ने स्वयं ग्रन्थों की रचना करके, शिष्यों से ग्रन्थ आदि की रचना कराके तथा शास्त्रसिद्धान्त की यथार्थ व्याख्या करके वैदिक धर्म एवं उपनिषद् के निगूढ रहस्यों की उपलब्धि का पथ परिष्कृत किया। उन्होंने ऐसे उपाय का सहारा लिया, जिससे समग्र देशवासी उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म ग्रहण करने में सक्षम हुए। श्रीविद्यार्णव के मत को स्वीकार करने से मानना पड़ता है कि उन्होंने जैसे एक ओर गृहत्यागी संन्यासियों को शुद्ध ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया था, वैसे ही दूसरी ओर गृहस्थों के लिए उपासना-मार्ग का भी प्रचार किया था। प्राचीन समय में बौद्ध समाज में भी प्रायः ऐसी ही व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त, बौद्धों की तरह उन्होंने भी संन्यासियों को संघबद्ध करने की चेष्टा की तथा भारत के चारों कोनों में चार धामों की प्रतिष्ठा की। इनमें ज्योतिर्मठ—जोशीमठ—बदरिकाश्रम के निकट, शारदामठ द्वारकाधाम में, शृंगेरीमठ रामेश्वर-क्षेत्र में तथा गोवर्धनमठ पुरुषोत्तम-क्षेत्र में अवस्थित हैं। इन सब मठों में आचार्य शंकर ने त्रोटकाचार्य, हस्तामलकाचार्य, सुरेश्वराचार्य एवं पद्मपादाचार्य इन चार शिष्यों को प्रतिनिधि रूप में प्रतिष्ठित किया। कुरु, काश्मीर, कम्बोज, पांचाल आदि देश, अर्थात् भारत के उत्तर एवं पश्चिम का अधिकांश भूभाग ज्योतिर्मठ के शासनाधीन हुआ। उसी प्रकार, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि देश, अर्थात् भारतवर्ष का पश्चिम भूभाग शारदामठ के; आन्ध्र, द्राविड,

---

हिन्दू-राजा पुष्यमित्र के अत्याचार की कहानी 'दिव्यावदान' में मिलती है। हूणराजा मिहिरकुल ब्राह्मणों के पक्षपाती थे। ये शैव थे। इन्होंने मिहिरेश्वर नाम के शिव की प्रतिष्ठा की थी (राजतरंगिणी)। प्रसिद्धि है कि इन्होंने भी बौद्धों के प्रति बड़ा अत्याचार किया। कर्णसुवर्ण के राजा शशांक के बारे में भी प्रायः ऐसा ही वर्णन मिलता है। वह हर्षवर्द्धन के समसामयिक तथा उनके विरोधी थे। सम्भवतः, वह शैव थे। ये कहानियाँ सच भी हो सकती हैं, झूठ भी। लेकिन, यह विश्वास-योग्य बात नहीं है कि दो-चार की प्रतिकूलता से ऐसा दृढ़प्रतिष्ठित धर्म देश से बिलकुल उखड़ जायगा। अतएव, यही निर्णीत होता है कि बौद्धधर्म की आभ्यन्तरीण अवनति ही उसके अधःपतन का मूल कारण है।

कर्णाट, केरल आदि देश, अर्थात् भारत का दक्षिण भूभाग शृंगेरीमठ के तथा अंग, वंग, कलिंग, मगध, उत्कल, बर्बर आदि देश, अर्थात् भारत का पूर्वभाग गोवर्धनमठ के शासनाधीन हुआ। इस व्यवस्था का उद्देश्य था कि शंकर के निर्वाण के बाद भी जिसमें वर्णाश्रम-धर्म वेदान्त के दृढ आश्रय में सुरक्षित रहे और उन मठों की अनुगतता में स्थिर रहे। प्रत्येक मठ का कार्यक्षेत्र अलग-अलग था। प्रत्येक मठधारी का ही मुख्य कर्त्तव्य था—अपने-अपने मठ के अन्तर्गत देश के वर्णाश्रमधर्मियों को धर्मोपदेश देकर स्वधर्म में प्रतिष्ठित रखना। शंकराचार्य के प्रतिनिधि होने के नाते ये मठाध्यक्ष 'शंकराचार्य' कहलाते हैं।

इन मठों की स्थापना के बारे में सर्वत्र मतैक्य नहीं दिखाई पड़ता। पुरी के गोवर्द्धनमठ से प्रकाशित मठाम्नाय में चार मठों के जो परिचय मिलते हैं, उनके अनुसार यहाँ मठों के संरक्षित परिचय दिये गये हैं।* किन्तु, व्यासाचलीय तथा केरलीय 'शंकरविजय' आदि में लिखा है कि अन्यान्य स्थानों में मठ की स्थापना करने के पहले आचार्य शंकर ने निम्बूदेरी (नम्बूद्रि) ब्राह्मणों के संस्कार के लिए अपने जन्मस्थान में मठ की स्थापना की। उसके बाद शृंगेरी आदि चार स्थानों एवं काशीधाम में मठ की स्थापना की। काशी के मठ में शंकर ने महेश्वर नाम के अपने शिष्य को मठाध्यक्ष नियुक्त किया। अपने रहने के लिए उन्होंने कांचीकामकोटिपीठ को चुन लिया था। ऐसा कहा जाता है कि कांची में कामाक्षी देवी के मन्दिर में ही, जहाँ आचार्य शंकर की प्रस्तर-प्रतिमा है, उन्होंने ने सिद्धि प्राप्त की थी।

आदिशंकराचार्य-प्रदत्त पच्चीस-श्लोकविशिष्ट एक महानुशासन इस सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। उस महानुशासन में मठ के विषय में अनेक उपदेश हैं। उसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मठ के आचार्य अपने-अपने इलाके में सदा पर्यटन करते हुए धर्मानुशासन करेंगे। मठाध्यक्ष सदा मठ में नहीं रहेंगे। वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा के लिए जब जिस उपाय का अवलम्बन करना चाहिए, उन्हें उसका अवलम्बन करना उचित है। एक आचार्य दूसरे आचार्य की शासन-सीमा का उल्लंघन नहीं करेंगे। आवश्यकता होने पर—और संशयपूर्ण विषय उपस्थित होने पर—परस्पर मिलकर व्यवस्था करना उनका कर्त्तव्य है। कभी किसी बात में किसी की मर्यादा नष्ट न हो, इसके लिए विशेष सतर्क रहना होगा; क्योंकि मर्यादा-नाश से शुभ विषयों के लुप्त होने की आशंका रहती है। पीठाधीश के लिए वेद, वेदान्त आदि सभी शास्त्रों में पाण्डित्य, योग के सहारे अपरोक्ष ज्ञानलाभ, संयम, सदाचार, नीति-परायणता आदि सभी सद्गुणों से भूषित होना आवश्यक है। जिनमें ये सब गुण नहीं दिखाई देते, जनता के हाथ में उनको बहिष्कृत करने का अधिकार रहता था। आदि-शंकर ने विशेष रूप से जनता की दृष्टि को इस रूप में आकृष्ट किया कि पीठाधीश वास्तव में उसी के प्रतिनिधि हैं। मठ न उजड़े, इसपर दृष्टि रखना मठाधीश का मुख्य कर्त्तव्य था।

---

* पृष्ठ १७९ की तालिका द्रष्टव्य।

* पाठकों की सुविधा के लिए मठाम्नाय के आधार पर यहाँ एक तालिका दी जा रही है। इससे सारे विषय सहज परिष्कृत और बोधगम्य होंगे।

क्रम-संख्या	मठ	आम्नाय	सम्प्रदाय	पद	क्षेत्र	देव	देवी	आचार्य	तीर्थ	ब्रह्मचारी	वेद	महावाक्य	गोत्र	शासनाधीन देशों के नाम
१.	गोवर्धन	पूर्व	भोगवार	अरण्य, वन	पुरुषोत्तम	जगन्नाथ	विमला	पद्मपाद	महोदधि	प्रकाश	ऋक्	प्रज्ञानं ब्रह्म	काश्यप	अंग, वंग, कलिंग, उत्कल, बर्बर आदि
२.	शृंगेरी	दक्षिण	भूरिवार	सरस्वती, भारती, पुरी	रामेश्वर	आदिवराह	कामाक्षी	पृथ्वीधर (हस्तामलक)	तुंगभद्रा	चैतन्य	यजुः	अहं ब्रह्मास्मि	भूभुंवः	आन्ध्र, द्राविड, केरल, कर्णाट आदि
३.	शारदा	पश्चिम	कीटवार	तीर्थ, आश्रम	द्वारका	सिद्धेश्वर	भद्रकाली	विश्वरूप	गोमती	स्वरूप	साम	तत्त्वमसि	अधिगत	सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि
४.	ज्योतिर्मठ (श्रीमठ)	उत्तर	आनन्दवार	गिरि, पर्वत, सागर	बदरिकाश्रम	नारायण	पूर्णगिरि	त्रोटक	अलकनन्दा	आनन्द	अथर्व	अयमात्मा ब्रह्म	भृगु	कुरु, काश्मीर, पांचाल, कम्बोज आदि

ध्यातव्य : अन्यमत से शंकर ने गोवर्धनमठ में हस्तामलक को, शृंगेरीमठ में पृथ्वीधर को, द्वारकामठ में पद्मपाद को एवं ज्योतिर्मठ में त्रोटक को मठाधिपति नियुक्त किया था तथा काशी के सुमेरुमठ में, जो ऊर्ध्वाम्नाय के अन्तर्गत है, महेश्वर को मठाधिपति नियुक्त किया था।

'श्रीविद्यार्णव' नामक ग्रन्थ के अनुसार शंकर-सम्प्रदाय का विवरण :

शाक्तागम-साहित्य में 'श्रीविद्यार्णव' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।[1] उसमें श्रीविद्या की उपासना के क्रम को आश्रित करके तन्त्रशास्त्र के सारे सिद्धान्त उत्तम रीति से प्रतिपादित हुए हैं। इस ग्रन्थ में शंकराचार्य की गुरु-परम्परा और शिष्य-परम्परा भी कुछ-कुछ वर्णित है। इसपर संक्षेप में कुछ चर्चा आवश्यक है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का वर्णन कहाँतक ठीक है, यह ऐतिहासिकों के विचार का विषय है। किन्तु, तान्त्रिक-समाज में शंकराचार्य और उनके सम्प्रदाय की जो ख्याति है, पाठकों को उसका थोड़ा परिचय मिलना चाहिए। श्रीविद्या की उपासना से शंकराचार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध था। तान्त्रिक ग्रन्थों में सर्वत्र इसका प्रमाण मिलता है। शंकर के मठविशेष में जो श्रीयन्त्र है, उससे सभी परिचित हैं। 'सौन्दर्यलहरी', 'प्रपंचसार' आदि जिन तान्त्रिक ग्रन्थों से शंकर का नाम जुड़ा है, वे सब त्रिपुरातन्त्र के ग्रन्थ हैं। 'ललितात्रिशती' प्रभृति भी इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। इसलिए, त्रिपुरा-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में प्राप्त शंकर-विषयक ऐतिहासिक जन-श्रुति की चर्चा उचित प्रतीत होती है।

इस ग्रन्थ के अनुसार, शंकराचार्य गौडपाद के शिष्य नहीं हैं। गौडपाद से शंकर तक सात पीढ़ियों का नाम इस ग्रन्थ में मिलता है। वह क्रमशः इस प्रकार है : गौडपाद, पावक, पराचार्य, सत्यनिधि, रामचन्द्र, गोविन्द एवं शंकराचार्य। इससे प्रतीत होता है कि शंकर गोविन्द के शिष्य निस्सन्देह होते हुए भी गौडपाद के प्रशिष्य नहीं हैं। प्रचलित ग्रन्थ में गौडपाद व्यासशिष्य शुकदेव के साक्षात् शिष्य के रूप में परिचित हैं। किन्तु, शुकदेव तथा गौडपाद के बीच समय का लम्बा व्यवधान होने के कारण ऐतिहासिक विद्वान् शुक से गौडपाद के साक्षात् गुरुशिष्य-सम्बन्ध को स्वीकार करने में हिचकते हैं। बहुतों का खयाल है, शुकदेव के बाद अद्वैतज्ञान की धारा एक प्रकार से उच्छिन्न हो गई थी। गौडपाद ने सम्भवतः अलौकिक उपाय से आविर्भूत शुकदेव की दिव्यमूर्त्ति की सन्निधि में यह ज्ञान प्राप्त करके इसका पुनरुद्धार किया था। इस प्रकार, शुक से उनका गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भी स्थिर होता है। परन्तु, साधारण ऐतिहासिक विद्वान् इसे प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। इस ग्रन्थ में गौडपाद के पूर्ववर्त्ती गुरुओं की नामावली भी दी गई है, जिसकी पर्यालोचना से गौड एवं शुक के बीच अनेक पीढ़ियों का व्यवधान परिलक्षित होता है। आदिऋषि कपिल से ही शंकर-सम्प्रदाय की उत्पत्ति है, यही इस ग्रन्थ के लेखक का मत है। कपिल से गौडपाद तक गुरुओं के नाम इस प्रकार हैं : कपिल, अत्रि, वशिष्ठ, सनक, सनन्दन, भृगु, सनत्सुजात, वामदेव, नारद, गौतम, शौनक, शक्ति, मार्कण्डेय, कौशिक,

---

१. सम्प्रति, यह ग्रन्थ मुद्रित है। इसकी एक पाण्डुलिपि काश्मीर में है (द्रष्टव्य : Stein साहब-लिखित जम्मू-रघुनाथमन्दिर के पुस्तकालय की सूची)। यह बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इसका विच्छिन्न अंश किसी-किसी पुस्तकालय में मिल जाता है।

पराशर, शुक, अंगिरा, कण्व, जाबालि, भरद्वाज, वेदव्यास, ईशान, रमण, कपर्दी, भूधर, सुभट, जलज, भूतेश, परम, विजय, मरण, पद्मेश, सुभग, विशुद्ध, समर, कैवल्य, गणेश्वर, सपाद, विबुध, योग, विज्ञान, अनंग, विभ्रम, दामोदर, चिदाभास, चिन्मय, कलाधर, वीरेश्वर, मन्दार, त्रिदश, सागर, मृड, हर्ष, सिंह, गौड, वीर, घोर, ध्रुव, दिवाकर, चक्रधर, प्रमथेश, चतुर्भुज, आनन्दभैरव, धीर और गौडपाद।[१]

इस ग्रन्थ के अनुसार, **शंकराचार्य** के चौदह शिष्य थे। ये सब-के-सब देवी के उपासक एवं निग्रहानुग्रह करने में समर्थ, साथ ही अलौकिक शक्ति से सम्पन्न थे, ऐसा वर्णन मिलता है। चौदह शिष्यों में पाँच संन्यासी थे, शेष नौ गृहस्थ। पाँच संन्यासी शिष्यों में एक शंकर नाम के भी थे। शेष चार के नाम हैं : पद्मपाद, बोध, गीर्वाण एवं आनन्दतीर्थ। गृहस्थ शिष्यों के नाम हैं : सुन्दर, विष्णुशर्मा, लक्ष्मण, मल्लिकार्जुन, त्रिविक्रम, श्रीधर, कपर्दी, केशव और दामोदर।

पद्मपाद के छह शिष्य थे। उनके नाम हैं : माण्डल, परपावक, निर्वाण, गीर्वाण, चिदानन्द एवं शिवोत्तम। ये सब-के-सब संन्यासी थे। **बोधाचार्य** के अनेक शिष्य थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सभी देशों में इनके दो प्रकार के शिष्य थे : संन्यासी तथा गृहस्थ। **गीर्वाणेन्द्र** के मुख्य शिष्य का नाम है विद्वद्गीर्वाण। विद्वद्गीर्वाण के शिष्य का नाम विबुधेन्द्र, विबुधेन्द्र के शिष्य का नाम सुधीन्द्र तथा सुधीन्द्र के शिष्य का नाम **मन्त्रीगीर्वाण** है। मन्त्रीगीर्वाण के संन्यासी तथा गृही, दोनों ही प्रकार के शिष्य थे। आनन्दतीर्थ के सभी शिष्य गृही थे। वे पादुकापीठ की आराधना करते थे। **सुन्दराचार्य** के तीन प्रकार के शिष्य थे—पीठनायक, संन्यासी और गृही। **विष्णुशर्मा** के शिष्य का नाम **प्रगल्भाचार्य** है। उक्त 'विद्यार्णव' ग्रन्थ के लेखक **लक्ष्मणाचार्य** प्रगल्भाचार्य के शिष्य थे। ग्रन्थ में लिखा है कि ग्रन्थ समाप्त होने पर जगद्धात्री महामाया उनके सामने प्रकट होकर बोलीं—'वत्स, वर माँगो।' जगद्धात्री को अपने सामने खड़ी देखकर उन्होंने कहा, 'माँ, यदि कोई साधक केवल मेरे ग्रन्थ के आधार पर गुरु-परम्परा तथा मन्त्र आदि देखकर मुझे गुरु के रूप में स्वीकार करके भक्तिपूर्वक जप करे, तो वह दीक्षित न होने पर भी सिद्धि प्राप्त करे।' देवी ने 'तथास्तु' कहकर उन्हें ईप्सित वर दिया।

लक्ष्मणाचार्य की तपस्या, विद्या और श्री असाधारण कोटि की थी। चतुर्थ अवस्था में वह वीतराग होकर यहाँ-वहाँ देश-भ्रमण करते फिर रहे थे। इसी भ्रमणकाल में एक दिन उन्होंने **प्रौढदेव** नाम के राजा की राजधानी में प्रवेश किया। प्रौढदेव ने उनके लिए निवास, अन्न, भूषण एवं परिचारक की व्यवस्था की। एक दिन लक्ष्मण जब राजसभा में उपस्थित थे, तब वणिकों ने दूसरे देशों से लाये हुए वस्त्र तथा बहुमूल्य वस्तुएँ राजा को

---

१. इस नामावली में कहीं-कहीं विचित्रता दिखाई पड़ती है : (क) शक्ति तथा पराशर के बीच आनन्तर्य नहीं है—बीच में दो पीढ़ियों का व्यवधान है। (ख) पराशर तथा शुक के बीच वेदव्यास का नाम नहीं है, बल्कि शुक के पिता वेदव्यास का नाम शुक के चार शिष्यों के बाद दिया गया है।

भेंट दीं। राजा ने वे मूल्यवान् वस्त्र लक्ष्मण को दे दिये। उन चीजों को लेकर आचार्य लक्ष्मण अपने घर आये। कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित करके उन्होंने उन सारे वस्त्रों की आहुति दे दी। जब यह संवाद प्रौढदेव के पास पहुँचा, तब उन्होंने दूत द्वारा उनसे यह कहला भेजा कि वे सारे वस्त्र या उनका मूल्य भेज दें। यह बात सुनकर लक्ष्मण क्रुद्ध हुए और 'ब्रह्मस्वापहारक' कहकर राजा को शाप दिया कि 'तू निर्वंश हो जा।' इसके बाद अपने इष्टदेवता की प्रार्थना करके लक्ष्मण ने वस्त्र वापस भेज दिये। और, उस राज्य को छोड़कर वह दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। लक्ष्मण की इस अलौकिक शक्ति की बात सुनकर राजा प्रौढदेव का मन उद्विग्न हुआ और वह उनके पास गये तथा उनके क्रोध की शान्ति के लिए विनीत होकर प्रार्थना की। प्रार्थना से सन्तुष्ट होकर लक्ष्मण ने कहा : 'तुम्हें पुत्र होगा, पर तुम उस पुत्र से सुखी नहीं हो सकोगे।' उन सिद्ध महात्मा के कथनानुसार समय पर राजा के एक पुत्र हुआ। किन्तु, पुत्र के जनमते ही राजा का देहावसान हो गया। ऐसी प्रसिद्धि है कि ऐसे समय प्रजा के अनुरोध से राजकुमार के प्रतिनिधि-स्वरूप लक्ष्मण राज्य का भार लेकर शासन करते रहे और 'श्रीचक्र' के आकार में नगर बसाकर उसका नाम 'श्रीविद्यानगर' रखा। राजकुमार जब बड़ा हुआ, तब उन्होंने उसका नाम **अम्बदेव** रखकर उसे राजसिंहासन पर बिठाया। नये राजा की आज्ञा एवं राजसभा के पण्डितों की प्रार्थना से, भगवती का आदेश लेकर, उन्होंने प्राचीन आगम-ग्रन्थ,[1] यामल-ग्रन्थ आदि की विशेष आलोचना के साथ कादिमत और हादिमत के सूक्ष्म रहस्यों की खोज करके इस विशिष्ट ग्रन्थ ('विद्यार्णव') की रचना की।

मल्लिकार्जुन के अधिकांश शिष्य विन्ध्यदेशवासी थे। इसी प्रकार **त्रिविक्रम** के शिष्य जगन्नाथ-क्षेत्र में; **श्रीधर** के शिष्य गौड, मिथिला और वंगदेश में तथा **कपर्दी** के शिष्य काशी, अयोध्या आदि देशों में वास करते थे। **केशव** और **दामोदर** के विषय में इस ग्रन्थ में विशेष कुछ उल्लेख नहीं है।[2]

---

१. तन्त्रराज, मातृकार्णव, त्रिपुरार्णव, योगिनीहृदय आदि।

२. 'गद्यवल्लरी' नामक श्रीविद्या के एक पद्धतिग्रन्थ का पता चलता है। इस ग्रन्थ का प्रणेता श्रीनिजात्मप्रकाशानन्दनाथ मल्लिार्जुन योगीन्द्र हैं। यह ग्रन्थ १४३५ शकाब्द, अर्थात् १५१३ खृष्टाब्द में लिखा गया ('शके बाणत्रिवेद-शशिसम्मिते')। ग्रन्थ से ही ऐसी प्रतीति होती है। यह शंकराचार्य-सम्प्रदाय का तान्त्रिक ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ में शंकर की गुरु-परम्परा और शिष्य-परम्परा का कुछ वर्णन मिलता है। पाठकों के उत्सुकता-निवारण के लिए उसका सारांश यहाँ दिया जा रहा है। इस मत के अनुसार शंकर-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक शिव हैं। इनके परवर्त्ती गुरुओं के नाम इस प्रकार हैं : विष्णु, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौडपाद, गोविन्द और शंकराचार्य। शंकर की शिष्य-परम्परा इस प्रकार है : विश्वरूप, बोधघन, ज्ञानघन, ज्ञानोत्तम,

शंकर का तिरोधान :

शंकर के जीवन-वृत्तान्त के बारे में यहाँ विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह प्रायः सर्वजनविदित है। विभिन्न भाषाओं में लिखे विभिन्न प्राचीन 'शंकर-चरित्र' में उनका जो जीवन-विवरण मिलता है, बहुत अंशों में उसकी प्रामाणिकता पर ऐतिहासिकों में गहरा मतभेद है। इस सम्बन्ध में विभिन्न भाषाओं में ग्रन्थ एवं रचनाएँ प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। जिन्हें इस सम्बन्ध में उत्सुकता है, उनके लिए वे सब ग्रन्थ अवश्य द्रष्टव्य हैं। 'एकश्लोकी' की व्याख्या के समय स्वयम्प्रकाश मुनि ने एक श्लोक में शंकर का जीवन-चित्र अंकित किया है। वह श्लोक इस प्रकार है :

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

इससे सिद्ध होता है कि शंकर दीर्घजीवी नहीं थे। उन्होंने कम आयु में ही विद्या प्राप्त करके ग्रन्थनिर्माण तथा धर्मप्रचार किया।

शंकर के जीवन-वृत्तान्त के बारे में जैसे सर्वत्र मतैक्य नहीं है, वैसे ही उनके देहान्त के विषय में भी प्राचीन काल से ही मतभेद दृष्टिगोचर होता है। अध्यापक वेंकटेशन इस सम्बन्ध में प्रचलित मतों की समालोचना करके जिस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं, उसका सारांश नीचे दिया जा रहा है। परन्तु, यह भी सर्वजनसम्मत नहीं है। बहुतों के मत में, इसमें अवश्य ही, पीठविशेष के प्रति पक्षपात दृष्टिगत होता है।

माधवाचार्य[1] ने 'शकरविजय' में कहा है कि शंकराचार्य ने काश्मीर में सर्वज्ञपीठ पर आसीन होकर वहाँ से अपने शिष्यों को विभिन्न मठों में मठ के कार्य का निरीक्षण करने के लिए भेजा और स्वयं उन्होंने बदरीनारायण की यात्रा की। यह भी प्रसिद्ध है कि

शिव, ज्ञानगिरि, सिंहगिरि, ईश्वरतीर्थ, नृसिंहतीर्थ, विद्यातीर्थ, शिव, भारती-तीर्थ, विद्यारण्य, मलयानन्द, देवतीर्थसरस्वती, यादवेन्द्रसरस्वती, नृसिंह-सरस्वती, माधवेन्द्रसरस्वती, मल्लिकार्जुन, योगीन्द्र, रामदेव, दायदेवयति, गगनानन्द, चिद्घनानन्द, महेश्वरानन्द, चिदानन्द तथा आनन्दचित्प्रतिबिम्ब।

१. सुप्रसिद्ध माधवाचार्य इस ग्रन्थ के रचयिता नहीं हैं। केवल पहला मंगलश्लोक उनका रचा हुआ है। इसके वास्तविक रचयिता माधव नाम के कोई दूसरे व्यक्ति हैं। उन्होंने 'भारतचम्पू' की भी रचना की। दोनों ही ग्रन्थों में ग्रन्थकार ने अपना परिचय 'नवकालिदास' के नाम से दिया है। इससे भी दोनों ग्रन्थकारों का एक होना प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त, 'शंकर-विजय' के २४ श्लोक (सर्ग १२, श्लोक १–२४) राजचूडामणि दीक्षित के 'शंकराभ्युदय' ग्रन्थ (४।१।२।६।७।१४–२३) से लिये गये हैं। यह राजचूडामणि नायक राजाओं के सभाकवि थे।

बदरीनारायण से कैलासधाम में जाकर वह तिरोहित हुए। चिद्विलासेन्द्र ने अपने 'शंकरविजय' में लिखा है कि शंकराचार्य ने कांची में सर्वज्ञपीठ पर आरोहण किया, काश्मीर में नहीं। तदनन्तर, अनेक तीर्थों के दर्शन करने के बाद उन्होंने बदरीनारायण एवं कैलास की यात्रा की। माधवाचार्य ने जिन दो श्लोकों (१६।५१-५२) में शंकर के काश्मीर में सर्वज्ञपीठारोहण का वर्णन किया है, वे दोनों श्लोक राजचूडामणि के 'शंकराभ्युदय' (८।६८-६९) के ही हैं, किन्तु 'शंकराभ्युदय' में लिखा है कि यह घटना कांची में घटी थी, काश्मीर में नहीं, यही अन्तर है।

शंकर-सम्प्रदाय के मतानुसार, शंकर अन्तिम समय तक कांची में ही थे और कम्पासरोवरतीरवासिनी भगवती कामेश्वरी अथवा कामकोटि देवी की अर्चना में निरन्तर रत रहकर अन्त में उन्होंने ब्रह्मानन्द-लाभ किया। कांची के कामकोटिपीठ के ३८वें शंकराचार्य, जो धीरशंकर नाम से परिचित थे, सारे भारतवर्ष का भ्रमण करके काश्मीर में सर्वज्ञपीठ पर आरूढ हुए और अन्त में हिमालय की दत्तात्रेय-गुफा में तिरोहित हुए। अनुमान किया जाता है कि धीरशंकर की घटनाएँ किसी प्रकार से आदिशंकर पर आरोपित हो गई हैं। मलयलम-भाषा में शंकर की एक जीवनी प्रकाशित हुई है। उसमें लिखा है, शंकर ने वृषाचल अथवा गजाचल में पीठारोहण करके वहीं सिद्धि प्राप्त की। श्रीवरदराज स्वामी के स्थान का नाम हस्तिगिरि या वृषाचल है। गजाचल ही हस्तिगिरि का दूसरा नाम है। यह स्थान कांची में है। सम्भवतः, शंकर यहीं सर्वज्ञपीठ पर आरूढ हुए थे और देहावसान तक यहीं थे। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र-कृत 'गुरुरत्नमालिकाटीका' एवं 'गुरुपरम्परा-स्तोत्र' में लिखा है कि भगवान् शंकर अपने जीवन के अन्तिम समय तक कांची में ही रहे तथा उनका देहावसान भी वहीं हुआ। एक हस्तलिखित पोथी में वर्णित है :

तत्र संस्थाप्य कामाक्षीं जगाम परमं पदम् ।
विश्वरूपयतिं स्थाप्य स्वाश्रमस्य प्रचारणे ॥

विश्वरूप सुरेश्वर का नामान्तर है।

प्रसिद्धि है कि शंकराचार्य कैलास से पाँच स्फटिकलिंग ले आये। उनमें उन्होंने चार की यथाक्रम बदरीनारायण, नीलकण्ठक्षेत्र (नेपाल), शृंगेरी तथा चिदम्बरम् में स्थापना की। सर्वश्रेष्ठ पाँचवें लिंग को उन्होंने अपने साथ रखा। वह योगलिंग के नाम से प्रसिद्ध है। कांची में शंकर सदा उसी की पूजा में लीन रहते थे। देहत्याग के समय शंकर उस लिंग, कांचीपीठ तथा शारदामठ का भार सुरेश्वर को सौंप गये (यह शारदामठ शृंगेरी-शारदापीठ से भिन्न है)। 'शिवरहस्य' (९।१६) में लिखा है कि इस योगलिंग की स्थापना कांची में हुई। 'मार्कण्डेयसंहिता' (काण्ड ७२, परिस्पन्द ७) में लिखा है कि शंकर ने कामकोटिपीठ में योगलिंग की स्थापना की और उसकी पूजा का भार सुरेश्वराचार्य के हाथों सौंपा। रामभद्रदीक्षित-लिखित 'पतंजलिचरित' (८।७१) से भी प्रमाणित होता है कि शंकर का देहावसान कांची में ही हुआ था। वेंकटेशन् के अनुसार, 'नैषधचरित' के बारहवें सर्ग में कांची के जिस स्फटिकलिंग का वर्णन है, वही शंकर द्वारा स्थापित योगेश्वर लिंग है

इस लिंग को कहीं 'यागेश्वर' और कहीं 'योगेश्वर' कहा गया है। पूर्वापर विचार करके उन्होंने स्थिर किया है कि 'योगेश्वर' शब्द ही उपयुक्त है।

शंकराचार्य के समय में और उनके पहले की दार्शनिक स्थिति :

बादरायण के ब्रह्मसूत्र तथा उसके शांकरभाष्य की पर्यालोचना से प्रतीत होता है कि बादरायण के समय से शंकर के समय तक देश में विभिन्न प्रकार के धर्म एवं तत्सम्बन्धी दार्शनिक मतवादों का प्रचार था। इनमें कुछ मत को छोड़ अधिकांश ही आंशिक या पूर्णरूप से अवैदिक थे।[1] यह सब अवैदिक सम्प्रदाय कहीं-कहीं वैदिक सम्प्रदाय के विरोधी तथा कहीं-कहीं वैदिक सम्प्रदाय से अलग रूप में रहते हुए भी अपने को वैदिक सम्प्रदाय का अंग मानते थे। कट्टर वैदिक जन उन्हें वैदिक नहीं स्वीकार करते थे। शंकर ने वैशेषिक, सांख्य तथा योगदर्शन को भी एक प्रकार से वेदबाह्य जैसा ही माना। इनके अतिरिक्त, जैन, बौद्ध, पांचरात्र तथा पाशुपत-दर्शन तो उनकी दृष्टि में स्पष्टतः ही अवैदिक थे। इसीलिए, 'तर्कपाद' में उन्होंने इन सभी मतों का विशेष रूप से खण्डन किया है। वैशेषिक-मत किसी समय पाशुपत-मत से मिल गया। सम्भवतः, इसीलिए यह भी अवैदिक दर्शनों में निर्दिष्ट हो गया। किन्तु, इसके वास्तविक कारण का पता नहीं चल सका है। बादरायण ने वैशेषिक-मत का खण्डन किया है, किन्तु न्याय का नहीं। भाष्य में न्यायदर्शन का प्रायः कहीं उल्लेख नहीं है।[2] इस प्रकार, प्राचीन 'बौद्धतर्क' ग्रन्थ में भी वैशेषिक का ही उल्लेख है, न्याय का उल्लेख कदाचित् ही कहीं मिलता है। इस अवस्था में, मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उस समय क्या गौतम-प्रणीत 'न्यायसूत्र' नहीं था? विचार करने से लगता है, 'न्यायसूत्र' प्राचीन ग्रन्थ है; क्योंकि आर्यदेव ने 'शतशास्त्र' में 'न्यायदर्शन' के, द्वितीय अध्याय के, प्रथम आह्निक के दो सूत्रों (३९, ४१) का तथा तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक के पाँच (१, ७, १२, १४, १८) सूत्रों का प्रसंगतः उल्लेख किया है। किन्तु, टीकाकार ने वैशेषिक-सूत्र के रूप में उन सूत्रों का परिचय दिया है। टीकाकार की उक्ति से कतिपय पण्डितों ने यह कल्पना की है कि आर्यदेव के पहले 'न्यायदर्शन' नाम का पृथक् दर्शन

---

१. सातवीं शताब्दी में जो सब धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे, उनका कुछ उल्लेख 'हर्षचरित' (पृ० ६३२, जीवानन्द-सं०) में मिलता है। वह इस प्रकार है : भागवत, कापिल, जैन, लौकायतिक, काणाद, पौराणिक, ऐश्वरकारणिक, कारन्धमिन् (धातुवादी), सप्ततान्तव (मीमांसक ?), शाब्दिक, बौद्ध, पांचरात्रिक तथा औपनिषद। इनमें केवल औपनिषद के अतिरिक्त सभी एक प्रकार से अवैदिक हैं। इस ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण (पृ० ३९९) में औपनिषद के विषय में कहा गया है : 'संसारासारत्वकथनकुशला ब्रह्मवादिनः।'

२. 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' यह 'न्यायसूत्र' (१।१।१८) तथा 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' (२।२।३७) में उद्धृत हुआ है।

नहीं था। उसी समय उसका दूसरा, तीसरा और चौथा अध्याय वैशेषिक-ग्रन्थविशेष के अंगरूप में स्वीकृत हुआ।[१]

'तर्कपाद' में सर्वास्तिवाद[२] तथा विज्ञानवाद का भी खण्डन है। राजा कनिष्क के समय काश्मीर में जो बौद्धसंगीति हुई, उसमें सूत्र, विनय एव अभिधर्म पर विभाषा (भाष्य या टीका) रचित हुई थी। उसका नाम रखा गया 'उपदेशशास्त्र', 'विनयविभाषा-शास्त्र' एवं 'अभिधर्मविभाषाशास्त्र'। इस संगीति के अध्यक्ष सर्वास्तिवादी **वसुमित्र** थे। विभाषाशास्त्र ही सर्वास्तिवादियों का मुख्य शास्त्र है। विभाषा का अनुसरण करने के कारण ही सर्वास्तिवादियों का नाम 'वैभाषिक' हुआ। सभा के अध्यक्ष **वसुमित्र** ही 'अभिधर्मप्रकरणपाद' तथा 'अभिधर्मधातुकाय' के रचयिता हैं। सर्वास्तिवादियों का अभिधर्म-सम्बन्धी मूलग्रन्थ कात्यायनीपुत्र-रचित 'ज्ञानप्रस्थानसूत्र' है। इस ग्रन्थ में छह मतवाद हैं :

१. संगीतिपर्याय : इसके निर्माता थे महाकौष्ठिल।
२. धातुकाय : इसके रचयिता थे वसुमित्र। (यशोमित्र के अनुसार 'धातुकाय' वसुमित्र की रचना नहीं है, किन्तु 'पूर्वकाय' उनकी रचना है।)
३. प्रज्ञप्तिसार : इसके निर्माता हैं मौद्गल्यायन।
४. धर्मस्कन्ध : इसके रचयिता हैं सारिपुत्र।
५. विज्ञानकाय : इसके रचयिता हैं देवशर्मा।
६. प्रकरणपाद : इसके निर्माता हैं वसुमित्र।

वसुबन्धु का 'अभिधर्मकोश' वैभाषिक-सम्प्रदाय का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसपर **गुणमति, वसुमित्र** (नवीन) तथा **यशोमित्र** की ('स्फुटार्था') टीका है। इनमें दो टीकाएँ प्राचीनतर हैं। इसपर **स्थिरमति** का भी एक व्याख्या-ग्रन्थ मिलता है। वसुबन्धु के समय में **संघभद्र** भी इस सम्प्रदाय के एक बड़े दार्शनिक थे। उन्होंने लगातार बारह वर्षों तक वसुबन्धु के अभिधर्म की विशेष आलोचना करके 'न्यायानुसार' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें बहुत स्थानों में वसुबन्धु पर कटाक्ष किया गया है। कहीं-कहीं वसुबन्धु के मत का खण्डन भी किया गया है, परन्तु उससे वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' का गौरव नष्ट नहीं हुआ है। शंकराचार्य वसुबन्धु एवं सम्भवतः यशोमित्र के ग्रन्थ से

१. द्रष्टव्य : Pre-Dinnaga Buddhist Texts on Logic from Chinese sources : G. Tucci (1929), Introduction, P. 27.

२. प्राचीन काल में १८ बौद्ध-सम्प्रदाय थे। यथा : सर्वास्तिवाद, काश्यपीय, महीशासक, धर्मगुप्तीय, बहुश्रुतीय, ताम्रशाटीय, विभज्यवादी, कुरुकुल्लक, आवन्तिक, वात्सीपुत्रीय, पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, लोकोत्तरवादी, प्रज्ञप्ति-वादी, महाविहार, जेतवनीय और अभयगिरिवासीय। इन १८ सम्प्रदायों का वर्णन वसुमित्र के 'अष्टादशनिकायशास्त्र' नाम के ग्रन्थ में है। ये वसुमित्र आचार्य धर्मत्रात के भागिनेय थे।

परिचित थे, ऐसा लगता है। 'ब्रह्मसूत्र' (२।२।२४) के भाष्य में 'सौगते हि समये' आदि वाक्यों में जो रचनावली उद्धृत हुई है, वह यशोमित्र की 'स्फुटार्था' में 'उक्तं हि भगवती पृथिवीभोग....कुत्र प्रतिष्ठितः' आदि रूप में मिलता है।[1]

शंकराचार्य से पहले विज्ञानवाद भी सर्वास्तिवाद की तरह विशेष रूप से प्रसिद्ध था। यह योगाचार-सम्प्रदाय का सिद्धान्त है। यद्यपि 'लंकावतारसूत्र' आदि में किसी-न-किसी रूप में विज्ञानवाद का स्वरूप उपलब्ध था, तथापि दार्शनिक क्षेत्र में इसकी प्रतिष्ठा मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु आदि के अनुयायियों के प्रयत्न से हुआ था। मैत्रेयनाथ और असंग के बाद वसुबन्धु ने ही विज्ञानवाद के इतिहास में ऊँचा स्थान प्राप्त किया था। अपने बड़े भाई असंग के प्रभाव से वसुबन्धु अपना पहला मत छोड़कर विज्ञानवादी हो गये थे और इस सिद्धान्त का अवलम्बन करके उन्होंने बहुत-से ग्रन्थों की रचना की थी। वसुबन्धु के प्रधान शिष्यों में आचार्य स्थिरमति, आर्यविमुक्तसेन, आचार्य गुणप्रभ एवं आचार्य विङ्नाग ने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। वसुबन्धु का 'विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि' ('विंशिका' एवं 'त्रिंशिका') विज्ञानवाद का प्रधान ग्रन्थ है। इसके अलावा वसुबन्धु-रचित[2] 'मध्यान्तविभागसूत्र' का भाष्य तथा असंग-कृत 'महायानसूत्रालंकार' की वृत्ति भी इस मत के सम्बन्ध में श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। स्थिरमति ने अपने गुरु द्वारा रचित 'त्रिंशिका', 'महायानसूत्रालंकारवृत्ति' तथा 'मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य' पर एवं 'काश्यपपरिवर्त्त' तथा 'पञ्चस्कन्धप्रकरण' पर भी टीका लिखी थी। वह अष्टादशनिकाय में निष्णात थे। आर्य-

---

१. वैभाषिक आकाश को अवस्तु या आवरणाभाव-मात्र मानते हैं। शंकराचार्य को ऐसा विश्वास था, इसलिए वह आकाश के भावत्व-प्रतिपादन में प्रवृत्त हुए थे। परन्तु, वास्तव में, 'अभिधर्मकोश' अथवा उसकी टीका में आकाश भावपदार्थ-रूप में ही स्वीकृत हुआ है, अभावपदार्थ-रूप में नहीं। यशोमित्र ने कहा है: 'तद् अनावरणस्वभावम् आकाशं तद् अप्रत्यग्विषयत्वादस्य धर्मानावृत्या अनुमीयते न तु आवरणाभावमात्रम्। अतएव च व्याख्यायते यत्र रूपस्य गतिरिति।' (अभिधर्मकोश-व्याख्या, १।५।१५, Prof. Wogihara का संस्करण, टोकियो, सन् १९३२ ई०)। इससे सिद्ध होता है कि वैभाषिक-मत से आवरणाभाव आकाश का लिंग है, आकाश का स्वरूप नहीं। वैभाषिक भावरूप आकाश स्वीकार करते हैं, इसीलिए कमलशील ने 'तत्त्व-संग्रहपंजिका' में वैभाषिकों को बौद्ध स्वीकार करने में आगा-पीछा किया है।

२. ऐसी प्रसिद्धि है कि इस ग्रन्थ के प्रणेता मैत्रेयनाथ हैं। अध्यापक H. Ui ने प्रमाणित किया है कि 'महायानसूत्रालंकारकारिका' भी वास्तव में असंग-रचित नहीं, मैत्रेयनाथ-रचित ही है। इसी प्रकार, 'योगाचारभूमिशास्त्र', जो योगाचार-मत का आकर-ग्रन्थ है, असंग-रचित ही है, ऐसी प्रसिद्धि है। किसी-किसी के अनुसार यह मैत्रेयनाथ-रचित है। 'बोधिसत्त्वभूमि' इसी ग्रन्थ का एक अंश है।

विमुक्तसेन प्रज्ञापारमिता के विशेषज्ञ थे, और गुणप्रभ ने विनय में प्राधान्य प्राप्त किया था। परन्तु, वसुबन्धु के सर्वश्रेष्ठ शिष्य थे दिङ्नाग। दिङ्नाग जैसे शास्त्रार्थकुशल पण्डित भारतवर्ष में विरल ही हुए हैं। दिङ्नाग ने प्रमाण पर ही विशेष रूप से आलोचना की थी। कहीं-कहीं अपने गुरु से भी उनका मतभेद देखा जाता है। 'प्रमाणसमुच्चय' और उसकी वृत्ति, 'आलम्बनपरीक्षा' तथा उसकी वृत्ति, 'त्रिकालपरीक्षा', 'नयद्वार' या 'नयमुख' आदि इनके ग्रन्थ शंकराचार्य के समय प्रतिष्ठित ग्रन्थों में गिने जाते थे।[1] 'प्रमाणसमुच्चय' में प्रत्यक्ष एवं अनुमान की आलोचना की गई है। स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण—इन दो प्रकार के प्रमेयों के ग्रहण के लिए प्रत्यक्ष एवं अनुमान, ये दो प्रकार के प्रमाण स्वीकृत हुए हैं। इनके अनुसार अर्थक्रियासमर्थ वस्तु ही स्वलक्षण है। जो इससे भिन्न है, वही सामान्यलक्षण है। दिङ्नाग के मत से कल्पनासंयुत ज्ञान, अर्थात् नाम-जाति आदि से संयुत ज्ञान परोक्ष है, तथा जो ज्ञान कल्पनाहीन, अर्थात् नाम-जाति आदि से सम्बन्ध-रहित है, वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष को अभ्रान्त होना चाहिए, ऐसा दिङ्नाग के ग्रन्थों में नहीं देखा जाता।

ईश्वरसेन दिङ्नाग के शिष्य थे, पर उनकी अधिक प्रसिद्धि नहीं हुई। ईश्वरसेन के शिष्य **धर्मकीर्त्ति** ने केवलमात्र न्यायशास्त्र में ही नहीं, बल्कि भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास में भी बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त किया था। धर्मकीर्त्ति के प्रधान ग्रन्थ हैं: 'प्रमाणवार्त्तिक' (अ० १–४), 'प्रमाणविनिश्चय' (यह ग्रन्थ 'प्रमाणवार्त्तिक' का संक्षिप्त सार है), 'न्यायबिन्दु', 'हेतुबिन्दु', 'सम्बन्धपरीक्षा' (ग्रन्थकार-रचित वृत्तिसहित), 'सन्तानान्तरसिद्धि', 'चोदनाप्रकरण' आदि। 'प्रमाणवार्त्तिक' के चार अध्यायों के विषय का क्रम इस प्रकार है: प्रथम अध्याय में स्वार्थानुमान, दूसरे अध्याय में प्रामाण्यविचार, तीसरे अध्याय में प्रत्यक्ष और चौथे अध्याय में परार्थानुमान। पहले अध्याय, अर्थात् स्वार्थानुमानाध्याय की टीका धर्मकीर्त्ति ने स्वयं ही लिखी, परन्तु शेष तीन अध्यायों की टीका-रचना का भार उन्होंने अपने शिष्य **देवेन्द्रबुद्धि** को सौंपा। देवेन्द्रबुद्धि ने दो बार टीका लिखी, परन्तु उससे धर्मकीर्त्ति सन्तुष्ट नहीं हुए। देवेन्द्रबुद्धि की तीसरी बार की टीका पर उन्होंने आधी सम्मति प्रदान की।[2]

'सर्वदर्शनसंग्रह' में **माधवाचार्य** ने संक्षेप में पाशुपत-मत की आलोचना की है। **उदयनाचार्य** ने भी 'न्यायकुसुमांजलि' में संक्षेप में पाशुपत-मत का उल्लेख किया है।

---

१. तिब्बत में ऐसी प्रसिद्धि है कि दिङ्नाग ने अपने गुरु के 'अभिधर्मकोश' पर 'मर्मप्रदीप' नाम की टीका की रचना की थी। 'नयप्रवेशसूत्र' के सम्बन्ध में मतभेद है।

२. धर्मकीर्त्ति के ग्रन्थों पर जो टीकाएँ लिखी गई थीं, उनमें तीन सम्प्रदाय देखे जाते हैं: पहले सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों में देवेन्द्रबुद्धि तथा उनके शिष्य शाक्यबुद्धि के नाम उल्लेख-योग्य हैं। इसमें प्रभावबुद्धि का भी नाम मिलता है, परन्तु उनका ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता। उन्होंने केवल 'प्रमाण-

'न्यायसार' तथा 'भूषण' के रचयिता काश्मीरनिवासी **भासर्वज्ञ** ने पाशुपत-मत की व्याख्या के प्रसंगों में 'गणकारिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। न्यायवार्त्तिककार **उद्योतकराचार्य** ने पाशुपताचार्य नाम से अपना परिचय दिया। सभी पुराणों एवं 'महाभारत' में अनेक स्थलों पर पाशुपत-दर्शन का वर्णन मिलता है। अतएव, अत्यन्त प्राचीन काल में भी यह सम्प्रदाय विद्यमान था, इसमें कोई सन्देह नहीं। वेद में रुद्रवाचक 'पशुपति' शब्द का प्रयोग बहुत स्थानों में मिलता है, परन्तु उस समय 'पशुपति' शब्द का कोई पारिभाषिक अर्थ था, ऐसा नहीं लगता। 'वामनपुराण' (६।८६।९१) में शिवलिंग के चार प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है। शैव, पाशुपत अथवा महापाशुपत, कालदमन एवं कापालिक। इन सभी सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक ब्रह्मा थे।[1] 'शिवपुराण' (वायवीयसंहिता, अ० २) में लिखा है

वार्त्तिक' पर टीका लिखी थी। विनीतदेव भी इसी सम्प्रदाय में थे, पर उन्होंने 'प्रमाणविनिश्चय' तथा 'न्यायबिन्दु' पर भी टीका लिखी थी। दूसरे सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे—काश्मीरी ब्राह्मण धर्मोत्तर। यह धर्मकीर्त्ति के साक्षात् शिष्य नहीं थे। उन्होंने 'न्यायबिन्दु' पर बृहत् टीका तथा 'प्रमाणविनिश्चय' पर संक्षिप्त टीका रची थी। 'प्रमाणपरीक्षा', 'अपोह-प्रकरण', 'क्षणभंगसिद्धि', 'परलोकसिद्धि' आदि ग्रन्थ उनके नाम से प्रसिद्ध हैं। वाचस्पतिमिश्र ने 'तात्पर्यटीका' में अनेक स्थलों पर धर्मोत्तर का उल्लेख किया है। तीसरे सम्प्रदाय के नेता थे, प्रज्ञाकरगुप्त। यह बंगदेश के आचार्य थे। उनके अनुसार, 'प्रमाणवार्त्तिक' विङनाग के 'प्रमाणसमुच्चय' की केवल टीका ही नहीं, जैसा कि दूसरे सम्प्रदायों के आचार्य कहा करते हैं, बल्कि समग्र महायानधर्म का प्रतिपादन करना ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है। तीसरे सम्प्रदाय के प्रायः सभी आचार्य गृही या तान्त्रिक थे। प्रज्ञाकर के ग्रन्थ का नाम है 'वार्त्तिकालंकार'। 'प्रमाणवार्त्तिक' के पहले अध्याय को छोड़कर शेष तीनों अध्यायों पर उन्होंने टीका लिखी थी। पहले अध्याय पर चूँकि स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रचित टीका थी, इसलिए उन्होंने उसपर टीका नहीं लिखी। प्रज्ञाकरगुप्त का यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है। इसकी इतनी प्रसिद्धि हुई थी कि इसके लिए ग्रन्थकार 'अलंकारोपाध्याय' नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उदयनाचार्य ने 'तात्पर्यपरिशुद्धि' में उनके नाम का उल्लेख किया है। बौद्ध न्यायशास्त्र का इतिहास जानने के लिए रूसी पण्डित Stcherbatsky द्वारा रचित 'Buddhist Logic' नाम का ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

१. यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' नामक ग्रन्थ (पृ० २६) में एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमें शैव, पाशुपत, लागुड एवं सौम्य, इन चार प्रकार के शैव-सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है :

कि वासुदेव कृष्ण को धौम्य के बड़े भाई उपमन्यु से पाशुपत-धर्म की शिक्षा मिली। रुरु, दधीचि, अगस्त्य एवं उपमन्यु ने विभिन्न उपसंहिताओं की रचना करके पाशुपत-योगशिक्षा के मार्ग को सुगम किया [शिवपुराण, वायवीयसंहिता (क) : २८।१५।१६]। पाशुपतों का एक सूत्रात्मक दार्शनिक ग्रन्थ था। इसका नाम है—'पाशुपतशास्त्रपंचार्थदर्शन।' यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त था। इसीलिए, यह 'पंचाध्यायी' नाम से भी परिचित है। प्रसिद्धि है कि शंकर ने स्वयं इस सूत्र का प्रकाश किया। इस ग्रन्थ पर शिव के अट्ठाईसवें अवतार राशीकर ने एक भाष्य की रचना की, जिसका उल्लेख माधवाचार्य, केशवकाश्मीरी आदि के ग्रन्थों में मिलता है। पाशुपतसूत्र का कौण्डिल्य-भाष्य प्रकाशित हुआ है। भासर्वज्ञ की 'गणकारिका' के बारे में पहले ही कहा जा चुका है। इसपर 'रत्नटीका' नाम की एक प्रसिद्ध टीका भी है। इस टीका के रचयिता ने 'सत्कार्यविचार' नाम से पाशुपतशास्त्र के और भी एक ग्रन्थ की रचना की है। इस सम्प्रदाय के क्रियाकलाप का विवरण 'संस्कारकारिका' नाम के ग्रन्थ में है। शिवानन्द-कृत 'योगचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में 'नकुलीशयोगपारायण' नामक एक पाशुपत-ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

यद्यपि अन्यान्य शैव-सम्प्रदायों की भाँति इस सम्प्रदाय के भी प्रवर्त्तक भगवान् शंकर हैं और अन्यान्य ऋषि इसके भी प्रचारक हैं, तथापि ऐतिहासिक समय में भृगुकच्छ के निकट करवन नामक स्थान के निवासी[१] नकुलीश नाम के किन्हीं एक व्यक्ति ने लुप्तप्राय इस सम्प्रदाय का पुनरुद्धार किया, ऐसा कहा जाता है। नकुलीश शब्द कहीं-कहीं लकुलीश, लगुडीश आदि रूपों में भी मिलता है। इस सम्प्रदाय के उपासक आज भी लगुड धारण

शैवं पाशुपतं सौम्यं लागुडं च चतुर्विधम्।
तन्त्रभेदः समुद्दिष्टः सङ्करं न समाचरेत्॥

यहाँ 'सौम्य' शब्द के द्वारा सोमसिद्धान्त अथवा कापालिक-मत समझना चाहिए। इसके अनुसार, लागुड तथा पाशुपात अलग-अलग सम्प्रदाय थे।

महर्षि भरद्वाज तथा उनके शिष्य राजा सोमेश्वर पाशुपत-धर्म के व्याख्याता थे। वशिष्ठ के पुत्र तथा गोपायन के गुरु शक्ति-शैव-सम्प्रदाय के, कामेश्वर के गुरु आपस्तम्ब कालदमन-सम्प्रदाय के तथा शूद्रजातीय अरुणोदर के गुरु धनद या कुबेर, कापालिक-सम्प्रदाय के उपदेष्टा थे। महापुराण में कुबेर को महाव्रती भी कहा गया है।

१. इस स्थान का संस्कृत-नाम 'कायावरोहण' है। इस स्थान में शिव अवतीर्ण हुए थे, इसलिए इसका यह नामकरण हुआ। कहा जाता है कि शिव यहाँ लगुडधारी नर-रूप में अवतीर्ण हुए थे। यहाँ अब भी लकुलीश का एक मन्दिर वर्त्तमान है। 'शिवपुराण' (सनत्कुमारसंहिता, ३१।१२) के अनुसार, 'कायावरोहण' के लकुलीश, शिव की ६८ मूर्त्तियों में अन्यतम हैं।

करते हैं।[1] 'वायुपुराण' के अनुसार, श्रीकृष्ण जिस समय वासुदेव-रूप में अवतीर्ण हुए, ठीक उसी समय शिव 'कायावरोहण' नामक स्थान में नकुलीश-रूप में आविर्भूत हुए थे—श्मशान के एक शव में उनका आविर्भाव हुआ था। भगवत्-शक्तिसंचार से शव चेतन होकर बैठ गया, और फिर वह (नकुलीश-रूप शिव) पाशुपत-धर्म के प्रचार में प्रवृत्त हुए, ऐसी किंवदन्ती है। नकुलीश के चार शिष्य थे : कुशिक[2], गार्ग्य, मित्र तथा कौरुष्य। ये सभी पाशुपत-योग का अभ्यास करते थे, और देह में धूल और भस्म रमाते थे। 'चित्रलेख' में इन चारों शिष्यों का उल्लेख है, किन्तु उनमें तीसरे का नाम 'मित्र' के बदले 'मैत्रेय' लिखा है।

नकुलीश का आविर्भाव ऐतिहासिक दृष्टि से किस शताब्दी में हुआ था, इसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। फरकुहर का मत है कि नकुलीश वास्तव में किसी समय जीवित थे—महाभारत-काल तथा वायुपुराण-काल (सन् ३०० से ४०० ई०) के बीच किसी समय उनका आविर्भाव हुआ। फ्लीट ने प्रमाणित किया है कि कुषाणराज हुविष्क की मुद्रा में मुद्गरहस्त शिव की जो मूर्त्ति दिखाई देती है, वह नकुलीश की ही मूर्त्ति है।[3]

---

१. 'विश्वकर्मावतार' नामक वास्तुशास्त्र में लकुलीश का ऐसा ध्यान प्राप्त होता है : "लकुलीशमूर्ध्वमेढ्ं पद्मासनसुसंस्थितम्। दक्षिणे मातुलिङ्गं च वामे दण्डं प्रकीर्त्तितम्॥" बहुतेरे शैवमन्दिरों के द्वार पर लकुलीश-मूर्त्ति मिलती है—इस मूर्त्ति का मस्तक केश से ढका है, दायें हाथ में बीजपुर का फल और बायें में दण्ड है। समस्त राजपूताना, गुजरात, मालवा, बंगदेश, दक्षिणापथ आदि अनेक देशों में लकुलीश की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। एकलिंग, मेनाल, तिलिश्मा वाड़ोली आदि स्थानों के शिवमन्दिर इसी सम्प्रदाय के हैं। (द्रष्टव्य : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत 'उदयपुर-राज्य का इतिहास', पृ० ११०४-११०५)।

२. उदयपुर से १३ मील उत्तर एकलिंग के मठाध्यक्ष इसी सम्प्रदाय के हैं। बप्पाराव के गुरु नाथ हारीतराशि एकलिंग-मन्दिर के महन्थ थे। एकलिंग-मन्दिर के दक्षिण में लकुलीश का मन्दिर संवत् १०२८, अर्थात् ९७१ ई० में बना।

३. लकुलीश ऐतिहासिक पुरुष हैं, ऐसा कतिपय पण्डितों का मत है। किन्तु, आगमशास्त्र के इतिहास से पता चलता है कि लाकुल-मत भी बहुत प्राचीन है। प्रसिद्धि है कि नौ करोड़ आगम-ग्रन्थ क्रमशः लुप्त हो गये। मूल प्रवर्त्तक भैरव ने जब आगम का प्रवर्त्तन किया, तब ये ग्रन्थ लुप्त नहीं हुए थे—नौ करोड़ ग्रन्थ विद्यमान थे। किन्तु, भैरव के ही समय एक करोड़ ग्रन्थ, उसके बाद स्वच्छन्द के समय और भी एक करोड़ ग्रन्थ तथा लाकुल के समय में और भी एक करोड़ ग्रन्थ लुप्त होकर, लाकुल के समय में ही छह करोड़ ग्रन्थ वर्त्तमान थे। उसके बाद अनुराट्, गहनेश, अब्जज और शक्रगुरु

विशेष रूप से पर्यालोचना करने से प्रतीत होता है कि प्राचीन पाशुपत-सम्प्रदाय से किसी-किसी अंश में इस नकुलीश-सम्प्रदाय की भिन्नता थी; क्योंकि **यामुनाचार्य** ने '**आगम-प्रामाण्य**' में दो वचन (पृ० २६, ४६) उद्धृत किये हैं। उनमें पाशुपत से लकुलीश के पार्थक्य का उल्लेख है। पहले श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह सब तन्त्र आपस में भिन्न हैं। इनमें से एक को दूसरे से मिलाकर देखना उचित नहीं : '**तन्त्रभेदः समुद्दिष्टः सङ्करं न समाचरेत्** ।' दूसरे श्लोक में पाशुपत से कालामुख के पार्थक्य का उल्लेख है। यह कालामुख-सम्प्रदाय लागुड का ही नामान्तर है, ऐसा लगता है; क्योंकि 'आगमप्रामाण्य' से ही प्रतीत होता है कि ये लगुड धारण करते थे एवं कपालपात्र में भोजन करते थे। कापालिक-सम्प्रदाय से भी इनका कुछ सादृश्य था।[1] मुख्य बात यह है कि कालामुख अथवा लागुड, कापालिक एवं पाशुपत—इन तीन सम्प्रदायों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। 'श्रीभाष्य' में **रामानुजाचार्य** ने शैव, पाशुपत, कापाल तथा कालामुख—इन चार शैव-सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। यहाँ भी कालामुख-सम्प्रदाय से लागुड अथवा लकुलीश-सम्प्रदाय को ही समझना होगा।

सम्भवतः, प्राचीन पाशुपत-मत ही धीरे-धीरे दो अथवा अधिक विभिन्न सम्प्रदायों में बँट गया। कापालिक तथा लकुलीश-सम्प्रदाय के दार्शनिक मत में कुछ भेद था—इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है।[2]

के समय तक ग्रन्थों की संख्या में और भी कमी हुई। तन्त्रशास्त्र के अनुसार, यह सब दिव्यगुरु के नाम हैं, सिद्धगुरु अथवा मनुष्यगुरु के नहीं। अतएव, इस दृष्टि से लाकुल-मत किसी ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष का मत नहीं, यही सिद्ध होता है। (द्रष्टव्य : K.C. Pandey : Abhinavagupta. P. 70)

१. 'कूर्मपुराण' में वाम, पाशुपत, सोम, लांगल एवं भैरव, इन सब वेदबाह्य सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। वहाँ भी पाशुपत से लांगल या लागुड का पृथक् निर्देश है। 'स्कन्दपुराण' की 'सूत्रसंहिता' (२२।३, यज्ञवैभवखण्ड) में भी कापाल, लाकुल, पाशुपत तथा सोममत पृथक् रूप से उल्लिखित हुए हैं : "कापालं लाकुलं चैव तयोर्भेदान् द्विजर्षभ। तथा पाशुपत सोमं भैरवप्रमुखागमान् ॥"

२. अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' (अ० ३७), में पाशुपत-मत को अपने अद्वैत-मत के बाद ही ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने कहा है : यह मोक्षप्रापक मार्ग है। उनके अनुसार, पाशुपत-मार्ग से उनका अपना मार्ग, इसलिए श्रेष्ठ है कि वह भोग एवं मोक्ष—दोनों का ही प्रापक है। पक्षान्तर में पाशुपत-मार्ग केवल मोक्ष का मार्ग है। अभिनव का अपना सिद्धान्त अद्वैतपरक है। परन्तु, पाशुपत-मत द्वैताद्वैतपरक तथा अष्टादश-आगममूलक है। अभिनवगुप्त ने द्वैतवादी सिद्धान्ती शैवों के मतों का खण्डन किया है। (द्रष्टव्य : K.C. Pandey : Abhinavagupta, P. 104)।

पाशुपत-मत :

पाशुपत-मत अवैदिक है, यह एक प्रकार से स्थिर-निश्चित ही है। 'महिम्नःस्तोत्र' के '**त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति**' इत्यादि श्लोकों में त्रयी पद से वैदिक मार्ग गृहीत होने पर —सांख्य, योग, पाशुपत एवं वैष्णव-मत को वेदबाह्य ही मानना पड़ता है। 'तर्कपाद' में भी यह मत वास्तव में वेदबाह्य रूप में ही प्रतिपादित हुआ है।[1] 'कूर्मपुराण' में पाशुपत-मत स्पष्टतया वेदबाह्य रूप में वर्णित हुआ है, किन्तु **अप्पय्य-दीक्षित** ने श्रीकण्ठभाष्य की 'शिवार्कमणिदीपिका' नाम की टीका (२।२।२८) में कहा है कि पाशुपत मत वैदिक और अवैदिक—दो प्रकार का है। ऐसा वर्णित हुआ है कि वह वैदिक मत प्रमाण तथा अवैदिक मत मोहशास्त्र-स्वरूप एवं अप्रमाण है : "**कूर्मपुराणे.... प्रमाणभूतं वैदिकं पाशुपतमुक्त्वा, 'वामं पाशुपतं सोम' मिति मोहशास्त्रस्वरूपमवैदिकं पाशुपत-मन्यत् सङ्कीर्त्तितम्।**" प्राचीन काल में उच्च श्रेणी के लोग भी कभी-कभी वेद तथा आगम को समान दृष्टि से देखते थे, ऐसा प्रमाण मिलता है। उनका मत यह है कि वेद तथा शिवागम दोनों ही एककर्त्तृक हैं। दोनों के निर्माता एक ही परमेश्वर हैं। उनके अनुसार, शिवागम दो प्रकार का है : १. त्रैवर्णिकविषयक, इसका नामान्तर वेद है; एवं २. निर्विशेष सर्ववर्णविषयक, इसका नाम आगम है। इस प्रसंग में **श्रीकण्ठाचार्य** ने कहा है : "**वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदेऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः तस्य तत्कर्त्तृकत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः - त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति। वेदास्त्रैवर्णिकविषयाः सर्वविषयश्चान्यः उभयोरेक एव शिवः कर्त्ता, अतः कर्त्तृसामान्यात् उभयमप्येकार्थपरं प्रमाणमेव।**" (२।२।३७)

पाशुपत पाँच पदार्थ मानते हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। जो कुछ परतन्त्र है, वह कार्य है। कार्य तीन प्रकार के हैं : १. विद्या, २. कला और ३. पशु। विद्या पशु का गुण है, विद्या परतन्त्र एवं अचेतन है। निखिल जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार-कर्त्ता स्वयं महेश्वर ही कारण हैं। वह वास्तव में, एक होते हुए भी गुणगत तथा कर्मगत भेद से विविध रूपों में उल्लिखित होते हैं। चित्त के द्वारा आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध का जो हेतु है, उसे योग कहते हैं। योग दो प्रकार का है :

---

१. 'महिम्नःस्तोत्र' में त्रयी, सांख्य, योग, पाशुपत तथा वैष्णव-मत —इस प्रकार, पंचविध प्रस्थान निर्देशित हुए हैं। 'महाभारत' के शान्तिपर्व में वैशम्पायन ने त्रयी, सांख्य, योग, पाशुपत तथा सात्त्वत (वैष्णव अथवा पांचरात्र)—ऐसे पाँच प्रकार के ज्ञान की बात कही है। 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' के बारहवें अध्याय में भी पाँच सम्प्रदायों का वर्णन है। 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' (अ० ११) के मतानुसार अपान्तरतपा (वात्स्यायन) ने तीन वेदों का, कपिल ने सांख्य का, शिव अथवा अहिर्बुध्न्य ने पाशुपत का तथा नारायण ने हिरण्यगर्भ-योग का, पांचरात्र का उद्धार किया।

१. क्रियात्मक तथा २. क्रिया का उपरम—निरोधात्मक। जिस क्रिया से धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है, वह विधि है। विधि भी दो प्रकार की है—प्रधान विधि और गुणविधि। भस्मस्नान, शयन, उपहार, जप तथा प्रदक्षिण—यही व्रत प्रधान विधि के रूप में कथित हैं। क्वाथन, स्पन्दन, मन्दन, शृंगारण, वित्कलन तथा अविद्भाषण—ये सभी गुणविधि हैं। अनुस्नान, भैक्ष्य, उच्छिष्ट-अशन, निर्माल्य-धारण आदि व्यापार भी गुणविधि के अन्तर्गत हैं। दुःखान्त भी दो प्रकार का है: १. समस्तदुःखनिवृत्ति तथा २. पारमैश्वर्य-प्राप्ति। परन्तु, पाशुपत पहले को उच्च श्रेणी का दुःखान्त नहीं मानते। वे कहते हैं, पारमैश्वर्य-प्राप्ति दुःखान्त का यथार्थ स्वरूप है। परन्तु, जबतक पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती, तबतक परमेश्वर से तादात्म्य-लाभ नहीं हो सकता। इनके मत से ईश्वर निरपेक्ष निमित्तकारण हैं। सिद्धान्ती शैवगण ईश्वर की निमित्तता को कर्म के अधीन मानते हैं; परन्तु पाशुपतों का कहना है कि परम स्वातन्त्र्य ही ईश्वर का स्वभाव है। इसलिए, ईश्वर में किसी प्रकार की कर्मसापेक्षता को अंगीकार नहीं किया जा सकता।

पांचरात्र भागवतमत :

पाशुपत की भाँति पांचरात्र[1]-मतवाद को आचार्य शंकर ने अवैदिक[2] ही

---

१. ब्रह्मसूत्र (२।२।४२–४५) के अधिकरण में शंकराचार्य नें भागवत तथा पांचरात्र इन दोनों शब्दों का पर्याय-शब्द के रूप में व्यवहार किया है। बयालीसवें सूत्र के भाष्य में उन्होंने 'तत्र भागवता मन्यन्ते' कहकर बाद के सूत्र में 'वर्णयन्ति च भागवताः' कहकर भागवत-सिद्धान्त का ही उपन्यास किया है। परन्तु, ४४वें सूत्र में 'न च पाञ्चरात्रसिद्धान्तिभिः' ऐसा कहकर पूर्वोक्त भागवत-सिद्धान्त का ही उल्लेख किया है। 'आगमप्रामाण्य' में यामुन मुनि ने भी पांचरात्र-मत को भागवत-मत से अभिन्न ही कहा है। यथा :

'तदिह भागवतं गतमत्सरा
मतमिदं विमृशन्तु विपश्चितः।' आदि।

किन्तु, रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर आदि पण्डितों का अभिमत है कि प्राचीन काल में भागवत-सम्प्रदाय और पांचरात्र-सम्प्रदाय—दोनों परस्पर भिन्न थे, परन्तु बाद में सम्मिलित हो गये। जीवगोस्वामी आदि के मत भी प्रायः ऐसे ही लगते हैं।

२. शंकर-मत में पांचरात्र-सिद्धान्त का कुछ अंश वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल माना गया है। उसे आचार्य शंकर ने उपादेय मानकर अंगीकार किया है। यथा : १. परमात्मा केवल स्वेच्छा से अनेक रूप धारण करते हैं (जो चतुर्व्यूहवाद का मूल है) एवं २. दीर्घकाल तक अनन्यचित्त होकर भगवान् का

माना है । प्रसिद्धि है कि सभी वेदों का अध्ययन करके जब महर्षि शाण्डिल्य को परमार्थ

भजन करने से क्लेश की निवृत्ति होकर भगवत्प्राप्ति या मोक्षलाभ होता है। पांचरात्र के अनुसरणकारियों के मत से अभिगमन (काय, वाक्य तथा चित्त को अवहित करके देवगृह-गमन), उपादान (पूजाद्रव्य का अर्जन या संग्रह), इज्या, स्वाध्याय (अष्टाक्षर आदि मन्त्र का जप) और योग (ध्यान) ये पाँच व्यापार ईश्वर के आराधना-स्वरूप के ही अन्तर्गत हैं। ईश्वरप्रणिधान वैदिक सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं। परन्तु, पांचरात्र-सिद्धान्त का कुछ अंश वेद-विरुद्ध है, इसलिए शंकराचार्य ने उसे ग्रहण नहीं किया। जैसा शंकर ने कहा है : पांचरात्र-मत के अनुसार, वासुदेव नाम से प्रथम व्यूह से संकर्षण नामक व्यूह की उत्पत्ति होती है। वासुदेव परमात्मा तथा संकर्षण जीवात्मा का नामान्तर है। इस प्रकार की उक्ति से सिद्ध होता है कि पांचरात्र-मत से परमात्मा से जीवात्मा की उत्पत्ति होती है। परन्तु, वैदिक सिद्धान्त से जीव नित्य है, जीव की उत्पत्ति हो ही सहीं सकती। अतएव, जीवोत्पत्तिवाद अवैदिक होने के नाते शिष्टग्राह्य नहीं है। शंकराचार्य ने भागवत तथा पांचरात्र-मत का जैसा उपन्यास किया है, उससे ज्ञात होता है कि इस मत से ईश्वर जगत् की प्रकृति एवं अधिष्ठाता, अर्थात् उपादान और निमित्त-कारण हैं। ईश्वर निरंजन, ज्ञानस्वरूप, परमार्थतत्त्व हैं। उनका साम्प्रदायिक नाम भगवान्, वासुदेव अथवा नारायण है। यह चतुर्व्यूह रूप में अपने को विभक्त करके अवस्थान करते हैं। चतुर्व्यूह के नाम हैं : १. वासुदेव (यह स्वयं भगवान् का स्वरूप है), २. संकर्षण (यह जीव है), ३. प्रद्युम्न (मन) तथा ४. अनिरुद्ध (अहंकार)। इन चारों में परमात्मा पराप्रकृति (मूलकारण) होते हैं तथा जीव आदि उनके कार्य। पांचरात्र-सिद्धान्त का शंकर-प्रदर्शित यह रूप प्रसिद्ध पांचरात्रसंहिताओं में साधारणतया नहीं मिलता; क्योंकि प्रसिद्ध पांचरात्र-आगम के अनुसार संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध भगवान् के ही रूपविशेष हैं, जीव, मन अथवा अहंकार के नामान्तर नहीं। किन्तु, 'महाभारत' के शान्तिपर्व के अन्तर्गत नारायणीय उपाख्यान में शंकर के वर्णन का कुछ-कुछ पूर्वाभास मिलता है। और, 'लक्ष्मीतन्त्र' (६।९–१४) में लिखा है कि संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध मानों क्रीडाशील वासुदेव का जीव, मन और अहंकार है। वास्तव में, संकर्षण आदि समष्टि-जीव, समष्टि-मन तथा समष्टि-अहंकार के प्रतिष्ठाता परमात्मा के ही रूप हैं। जो इस विषय में पूर्ण विवरण चाहते हैं, उन्हें आचार्य वेदान्तदेशिक के पांचरात्र-विषयक ग्रन्थ के साथ ही 'अहिर्बुध्न्यसंहिता', 'जयाख्यसंहिता' आदि पांचरात्र-ग्रन्थों को देखना चाहिए। प्रसंगतः, D. Otto Schrader द्वारा लिखित Introduction to Panchratra' नामक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ भी देखना आवश्यक है।

की प्राप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने पांचरात्रशास्त्र[१] का अध्ययन किया। उसके अनुसार, उपासना करके उन्होंने परम शान्ति लाभ की। शंकर स्वयं उसे वेदनिन्दा ही मानते हैं।[२]

---

१. आचार्य रामानुज ने वेदान्तसूत्र के पांचरात्राधिकरण की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य शंकर का मत यह है कि यह अधिकरण पांचरात्र अथवा भागवत के खण्डन के लिए वेदान्तदर्शन में गृहीत हुआ है। परन्तु, रामानुज कहते हैं: ब्रह्मसूत्रकार के मत से पांचरात्र-सिद्धान्त खण्डनीय नहीं है, प्रत्युत उन्होंने पांचरात्र-सिद्धान्त पर दूसरों के किये आक्षेपों का निराकरण किया है। निम्बार्क, केशवकाश्मीरी और मध्वाचार्य का मत यह है कि यह अधिकरण पांचरात्र के खण्डन या मण्डन के उद्देश्य से रचित नहीं हुआ है। इस अधिकरण से पांचरात्र-मत का कोई सम्पर्क ही नहीं। किन्तु, यह अधिकरण प्राचीन शक्तिवाद के खण्डन के लिए 'तर्कपाद' में युक्त हुआ है। शाक्त या शैव-सम्प्रदाय में जहाँ-जहाँ शिव तथा शक्ति का अभेद स्वीकार किया गया है, वहाँ खण्डन की आवश्यकता अनुभूत नहीं हुई; किन्तु शाक्तों में जो शक्ति के स्वातन्त्र्य को अंगीकार करते हैं, उनके मत के खण्डन के लिए इसकी उत्पत्ति हुई। R.D. Karmarkar शक्तिपक्ष को संगत मानकर उसे ग्रहण करते हैं। द्रष्टव्य: 'A Comparison of the Bhashyas of Sankar, Ramanuja, Nimbarka, Vallabha on some crucial Sutras', P. 62.

२. आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में पांचरात्र का वेदनिन्दासूचक वचन उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है: 'चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्' (ब्र० सू०, २।२।४५)। रत्नप्रभाकर ने ऐसे और भी अनेक वचन दिखाये हैं। यथा: 'एकस्यापि तन्त्राक्षरस्याध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिकः।' आनन्दगिरि ने इस प्रसंग में उपर्युक्त वाक्य के साथ एक प्रकार के अर्थविशिष्ट अन्य वचन भी उद्धृत किये हैं। यथा: 'स्वाध्यायमात्राध्येतुर्विशिष्यते भागवत-शास्त्राक्षरमात्राध्येता।' ये सब वचन कहाँ से उद्धृत हुए हैं, इसका पता नहीं चलता। किन्तु, पांचरात्र के विभिन्न स्थलों में वेद का अपकर्ष-स्थापन देखने को मिलता है। 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' (अ० ४५।१८) में है कि राजा कुशध्वज ने अपने गुरु से परा और अपरा दोनों ही विद्याएँ प्राप्त कीं और साक्षात् अग्नितुल्य पराविद्या के प्रभाव से उनके कर्म नष्ट हो गये। उक्त ग्रन्थ के ५वें अध्याय में वेद आदि अपरा-विद्या एवं पांचरात्र परमज्ञान के रूप में उल्लिखित हुए हैं। इस कथन से यही सिद्ध होता है कि इस मत से, वैदिक ज्ञान से कर्म की निवृत्ति नहीं हो सकती। किन्हीं-किन्हीं के मत से गीता भी एकायन-शास्त्र के अन्तर्गत है, अतएव पांचरात्र के सिद्धान्त से उसका सिद्धान्त भिन्न

पांचरात्र-मत बहुत प्राचीन है; क्योंकि महाभारत के शान्तिपर्व में इस मत का उल्लेख है। यह मत सम्पूर्णतया वैदिक था या नहीं, कहा नहीं जा सकता। किसी-किसी प्रसंग में यह वेद के सारांश-रूप में वर्णित है। 'ईश्वरसंहिता' में है कि द्वापर युग के अन्त और कलियुग के प्रारम्भ में महामुनि शाण्डिल्य ने तोताद्रिशिखर पर समाहितचित्त होकर कठिन तपस्या द्वारा साक्षात् संकर्षण से एकायन नामक वेद प्राप्त किया और सुमन्त, जैमिनि, भृगु, उपगायन तथा मौंजायन को उसकी शिक्षा दी। मुमुक्षुओं के लिए यही विद्या एकमात्र उपाय है, इसीलिए इसका नाम पड़ा है एकायन। संसारी जीवों के उपकार के लिए मूल वेद के अनुसरण से सात्त्वत, पौष्कर, जयाख्य आदि एकायन-शास्त्र रचित हुए थे। 'ईश्वरसंहिता' के दूसरे प्रकरण में कहा गया है कि शाण्डिल्य, उपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भरद्वाज नामक योगियों ने तोताद्रि में तपस्या करके एकायन नाम से प्रसिद्ध रहस्याम्नाय-संज्ञक आदिवेद प्राप्त किया। पांचरात्र शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न स्थानों में

नहीं। 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' आदि स्थलों पर वेद अथवा वैदिक कर्म की निन्दा का जो आभास देखने को मिलता है, उससे ऐसा समझना होगा। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीता के इस वचन की सहायता से भी पांचरात्र का या एकायन-शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषयप्रपत्ति या शरणागति ही उपदिष्ट हुआ है। कतिपय विचारकों के मत से सर्वधर्मत्याग का अर्थ अनेक प्रकार के वैदिक कर्म का त्याग समझना चाहिए। 'विष्वक्सेनसंहिता' में भगवान् के वचनरूप में स्पष्ट ही लिखा है कि, 'त्रयीमार्गेषु-निष्णातः फलवादे रमन्ति ते। देवादीनेव मन्वाना न तु मां मेनिरे परम्॥' यहाँ 'त्रयी' शब्द से वेद को ही लेना होगा; क्योंकि उसी ग्रन्थ में 'वेदनिष्णात' तथा 'वेदान्तनिष्णात'—इस प्रकार वेद और वेदान्त में परस्पर विभिन्नता दिखाई गई है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के भूमविद्या-प्रसंग में नारद-सनत्कुमार-संवाद (७।१) में भी ऐसा ही प्रतीत होता है। वहाँ सम्पूर्ण वेद एवं सारे शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी नारद कहते हैं, मैंने मन्त्रज्ञान ही प्राप्त किया है, आत्मज्ञान-लाभ नहीं किया। परन्तु, आत्मज्ञान के बिना दुःख की निवृत्ति नहीं होती। वस्तुतः, यह निन्दा नहीं है। रामानुज ने भी उसकी ऐसी ही व्याख्या की है। शंकर के इस कथन का मूल क्या है, यह कहना कठिन है। पांचरात्रसंहिताओं में—कपिंजल, विष्णु एवं हयशीर्ष-संहिताओं में तथा 'अग्निपुराण' में भी 'शाण्डिल्यसंहिता' की चर्चा आई है। एक अन्य शाण्डिल्यसंहिता भी है, जो वाराणसी संस्कृत-कॉलेज की ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई है। भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य भी पांचरात्र-सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' में 'शाण्डिल्यसंहिता' के एक वचन को उद्धृत किया है, परन्तु, वह पूर्वोक्त 'शाण्डिल्यसंहिता' का है या नहीं, कहना कठिन है।

विभिन्न प्रकार से की गई है। यहाँ उसका उल्लेख निष्प्रयोजन है। पाद्म तथा ईश्वर-संहिता के अनुसार, पांचरात्र-शास्त्र चार भागों में बँटा हुआ है : १. आगमसिद्धान्त, २. मन्त्रसिद्धान्त, ३. तन्त्रसिद्धान्त और ४. तन्त्रान्तरसिद्धान्त। पांचरात्र में कितनी संहिताएँ हैं, यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। 'कपिंजलसंहिता' के अनुसार पांचरात्रसंहिताओं की संख्या १०६, 'पाद्मसंहिता' के अनुसार ११२, 'विष्णुतन्त्र' के अनुसार १४१, 'हयशीर्षसंहिता' के मत से ३४ तथा 'अग्निपुराण' (अध्याय ३९) के अनुसार २५ हैं। नारदपांचरात्र में केवल सात संहिताओं का निर्देश है। कुल मिलाकर तथा उसमें और भी कुछ जोड़कर Dr. Schrader ने उनकी एक सूची तैयार की है।[1]

प्राचीन अद्वैतवाद से शंकर के अद्वैतवाद का सम्बन्ध :

अद्वैतवाद भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलित है। उपनिषदों में जहाँ-तहाँ अद्वैतपरक श्रुतियाँ देखी जाती हैं। मन्त्रसंहिताओं में अद्वैत-मत को व्यक्त करने का अवकाश नहीं होते हुए भी अनेक स्थानों में इस प्रसंग का स्पष्ट आभास मिलता है। 'महाभारत' आदि ग्रन्थों में अन्यान्य मतों की तरह अद्वैतवाद का भी परिचय मिलता है। प्राचीन वेदान्तसूत्रकारों में कोई-कोई अद्वैतवादी थे, यह सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। इसके सिवा बौद्धमत में माध्यमिक तथा योगाचारी अद्वैतवादी थे। इसीलिए, बुद्ध का एक नाम अद्वयवादी था। वैयाकरण, शाक्त, शैव—ये सभी अद्वैतवाद को स्वीकार करते थे। शंकर से पहले वेदान्त में भी अद्वैतवाद अपरिचित नहीं था। **मण्डनमिश्र** ने 'ब्रह्मसिद्धि' में अद्वैतवाद का ही समर्थन किया है। दिगम्बराचार्य **समन्तभद्र** ने 'आप्तमीमांसा' (श्लोक २४) में अद्वैत-पक्ष का उल्लेख किया है :

> **अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि वृष्टो भेदो विरुध्यते।**
> **कारकाणां क्रिययोश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ॥**

समन्तभद्र शंकर से प्राचीन थे। इससे लगता है, अद्वैतवाद शंकर से प्राचीन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। **शान्तरक्षित** ने 'तत्त्वसंग्रह' (३२८-३२९) में प्राचीन अद्वैतमत का वर्णन किया है। **कमलशील** ने इनका **'अद्वैतदर्शनावलम्बिनश्चौपनिषदिकाः'** कहकर उल्लेख किया है। शान्तरक्षित की उक्ति है :

> **नित्यज्ञानविवर्त्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकम्।**
> **आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः ॥**
> **ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।**
> **विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्षते ॥**[2]

---

१. **द्रष्टव्य :** F. O. Schrader : 'Introduction to the Panchratra', PP. 5, 6–12.

२. प्रज्ञाकरमति ने शान्तिदेव-कृत 'बोधिचर्यावतार' की अपनी पंजिका-टीका में इस श्लोक को उद्धृत किया है। परन्तु, इसमें कुछ पाठभेद है।

इन कारिकाओं की व्याख्या के प्रसंग में **कमलशील** ने कहा है : 'क्षिति आदि प्रपंच-विज्ञान प्रतिभासस्वरूप है।' **शान्तरक्षित** की उक्ति से प्रतीत होता है कि उनके मत से विवर्त्त और परिणाम—ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं; क्योंकि उन्होंने पहले श्लोक में क्षिति आदि को नित्यज्ञान का विवर्त्त कहकर दूसरे श्लोक में उन्हें विज्ञानपरिणाम कहा है। इस मत से आत्मा नित्यज्ञान-रूप तथा क्षिति आदि जगत् इसका परिणाम या विवर्त्त है। **भवभूति** भी इस प्राचीन विवर्त्तवाद को जानते थे। 'उत्तररामचरित' में उन्होंने कहा है : **'ब्रह्मणीव विवर्त्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः।'** इस उक्ति से ज्ञात होता है कि विवर्त्त ब्रह्म में लीन होता है और उसी से आविर्भूत होता है। उनकी दृष्टि से विवर्त्त और परिणाम एकार्थक हैं। **'एको रसः करुण एव विवर्त्तभेदात्'** आदि श्लोकों से भी प्रमाणित होता है कि 'विवर्त्त' शब्द के नवीन वेदान्तसम्मत अर्थ का उन्हें पता नहीं था। **कुमारिल-भट्ट** ने भी 'श्लोकवार्त्तिक' में वेदान्त के अद्वैतवाद का उल्लेख किया है। 'योगवाशिष्ठ-रामायण' का रचनाकाल परिज्ञात नहीं। यदि इसका रचनाकाल शंकर से पहले माना जाय (जिसके प्रतिपादन की चेष्टा **डॉ० भीखनलाल आत्रेय** ने विशेष रूप से की है), तो उनके अद्वैतवाद को प्राचीन अद्वैतवाद का प्रकार-भेद मानना होगा।

किन्तु, यह सब अद्वैतवाद एक प्रकार का नहीं। माध्यमिकों का शून्याद्वयवाद, योगाचारियों का विज्ञानाद्वयवाद, शाक्तों का शक्त्यद्वयवाद, वैयाकरणों का तथा मण्डनमिश्र-सम्मत प्राचीन वैदान्तिकों का शब्दाद्वयवाद—यद्यपि ये सारे ही अद्वैतवाद हैं, तथापि इनमें परस्पर कुछ-न-कुछ वैशिष्ट्य है। शंकर तथा उनके परम गुरु **आचार्य गौडपाद** द्वारा प्रचारित अद्वैत, इन सब अद्वैतवादों से किसी-किसी अंश में विलक्षण है। पूर्वोक्त मतों में किसी मत का प्रभाव शंकर पर पड़ा है या नहीं, यह कहना कठिन है। किन्तु, अन्य मत का प्रभाव स्वीकार करने पर भी यह अवश्य ही अंगीकार करना होगा कि शंकर के मत में अन्य मतों की अपेक्षा असाधारण वैशिष्ट्य है।

कतिपय पण्डितों का विश्वास है कि बौद्धमत का अनुसरण करने के क्रम में शंकर ने बौद्धमत का खण्डन किया है। **'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च'** आदि पौराणिक वचन इस मत के परिपोषक हैं। ये कहते हैं : गौडपाद की कारिकाओं की विशेष रूप से पर्यालोचना करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि यह ग्रन्थ वास्तव में औपनिषद ब्रह्मवाद की स्थापना के लिए ही प्रवृत्त हुआ था, तथापि भाव एवं भाषा में यह आदि से अन्त तक माध्यमिक दर्शन के प्रभाव से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में आत्मा के विषय में अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, नास्ति-नास्ति—इस चतुष्कोटि या चतुर्विध प्रकार का उल्लेख है :

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष बालिशः॥
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥

इसका सारांश यह है कि आत्मासत्, असत्, सदसदुभयात्मक तथा सदसद्-विलक्षण—इन चार प्रकारों में से किसी प्रकार द्वारा स्पृष्ट नहीं है। ऐसी चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त आत्मा का जिन्होंने साक्षात्कार किया है, वही सर्वदर्शी अथवा सर्वज्ञ रूप में आख्यात होने के योग्य हैं। गौडपाद के बहुत पहले नागार्जुन ने भी 'माध्यमिककारिका' में यही बात कही हैं :

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

गौडपाद की उक्ति नागार्जुन के इस कथन की प्रतिध्वनि-मात्र है। नागार्जुन तथा गौडपाद—दोनों ही परमार्थतत्त्व को चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त कहते हैं। इसी का अनुसरण करके नैषधकार श्रीहर्ष ने भी कहा है :

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड् विमतौ मतानाम्-
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥ (नैषध०, १३।३६)

अद्वैतशिरोमणि खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधचरित' (२१।८८) में बुद्ध को भी विधूतकोटिचतुष्क एवं अद्वयवादी के रूप में वर्णित किया है।[1] इस वर्णन के अनुसार, शून्यवादी का शून्य अथवा तत्त्व तथा आचार्य गौडपाद की आत्मा प्रायः एक ही प्रकार के हैं। इन समालोचकों का कहना है कि गौडपाद का अजातवाद भी नागार्जुन-रचित माध्यमिककारिकामूलक ही है। नागार्जुन ने कहा है :

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥

(द्रष्टव्य : 'माध्यमिकवृत्ति', पृ० १२, 'Bibliotheca Buddhica' में Professor Poussin का संस्करण)

गौडपाद ने 'अलातशान्तिप्रकरण' में कहा है :

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते॥

माध्यमिक-मत से परमार्थतत्त्व जैसे मन, वाक्य और प्रपंच के अतीत है, शंकर-मत में भी इस अंश में वह ठीक वैसा ही है। सभी वस्तुओं का मायिकत्व तथा स्वाप्नत्व दोनों ही दर्शनों में समान रूप से स्वीकार किया गया है। सत्ता का पारमार्थिक एवं व्यावहारिक रूप में विभाग, जो शंकर-दर्शन में मिलता है, वह बौद्धदर्शन के ही आधार से प्रचलित हुआ है, ऐसा लगता है। बौद्धों की परमार्थ-सत्ता तथा व्यावहारिक सत्ता, ऐसा

---

१. एकचित्ततितिरद्वयवादिन त्रयी परिचितोऽथ बुद्धस्त्वम्।
पाहि मां विधूतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः॥

सत्ताभेद बहुत प्राचीन पालि-साहित्य में ही प्राप्त होता है। ऐसा भेद और किसी दर्शन में नहीं है। इसके अतिरिक्त, 'माण्डूक्यकारिका' में ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है, जिसका उल्लेख केवल बौद्धदर्शन के ही ग्रन्थों में उपलब्ध है। इन विषयों की सूक्ष्म पर्यालोचना करके आधुनिक पण्डितों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि शांकरदर्शन बौद्धशून्यवाद का ही औपनिषद संस्करण-मात्र है।[1]

इसके विपरीत, कतिपय पण्डितों का मत यह है कि अत्यन्त प्राचीन शिवाद्वयवाद का अवलम्बन करके शंकराचार्य ने अपने मत की स्थापना की थी। ऐसी प्रसिद्धि है कि उन्होंने अट्ठारह बार 'सूतसंहिता' की आलोचना करके 'शारीरकभाष्य' की रचना की थी :

तामष्टादशधालोच्य शङ्करः सूतसंहिताम्।
चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्ववेदान्तनिर्णयम्॥

'सूतसंहिता' प्राचीन शिवाद्वैत-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसके भाष्यकार माधव-मन्त्री सुप्रसिद्ध शैवाचार्य क्रियाशक्ति पण्डित के शिष्य थे। शंकर के 'दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र' तथा सुरेश्वर-कृत वार्त्तिक की आलोचना से ज्ञात होता है कि शिवागम से शंकर का विशेष परिचय था। अतएव, शंकर के अद्वैत का शिवागम से प्रभावित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इन अद्वैत-सिद्धान्तों का ज्ञान शंकर को अवश्य ही था और यह भी सम्भव है कि इनमें किसी-किसी सिद्धान्त का अल्पाधिक प्रभाव भी उनपर पड़ा था। किन्तु, शंकर ने इनमें किस मत का अवलम्बन करके अपने अद्वैतवाद का प्रचार किया, यह स्वीकार करना किसी प्रकार से संगत नहीं होगा। शंकर जैसे महाज्ञानी और महायोगी पुरुष ऐसा आचरण क्यों करेंगे? देश की जैसी अवस्था में जैसे भाव और पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन रहता है, उस समय के रचे ग्रन्थों एवं चिन्ताशील व्यक्तियों के चित्त में उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। यह वस्तुतः ज्ञानपूर्वक आदान-प्रदान का व्यापार नहीं।[2]

---

१. 'Is the Advaita of Shankar Buddhism in disguise' नामक प्रबन्ध (Quarterly Journal of Mythic Society, Vol. 24, No. 1-2, July–October, 1933) में यह देखने की चेष्टा की गई है कि शंकर के अद्वैतवाद का आधार बौद्धों का विज्ञानवाद या शून्यवाद नहीं, बल्कि प्राचीन अद्वैतवाद है।

२. जिन्होंने व्यासदेव के पातंजल-भाष्य तथा बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों का विशेष अध्ययन किया है, उनकी दृष्टि में दोनों में विशेष सादृश्य प्रतिभात होता है। दृष्टान्तस्वरूप, 'भवप्रत्यय' तथा 'उपायप्रत्यय' इन दोनों ही स्थलों में 'प्रत्यय' शब्द, 'अनाभोग' शब्द, 'धर्ममेघ' शब्द, भुवनज्ञानविषयक सूत्र के भाष्य में वर्णित विभिन्न प्रकार के देवताओं की संज्ञा, 'परिणाम', 'ताप' और 'संस्कार'-भेद से त्रिविध दुःख के नाम, 'निर्माणचित्त' तथा 'निर्माणकाय' का उल्लेख किया जा सकता है।

यहाँ हम अनेक प्रकार से अद्वैतवाद का संक्षेप में परिचय देने का प्रयास करेंगे। इससे अवगत होकर शंकर-मत के अभिज्ञ पाठक उन अनेक मतों से शंकर के मत की पृथक्ता का निर्धारण कर सकेंगे।

बौद्ध अद्वयवाद :

बौद्धों में शून्यवाद और विज्ञानवाद क्रम से माध्यमिक एवं योगाचार-सम्प्रदाय का सिद्धान्त है। अद्वैतवाद इन दोनों वादों का प्राणस्वरूप है।[1] शून्यवाद प्राचीन मत है। **नागार्जुन** एवं उनके अनुगामी **आर्यदेव** आदि आचार्यों ने प्रज्ञापारमिता आदि शास्त्रों का अवलम्बन करके उसका प्रचार किया था। इनका अभिप्राय है कि—सत्, असत् आदि चार प्रकार की कोटियों से भिन्न निर्विकल्पक, निष्प्रपंच, आकाश की भाँति निर्लेप तथा असंग सत्य ही शून्यपदवाच्य है। वह अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत आदि विशेषणों द्वारा वर्णित होता है। वही पारमार्थिक सत्य तथा बुद्धि के अगोचर है। सत्य का एक दूसरा स्वरूप भी है, वह बुद्धि अथवा संवृति नाम से परिचित है।[2] बुद्धिमात्र ही विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होता है, इसलिए अविद्यात्मक है। अविद्या संवृति का ही नामान्तर है। अतएव, यह निश्चित होता है कि बुद्धि में ऐसा कोई सामर्थ्य नहीं, जिसके बल से वह पारमार्थिक सत्य को यथार्थ रूप में ग्रहण कर सके। वास्तविक बात तो यह है कि पारमार्थिक पदार्थ सांवृतिक ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकता। जो पदार्थ

---

१. 'बोधिचित्तविवरण' में लिखा है : बुद्धदेव शिष्यों की योग्यता के अनुसार उन्हें उपदेश देते थे। जिनकी जैसी शक्ति देखते थे, उन्हें वैसा ही उपदेश देते थे। किन्तु, उपदेशगत ऐसा भेदभाव केवल आपाततः प्रतीत होता है; क्योंकि उपदेष्टा का तात्पर्य शून्याद्वयवाद में ही निहित था। जैसे : "भिन्नाऽपि देशनाऽभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणाः।" किन्तु, 'बोधिचित्तविवरण' माध्यमिक-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। माध्यमिक जिस दृष्टि से इसका मर्मार्थ लेते हैं, योगाचारी ठीक उसी अभिप्राय से इसे अंगीकार नहीं करते।

२. 'आर्यसत्त्वावतार' तथा 'पितापुत्रसमागम' में साक्षात् बुद्धदेव के वचन-रूप में पूर्वोक्त दोनों प्रकार के सत्य का वर्णन मिलता है। उसमें पहले लिखा है : जो परसत्य है, वह काय, मन तथा वाक्य के अगोचर 'सर्वव्यवहारसमतिक्रान्त' तथा निर्विशेष है। उसका उद्भव और निरोध नहीं होता, अभिधेय-अभिधान-सम्बन्ध एवं ज्ञेय-ज्ञान आदि कारकभेद भी उसमें नहीं। 'पितापुत्रसमागम' में स्पष्ट लिखा है कि दोनों सत्य ही ज्ञेय हैं। बुद्धदेव ने इन दोनों का ही शून्य रूप में ही साक्षात् किया था। इसीलिए, वह सर्वज्ञ होने में समर्थ हुए थे। परमार्थ सत्य माध्यमिक ग्रन्थों में अनभिलाप्य, अनाज्ञेय, अपरिज्ञेय, अदेशित, अप्रकाशित तथा अक्रियात्मक निषेध-रूप में वर्णित हुआ है।

सांवृतिक ज्ञान का विषय होता है, वह परमार्थ से भिन्न है। अविद्या या संवृति का कहीं-कहीं मोह अथवा विपर्यास-रूप में भी वर्णन मिलता है। 'आर्यशालिस्तम्बसूत्र' में इस तत्त्व को अप्रतिपत्ति, मिथ्याप्रतिपत्ति तथा अज्ञान शब्द से वर्णित किया गया है। माध्यमिक इस अविद्या के दो प्रकार के कार्यों को अंगीकार करते हैं : १. स्वभावदर्शन का आवरण और २. असत्पदार्थरूप का आरोपण :

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्त्तते।
अविद्या जायमानेव कामलातङ्कवृत्तिवत् ॥

यही अविद्या का वर्णन है।[1]

संवृति दो प्रकार की है : १. तथ्य-संवृति—प्रतीत्यसमुत्पन्न घट, पट आदि वस्तुओं का स्वरूप जिस समय अदुष्ट इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होता है, उस समय की लौकिक दृष्टि से वह सत्य रूप में स्वीकृत होता है—यही तथ्य-संवृति है। २. मिथ्या-संवृति—माया-मरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि प्रतीत्यजात होते हुए भी जब दुष्ट इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होते हैं, तब लौकिक दृष्टि से वे मिथ्या अभिहित होते हैं, इसी का नाम मिथ्या-संवृति है। संवृतिसत्य का स्वरूप लौकिक दृष्टि में अवितथ, अर्थात् सत्य ही है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह सत्य नहीं। इसलिए, यदि उसे किसी प्रकार से सत्य कहा गया हो, तो भी परमार्थ-सत्य एवं तत्त्व में उसकी परिगणना नहीं हो सकती। पारमार्थिक सत्य आर्यगण तथा योगियों के लिए विसंवादशून्य सत्य है। इन दोनों सत्य का अवलम्बन करके ही बुद्ध जीव को कर्मोपदेश देते हैं।[2] बाह्य अथवा आध्यात्मिक—सभी पदार्थों का ही दो प्रकार का स्वभाव है : १. सांवृतिक और २. पारमार्थिक।[3] इनमें एक ही सत्ता साधारण लोगों में मिथ्यादर्शन के विषय-रूप में प्रकाशित होती है। ये सारे साधारण व्यक्ति अभूतार्थदर्शी होते हैं; क्योंकि उनके बुद्धिनेत्र अविद्यारूपी अन्धकार से आच्छन्न रहते हैं। दूसरी सत्ता तत्त्वविद् आर्यों के निकट सम्यग्दर्शन के विषय-रूप में आविर्भूत होती है। इनके सम्यक् ज्ञान-रूपी नेत्र विवेकज्ञान-रूपी अंजनशलाका से छिन्न होने के कारण उन्मीलित रहते हैं।

दुःख, समुदय (दुःख का कारण), निरोध (दुःखनिवृत्ति) तथा मार्ग (दुःख की निवृत्ति का उपाय), ये चतुर्विध आर्यसत्य वास्तव में दो प्रकार के हैं; क्योंकि दुःख, समुदय एवं मार्ग—ये तीन संवृतिस्वभाववश संवृतिसत्य के अन्तर्गत हैं। एकमात्र निरोध परमार्थ सत्य है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि दोनों ही सत्य वास्तविक

---

१. द्रष्टव्य : प्रज्ञाकरमति-कृत 'बोधिचर्यावतारपंजिका', पृ० ३५२।

२. द्रष्टव्य : मध्यमकमूल, २४।८।

३. सम्यङ्मृषालब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः।
सम्यग्दृशां यो विषयः स सत्यं मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम् ॥
(मध्यमकावतार, ६।२२)

नहीं हैं; क्योंकि संवृति को लौकिक प्रतीति के अनुरोध से ही सत्य कहा गया है। वास्तव में, परमार्थ ही एकमात्र सत्य है : 'वस्तुतस्तु परमार्थ एव एकं सत्यम्, अतो न काचित् क्षतिः। यथोक्तं भगवता--एकमेव भिक्षवः ! परं सत्यं यदुताप्रमोषधर्मनिर्वाणं सर्वसंस्काराश्च मृषामोषधर्माणः।' अतएव, सिद्ध होता है कि माध्यमिक-मत से वास्तव में अद्वय ही तत्त्व है। वह यद्यपि अवाच्य है, तथापि दृष्टान्त के द्वारा उसका वर्णन किया जाता है :

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः॥

व्यवहार के आधार से परमार्थ का उपदेश किया जाता है। परमार्थ की उपलब्धि होने से निर्वाण-प्राप्ति होती है। परमार्थ सत्य आर्यगण के लिए संविदितस्वभाव है, इसलिए उसे प्रत्यात्मबोध कहते हैं। एकमात्र योगी ही उसके ज्ञाता होते हैं। परन्तु, सांवृतिक सत्य के ज्ञाता प्राकृतजन होते हैं।[1] सर्वधर्मानुपलम्भरूप समाधि ही 'योगपदवाच्य' होती है। उसी समाधि से सम्पन्न व्यक्ति को माध्यमिकशास्त्र में योगी कहा गया है। प्राकृतजनों का अनुभव, योगियों के अनुभव से बाधित होता है। निर्मलतावश योगी के ज्ञाननेत्र अनास्रवज्ञानमय होते हैं, किन्तु यह स्मरणीय है कि यद्यपि शुद्ध होने के कारण योगी का ज्ञान प्राकृतजन के ज्ञान को बाधित करता है, तथापि योगियों में भी परस्पर तारतम्य है। इसमें हेतु यह है कि सभी योगियों की प्रज्ञा अथवा समाधि-सम्पत्ति का प्रकर्ष समान नहीं होता। जिनके ज्ञाननेत्र से जितना ही आवरण उन्मुक्त हुआ होता है, उनमें उतना ही अधिक उत्कर्ष होता है। जैसे, प्रमुदिता भूमि (प्रथम भूमिका) के ज्ञान आदि से विमला भूमि के ज्ञान आदि अधिक उत्कृष्ट हैं। ध्यान के समय भी यही समझना चाहिए।

यह अद्वय परमार्थ सत्य ही शून्यवादियों के धार्मिक साहित्य में तथागतधर्म के नाम से प्रसिद्ध है। जितने भी स्वहित एवं परहित हैं, सबका यही एकमात्र आधार है। क्योंकि, जबतक इसका आश्रय नहीं मिलता है, तबतक न तो अपना कल्याण होता है, न दूसरों के कल्याणसाधन का सामर्थ्य आता है। वह अविद्या के द्वारा अस्पृष्ट होता है, इसलिए सब प्रकार के मल से विमुक्त होता है। एक ओर क्लेशरूप आवरण से एवं दूसरी ओर ज्ञेयरूप आवरण से वह मुक्त होता है। पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य —ये दो नैरात्म्यों की प्राप्ति ही उसका स्वभाव है।

सम्यक् सम्बोधि के विना इस अद्वय-तत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् सम्बोधि-लाभ के लिए प्रज्ञा की आवश्यकता है। बौद्ध कहते हैं कि शुष्क प्रज्ञा के द्वारा कोई लाभ नहीं होता। पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार से ही प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। दान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकालीन अभ्यास के प्रभाव से पुण्यसम्भार का उदय होता है। इन दोनों से विशुद्ध प्रज्ञा का उन्मेष होता है। धीरे-धीरे प्रज्ञा की निर्मलता का

१. संसारप्रवर्तक अविद्या तृष्णा को प्रकृति कहते हैं।

सम्पादन करना होता है। प्राथमिक प्रज्ञा हेतु अथवा साधनस्वरूप और उसके फलस्वरूप यथार्थ प्रज्ञा का विकास होता है। साधनप्रज्ञा भी पहले श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी रूप में प्रकटित होती है। इस अवस्था में साधक को 'अधिमुक्तचरित' कहा जाता है। इसके बाद अपरोक्ष ज्ञान के आविर्भाव के साथ प्रज्ञा बोधिसत्त्व-भूमि में प्रविष्ट होकर क्रमशः निम्नवर्त्ती भूमियों के परिहार द्वारा ऊर्ध्वभूमि प्राप्त करके प्रकृष्टता प्राप्त करती है। पर्यवसान में, अर्थात् अन्तिम भूमि में राग आदि पंचक्लेश-रूप क्लेशावरण तथा पंचविध ज्ञेयावरण के दूर होने से बोधिसत्त्वभूमि अतिक्रान्त होती है। इसके बाद ही द्वैतभाव की परिसमाप्ति हो जाती है और फलभूत बुद्धत्वरूप अद्वैत प्रज्ञा आविर्भूत होती है।

साधारणतया बोधिसत्त्वभूमि दस प्रकार की अंगीकृत होती है।[1] बुद्धत्व ही प्रज्ञा का आत्यन्तिक उत्कर्ष है। आध्यात्मिक साधक इस प्रज्ञा को सर्वाकारोपेत, सर्वधर्म-

१. बोधिसत्त्वभूमियाँ कुल कितनी हैं; इस विषय में सन्देह है। महायान-साहित्य में प्रायः दस प्रकार की भूमि स्वीकृत हुई है। 'दशभूमिसूत्र' में इसका विशेष विवरण मिल सकता है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती एवं धर्ममेघा—इन दस भूमियों के बाद तथागत-भाव का, अर्थात् बुद्धत्व का विकास होता है। प्रथम भूमि में विशेष रूप से दानपारमिता, द्वितीय भूमि में शीलपारमिता तथा तृतीय भूमि में क्षान्तिपारमिता का अभ्यास करना होता है। इस तृतीय भूमि में चार प्रकार का रूपध्यान, चार प्रकार की आरूप्य-समापत्ति, चार प्रकार के ब्रह्मविहार तथा पाँच प्रकार की अभिज्ञा का लाभ होता है। कामास्रव, भवास्रव एवं अविद्यास्रव दूर हो जाता है। चतुर्थ भूमि में ३७ बोधिपक्ष-धर्म एवं वीर्यपारमिता का अभ्यास करना चाहिए। पंचम एवं षष्ठ भूमि में ध्यान एवं प्रज्ञापारमिता का अभ्यास आवश्यक है। षष्ठ भूमि में ही योगी प्रतीत्यसमुत्पाद–कार्यकारणभाव का स्वरूप अवगत करने में समर्थ होते हैं। उस अवस्था में संसार तथा निर्वाण दोनों ही ओर चित्त का आभिमुख्य रहता है। सप्तम भूमि में योगी को ज्ञात होता है कि सभी बुद्ध धर्मातुर दृष्टि से एक अद्वैत एवं अखण्ड तत्त्व हैं। बुद्ध के अनन्त गुण उनसे प्रकाशित होते रहते हैं। असंख्य स्थानों में वह अपना असंख्य शरीर देखते रहते हैं। इस भूमि में दस पारमिता का अनुशीलन प्रत्येक क्षण होता रहता है। यहाँ शीलाभ्यास की समाप्ति होकर मुक्ति प्राप्त होती है। इच्छा करने से बोधिसत्त्व उसी समय निर्वाण में प्रवेश कर सकते हैं। परन्तु, सम्पूर्ण जगत् का कल्याण करना ही उनके जीवन का चरम उद्देश्य है। इसलिए, वह निर्वाण नहीं ग्रहण करते, अनन्त बुद्धज्ञान में प्रविष्ट हो जाते हैं। उसी समय चार प्रकार के विपर्यास उनसे निवृत्त होते हैं। उसी समय उपायकौशल्य-पारमिता का अभ्यास होता रहता है। अष्टम भूमि में आनुपातिक धर्म-क्षान्ति की प्राप्ति होती है,

शून्यताधिगम-स्वभाव एवं निर्विकल्पक कहते हैं। यह अवस्था प्राप्त होने पर स्वदुःख एवं परदुःख सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। समस्त धर्म स्वभावहीन है, यही शून्यता है। बुद्ध की अवस्था प्राप्त नहीं होने से इसकी यथार्थ उपलब्धि नहीं हो सकती।

शून्यवाद के बाद विज्ञानवाद ने विशिष्ट दार्शनिक प्रस्थान में स्थान प्राप्त किया है। परन्तु, विज्ञानवाद का सिद्धान्त 'लंकावतारसूत्र', 'सन्धिनिर्मोचनसूत्र' आदि ग्रन्थों में पहले से ही किसी-न-किसी प्रकार विद्यमान था। साधारणतः, **मैत्रेयनाथ** एवं **आचार्य असंग** विज्ञानवाद के विशिष्ट प्रचारक के रूप में स्वीकृत हुए। बाद में, असंग के **भाई वसुबन्धु** भी वैभाषिक सिद्धान्त छोड़कर योगाचार-मत ग्रहण करके विज्ञानवाद के प्रचार में तत्पर हुए थे।

'लंकावतार' में भी परमार्थ एव संवृति का भेद प्रदर्शित हुआ है, परन्तु **नागार्जुन** के माध्यमिक-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस विषय में जितना सूक्ष्म विचार किया गया है, 'लंकावतार' में उतना सूक्ष्म विचार नहीं मिलता। संवृति-सत्य परिकल्पित एवं परतन्त्र सत्यस्वभाव से सम्पृक्त है। इन दो प्रकार के ज्ञान के बाद परिनिष्पन्न ज्ञान का उदय होता है, जिससे परमार्थ सत्य का सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। परमार्थ का दूसरा नाम है भूतकोटि, संवृति उसी का प्रतिबिम्बमात्र है। लंकावतार-मत से बुद्धि दो प्रकार की मानी गई है : १. परिचयबुद्धि और २. प्रतिष्ठापिका बुद्धि। परिचयबुद्धि के द्वारा परमार्थतत्त्व गृहीत होता है। सकल पदार्थ सत्, असत् आदि चार प्रकार के

जिसके प्रभाव से किसी प्रकार का कर्म उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता। इस अवस्था में चारों ओर के बुद्ध आकर उन्हें अनन्त ज्ञान में दीक्षित करते हैं। उसी दीक्षा के बल से ही वह परोपकार करने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। अन्यथा, निर्वाण से रक्षा, उनके लिए असम्भव हो पड़ता है। इस भूमि में सभी प्रकार के वशित्व प्राप्त होते हैं तथा प्रणिधानपारमिता का अभ्यास चलता रहता है। नवम भूमि में योगी क्रमशः और आगे बढ़ते रहते हैं। उस समय योगी चतुर्विध प्रतिसंविद् को प्राप्त करके अनेक प्रकार की समाधि को स्वयं आयत्त करते हैं। धारणा में इस प्रकार उनकी आत्मरक्षा होती है तथा बहुपारमिता का अभ्यास चलता रहता है। इसके बाद दशम या अन्तिम भूमि में उनकी अभिषेक-क्रिया निष्पन्न होती है। उस समय वह दिव्य, उज्ज्वल देह प्राप्त करते हैं, रत्नमण्डित दिव्य कमल पर उनका आसन स्थापित होता है और उनकी विशुद्ध ज्योतिर्मय देह से रश्मियाँ छिटकती रहती हैं, जिसके प्रभाव से जीव के दुःख की निवृत्ति होती है। असंख्य निर्माण-काय से वह उपदेश देते हैं और ज्ञानपारमिता का अभ्यास चलता रहता है। इस भूमि को पार करने पर उन्हें 'दशभूमीश्वर' कहा जाता है। यही बुद्धत्व-लाभ है, इसी का दूसरा नाम पूर्णता है।

विभागों से मुक्त, अर्थात् चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त हैं। प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेदप्रपंच आभासित होता है और सत् रूप में प्रतीत होता है। यह आपेक्षिक है। इसे प्रतिष्ठापन-व्यापार-समारोप कहते हैं। लक्षण, इष्ट, हेतु एवं भाव —इन चार का आरोप होता है, जिसके प्रभाव से विवाद और विरोध का सूत्रपात होता रहता है। अतएव, दोनों पक्षों के बाहर अवस्थान और द्वन्द्वातीत होने के निमित्त, योगी के लिए प्रतिष्ठापिका बुद्धि का अतिक्रमण करके ऊपर जाना आवश्यक है। परतन्त्र स्वभाव की क्रिया बाह्यसत्य-सापेक्ष है। किन्तु, वह परिकल्पित, केवल अमूलक कल्पनामात्र है। परतन्त्र इतना दूषणीय नहीं है, किन्तु परिकल्पित सम्बन्ध से दोष का आविर्भाव होता है। इन दोनों का स्वभाव एक दूसरे के अधीन है। परतन्त्रलक्षण स्वयम्भूत नहीं, किन्तु हेतुप्रत्यय-जन्य है। परिकल्पित लक्षण में ग्राह्य-ग्राहक भाव का स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है। विज्ञान के स्वरूप में वस्तुतः न तो ग्राह्यत्व है, न ही ग्राहकत्व। ग्राह्यभाव और ग्राहकभाव दोनों ही परिकल्पित हैं। जब ग्राह्य एवं ग्राहकभाव निवृत्त हो जाते हैं, तब उस समय की अवस्था को परिनिष्पन्नलक्षण कहते हैं। परतन्त्र की सर्वदा परिकल्पित स्वभावहीनता ही परिनिष्पन्नता है। इस प्रकार, विविध सत्ता का विवरण विशेष रूप से हृदयंगम करना आवश्यक है; क्योंकि वैसा नहीं होने से लंकावतार का तात्पर्य ग्रहण करना कठिन हो पड़ता है। त्रैधातुक, अर्थात् काम, रूप एवं अरूप-जगत् में विद्यमान चित्त एवं चैत्त ही अभूतपरिकल्प्य है। पहले जो परिनिष्पन्न, परतन्त्र तथा परिकल्पित—इन तीन प्रकार के लक्षणों का वर्णन किया गया है, वह सब इसी का समझना चाहिए।

लंकावतार के मत से निखिल भाव ही निःस्वभाव है। समग्र प्रपंच मेघ, अलात-चक्र अथवा गन्धर्वनगर के सदृश है। कहीं-कहीं यह अनुपम माया-मरीचिका अथवा स्वप्नरूप में भी वर्णित हुआ है। बाह्य वस्तु अनादिकाल से भ्रान्तिजन्य मनोविजृम्भण-मात्र है। लंकावतार-मत से, इस दृष्टि के द्वारा बाह्य सत्ता का दर्शन करने से विकल्प का बन्धन छिन्न हो जाता है। उसी समय यह समझ में आता है कि देह, मोक्ष एवं प्रतिष्ठा, अर्थात् समग्र जगत् आलय-विज्ञान अथवा चित्त का परिणाम-मात्र है। उस समय द्रष्टा एवं दृश्यविषयक विज्ञान की निवृत्ति होने से निराभास अवस्था का स्फुरण होता है, जिसमें द्वैतभाव का लेश भी नहीं रहता। तन्मयता के साथ-साथ चित्त अभेद प्राप्त करता है। जन्म, स्थिति और नाश—सब अपने ही चित्त के भाव हैं, ऐसी प्रतीति होती रहती है। इसलिए, उस समय नाम आदि का ज्ञान नहीं रहता। इस अवस्था के उदय से संसार तथा निर्वाण में भी सम्यग्दृष्टि होती है।

सूर्य जैसे सभी वस्तुओं पर समान रूप से अपनी किरणें बिखेरता है, किसी पर पक्षपात नहीं करता, उसी प्रकार महाकरुणा, उपाय तथा अनाभोगचर्या से बोधिसत्त्व सभी को ही देख पाते हैं और जान लेते हैं कि यह विश्व-प्रपंच मायिक है, छाया की तरह अलीक है; क्योंकि यह कारण के विना उद्भूत (अकारण क्लृप्त) है। वह जानते हैं कि चित्त के बाहर जगत् की सत्ता नहीं है। इसके बाद क्रमशः उच्चतर भूमि में आरूढ़ होकर

ऐसी समाधि का लाभ करते हैं, जिससे अपरोक्ष रूप से अनुभूत होता है कि तीन प्रकार के धातु, अर्थात् समस्त जगत् ही चित्तमात्र है। इस समाधि का नाम 'मायोपम' समाधि है। उसके बाद 'वज्रबिम्बोपम' समाधि का आविर्भाव होता है, जिसके बल से चित्त के सभी आकार निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् चित्त निराकार हो जाता है, ज्ञान पूर्ण होता है और सभी वस्तुओं में अज़ातत्व स्पष्ट रूप से अनुभूत होता रहता है। बुद्धकाय-प्राप्ति का यही समय है। यह भूततथता में अवस्थिति है। इस अवस्था में योगी दस प्रकार के बल, छह प्रकार की अभिज्ञा तथा दस प्रकार के वशित्व को अपने में आयत्त करते हैं और एक ही साथ असंख्य रूप में प्रकटित होते हैं। उपायबल से वह सभी बुद्धक्षेत्र का दर्शन करते रहते हैं तथा दार्शनिक मतवाद, चित्त के मल एवं विज्ञान से मुक्त होकर अपने अन्तर में 'परावृत्ति' का अनुभव करते हैं। उसके बाद धीरे-धीरे तथागतकाय में, अर्थात् बुद्धकाय में विशुद्ध रूप से अवस्थित होते हैं। बुद्धकाय में अवस्थान करने के लिए स्कन्ध, धातु, आयतन, कारण, कार्य, नीति, जन्म, स्थिति और विनाश—इन सबसे दूर रहकर चित्तमात्र का प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। अनादिकाल से संचित वासना के प्रभाव से चित्तमात्र से ही विकल्पवश संसार उद्भूत हुआ है। किन्तु बुद्धत्व निराभास, अजात और असंवेद्य है। चित्त के पूर्ण संयम तथा अनाभोगचर्या से बुद्धभाव की प्राप्ति होती है। 'लंकावतार' में वर्णित पाँच धर्मों में तथता ही श्रेष्ठ है। मन जिस समय नाम (संकेत-मात्र) एवं निमित्त (इन्द्रियग्राह्य विषय के गुण : जैसे रूप)—इन दो धर्मों से स्पृष्ट नहीं होने के कारण शान्त रहता है, उसी समय इस अवस्था का उदय होता है। सम्यक् ज्ञान-रूप धर्म से नाम तथा निमित्तमय जगत् का पर्यवेक्षण करने से अवगत होता है कि ये सारे पदार्थ सत् नहीं और असत् भी नहीं, ये सारी वस्तुएँ समारोप तथा अपवाद के ऊपर हैं, अर्थात् इनके विषय में किसी प्रकार का विधान नहीं किया जा सकता और किसी प्रकार का निषेध भी नहीं किया जा सकता। विकल्परूप धर्म भी उस समय नहीं रहता। इसलिए, वस्तु तथा गुण का परस्पर भेदग्रहण भी नहीं होता।

निर्वाण के विषय में इस ग्रन्थ ('लंकावतारसूत्र') का कहना है कि यथाभूतार्थ स्थान के दर्शन द्वारा ही इसकी प्राप्ति होती है। यह सब प्रकार के विकल्प से अतीत है।

आलय-विज्ञान में अनादिकाल से असंख्य वासना विद्यमान रहती है। ये वासनाएँ जबतक अविद्या, मिथ्यादृष्टि, अभिनिवेश आदि से रंजित रहती हैं, तबतक सत्य का, अर्थात् तथता का स्वरूप-दर्शन ठीक-ठीक नहीं होता। इसीलिए, निर्वाण नहीं हो सकता। इसके द्वारा उच्छेददृष्टि, शाश्वतदृष्टि, भवदृष्टि तथा अभवदृष्टि—इन विकल्पों का परिहार करके आलय-विज्ञान का संशोधन करना आवश्यक है। इसी को कहते हैं आश्रय-परावृत्ति। महायान-मत से वास्तव में संसार और निर्वाण, दोनों में कोई प्रभेद नहीं। इसीलिए, वे जागतिक सत्ता के आत्यन्तिक विनाश को स्वीकार नहीं करते। जिस मार्ग अथवा योग से संसार में निर्वाण की प्राप्ति होती है, उसके प्रभाव से उस सत्ता का विनाश नहीं होता, केवल आश्रय की परावृत्ति-मात्र होती है, अर्थात् वह सत्ता बुद्धकाय-घटक

उपादान में परिणत होती है।[१] उस समय सभी पदार्थ ही शून्य, अर्थात् स्वभावरहित प्रतिभात होता है। यही नित्य अपरोक्ष दर्शन का स्वरूप है। आश्रयपरावृत्ति की सिद्धि होने से ज्ञात होता है कि निर्वाण निर्धर्मक एवं निर्विशेष है। इसमें लाभ, हानि, त्याग, ग्रहण, एकत्व तथा नानात्व कुछ भी नहीं है।[२]

ऊपर 'लंकावतारसूत्र' के दार्शनिक सिद्धान्त के बारे में संक्षेप में कुछ चर्चा की गई। 'सन्धिनिर्मोचनसूत्र' में भी योगाचार-मत ही आलोचित हुआ है। इसके बाद बोधिसत्त्व मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु आदि दार्शनिकों ने योगाचार-सिद्धान्त का विशेष रूप से परिष्कार करके विभिन्न प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण किया। मैत्रेयनाथ के पाँच ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। उनमें 'मध्यान्तविभागसूत्र' अन्यतम है। 'महायानसूत्रालंकार' का कारिकांश भी मैत्रेयनाथ-रचित है—यह Pandit H. Ui महोदय ने बहुत उत्तम ढंग से प्रमाणित किया है। साधारणतया यह ग्रन्थ असंग-कृत माना जाता है। 'योगाचार (अथवा योगाचार्य)-भूमिशास्त्र' भी मैत्रेयनाथ-रचित है। सुप्रसिद्ध 'बोधिसत्त्वभूमि' नामक ग्रन्थ इसका एक भाग है। असंग का 'महायानसंग्रह' एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। वसुबन्धु ने अपने बड़े भाई के लोकोत्तर प्रभाव से जिस समय सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय से नाता तोड़ लिया था, उसी समय उनके आदेश से वह योगाचारसिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थों के निर्माण में प्रवृत्त हुए थे। 'विंशिका' तथा 'त्रिंशिका' नामक विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के दो ग्रन्थ एवं 'मध्यान्तविभाग-सूत्र' का भाष्य और 'महायानसूत्रालंकारवृत्ति'—ये सारे ग्रन्थ वसुबन्धु के लिखे हैं। स्थिरमति ने वसुबन्धु-रचित 'त्रिंशिका' तथा 'महायानसूत्रालंकारवृत्ति' पर भाष्य की रचना की थी और 'मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य' पर टीका भी लिखी थी।

विज्ञानवादी योगी के मत में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण की निवृत्ति से ही परमार्थ-लाभ हो सकता है। जबतक ये दो प्रकार के आवरण रहते हैं, तबतक किसी भी प्रकार से मोक्ष और सर्वज्ञत्व-लाभ नहीं हो सकता। क्लेश मोक्ष का प्रतिबन्धक है। क्लेश की निवृत्ति सिद्ध होने से ही मोक्षलाभ होता है। परन्तु, सर्वज्ञत्व तबतक नहीं मिल सकता, जबतक कि द्वितीय आवरण, अर्थात् ज्ञेयावरण पूर्णतया हट नहीं जाता। अज्ञान दो प्रकार

---

१. महायान-संग्रह में आश्रयपरावृत्ति का वर्णन इस प्रकार है : धातु अथवा सत्ता में जिस अंश में आवरण-संस्कार तथा संक्लेश विद्यमान है, यदि उस अंश का हेतु और फलभाव निवृत्त हो जाय, यदि धर्म के द्वारा आरोपित भाव की निवृत्ति हो जाय, तो सब प्रकार के आवरण से मुक्ति हो जाती है तथा सब प्रकार के धर्मों पर अपना प्रभाव या स्वामित्व (वशवर्त्तित्व) अधिगत होता है और फिर उसके प्रभाव से धर्म का दूसरा स्वभाव (जिसके द्वारा शुद्धि या 'व्यवदान' होता है) अभिव्यक्त होता है। परावृत्ति का भी विशेष विवरण असंग-कृत 'महायानसूत्रालंकार' में द्रष्टव्य है।

२. हीनयानियों का निर्वाण संसार से विलक्षण है, परन्तु 'लंकावतार' के मत से संसार तथा निर्वाण में, वास्तव में कोई भेद नहीं है।

का है—अक्लिष्ट और क्लिष्ट। क्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति क्लेश के साथ ही हो जाती है। परन्तु, क्लेशों का उपशम हो जाने पर भी, अर्थात् मुक्तावस्था में भी अक्लिष्ट अज्ञान रह जाता है। जब उनका भी निरोध हो जाता है, तभी सर्वाकारक आसक्तिहीन एवं अप्रतिहत ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। सर्वज्ञत्व पाने की यही प्राथमिक अवस्था है।

आत्मदृष्टि से राग आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। जब साधक पुद्गलनैरात्म्यज्ञान में प्रतिष्ठा लाभ करते हैं, तब सत्कायदृष्टि अथवा देहात्मबोध की निवृत्ति होकर तन्मूलक सभी क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। यही मुक्तावस्था है। उसके बाद धर्मनैरात्म्यज्ञान से दूसरे प्रकार का आवरण, अर्थात् ज्ञेयावरण कट जाता है। इससे सर्वज्ञत्वभाव अधिगत होता है।

आत्मा, जीव, जन्तु, मनुष्य—ये सभी आत्मोपचार हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये सभी धर्मोपचार हैं। ये दोनों ही प्रकार के उपचार वास्तव में विज्ञान के परिणाम हैं। विज्ञान के बाहर इनकी सत्ता नहीं है, अर्थात् विज्ञान के परिणाम से भिन्न आत्मा या धर्म को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्यथाभाव का नाम ही परिणाम है। आत्मा आदि विकल्प-वासनाओं की पुष्टि होने पर आलय-विज्ञान से आत्मा आदि का निर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इसी प्रकार, रूप आदि विकल्प-वासना की पुष्टि द्वारा आलय-विज्ञान से ही रूप आदि निर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इस रूपादिनिर्भास अथवा आत्मादिनिर्भास को विज्ञान से बहिर्भूत सदृश रूप में अंगीकार करके रूप आदि का उपचार, अर्थात् व्यपदेश अनादिकाल से ही चला आ रहा है। रूप आदि अथवा आत्मा आदि वर्त्तमान नहीं रहने से भी वैसा उपचार अनादिकाल से ही वर्त्तमान है। वस्तुतः, जिस स्थान में जो वस्तु नहीं है, उस स्थान में उसका उपचार होता है। विशेष रूप से यदि विचार किया जाय, तो अवगत होता है कि आत्मा और धर्म न तो विज्ञानस्वरूप में अवस्थित हैं, न विज्ञान से बाहर। ये दोनों ही परिकल्पित हैं। इसीलिए, यह पारमार्थिक सत्य नहीं है।

किन्हीं-किन्हीं का खयाल है, विज्ञान और विज्ञेय—दोनों ही सत्य हैं। परन्तु, यह एकान्तवाद यथार्थ नहीं। क्योंकि, पहले कहा गया है, परिकल्पित होने के कारण आत्मा और धर्म विज्ञान के स्वरूप में अथवा बाहर वर्त्तमान नहीं हैं, इसलिए विज्ञेय, अर्थात् आत्मा या धर्म को सत्य नहीं कहा जा सकता। पर, उपचार निराधार नहीं होता। इसलिए, स्वीकार करना पड़ता है कि वास्तव में विज्ञान का परिणाम है, जिससे आत्मा तथा धर्म का उपचार हो सकता है।

कोई-कोई यह भी कहते हैं कि जैसे विज्ञेय सांवृतिक अथवा मिथ्या है, वैसे ही विज्ञान भी मिथ्या है। किन्तु, यह मत ठीक नहीं लगता; क्योंकि उपादान संवृतिरूप में अंगीकार-योग्य नहीं। इसलिए, विज्ञानवादी आचार्यों का सिद्धान्त है : **'सर्वं विज्ञेयं परिकल्पितस्वभावत्वात् वस्तुतो न विद्यते, विज्ञानं पुनः प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वात् द्रव्यतः अस्ति इत्यभ्युपेयम्।'**

परिणाम शब्द से अनुमान होता है कि विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न है। बाह्य विषय के विना भी विज्ञान स्वयं विषयाकार में परिणत होता है। विज्ञान के आलम्बनप्रत्यय-रूप में बाह्यार्थ स्वीकार किया जाता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु, इसका अभिप्राय यह नहीं कि विज्ञान यथार्थ से उत्पन्न होता है। सिद्धान्त यही है कि बाह्य विषय साभास ज्ञान का जनक है, इसलिए कि कारणता आलम्बन-प्रत्यय के अनुरूप समानान्तर आदि सभी प्रकार के प्रत्ययों में समरूप से वर्त्तमान है। विपाक, मनन तथा विषय-विज्ञप्तिरूप में विज्ञान के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं। कुशल एवं अकुशल कर्मवासना के परिपाक द्वारा आक्षेपानुरूप फलाभिनिवृत्तिक होने से विपाक नामक परिणाम होता है। इसी का नामान्तर है—आलय-विज्ञान। जितने भी प्रकार के क्लिष्ट धर्म हैं, सभी इस बीज से उत्पन्न हैं। कारण-रूप में सभी धर्म में इसकी उपलब्धि होती है। इस आलय-विज्ञान की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है : १. आध्यात्मिक अथवा आभ्यन्तरीण एवं २. बाह्य। प्रवृत्ति-विज्ञान और आलय-विज्ञान में कुछ भेद है। प्रवृत्ति-विज्ञान का आलम्बन और आकार परिच्छिन्न होता है। परन्तु, आलय-विज्ञान का आकार जैसा अपरिच्छिन्न होता है, इसका आलम्बन भी वैसा ही अपरिच्छिन्न होता है। विज्ञान-परिणाम का दूसरा भेद है—मनन अथवा क्लिष्ट मन। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मन का स्वभाव है। इसीलिए, इसे 'मनन' कहा जाता है। जैसे, चाक्षुष विज्ञान के आश्रय होती हैं चक्षु आदि इन्द्रियाँ और आलम्बन होते हैं रूप आदि विषय। उसी प्रकार से क्लिष्ट मन का भी आश्रय होता है आलय-विज्ञान। क्योंकि, आलय-विज्ञान या विपाक जिस धातु अथवा भूमि में रहता है, उसी धातु या भूमि में क्लिष्ट मन भी रहता है। क्लिष्ट मन की वृत्ति आलय-विज्ञान से नियत सम्बद्ध होती है, अर्थात् आलय-विज्ञान में आश्रित होकर ही क्लिष्ट मन अपना काम करता है। क्लिष्ट मन का आलम्बन आलय-विज्ञान ही होता है। सत्काय-दृष्टि, देहाध्यास आदि के सम्बन्ध से 'अहम्', 'मम' आदि आकार में आलय-विज्ञान का अवलम्बन करके मन कार्य करता है। जिस आलय-विज्ञान या चित्त से मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, उस चित्त को उसी मनोविज्ञान के आलम्बन-रूप में स्वीकार करना कर्त्तव्य है। 'मनन' नामक विज्ञान का ही नामान्तर होता है मन। यह जैसे आलय-विज्ञान से अलग है, वैसे ही प्रवृत्ति-विज्ञान से भी अलग है। मनन इसका स्वभाव है, यह विज्ञानात्मक है, इसलिए सभी प्रकार के चित्तधर्म से इसका सम्बन्ध होता है। चित्तधर्म दो प्रकार का है : १. क्लेश और २. क्लेशभिन्न। छह प्रकार के क्लेशों में चार प्रकार के क्लेशों से मन का सम्बन्ध रहता है : (क) अविद्या या आत्ममोह, यह आत्मविषयक अज्ञान का नामान्तर-मात्र है। (ख) आत्मदृष्टि, यह उपादान-स्कन्ध में आत्मदर्शन का नामान्तर है, इसी को सत्कायदृष्टि भी कहा जाता है। (ग) अस्मिमान या आत्ममान, आत्मदृष्टि से चित्त की जो उन्नति होती है, उसे अस्मिमान कहते हैं। (घ) तृष्णा अथवा आत्मस्नेह, पूर्वोक्त तीन प्रकार के क्लेशों के अस्तित्ववश आत्माभिमत वस्तु से जो आसक्ति उत्पन्न होती है, उसे तृष्णा कहा जाता है। आलय-विज्ञान के स्वरूप में सम्मोह होने के फलस्वरूप उससे

आत्मदृष्टि मिलती है। आत्मदृष्टि से चित्त में अस्मिमान का उदय होता है। क्लेश अकुशल तथा निवृताव्याकृत रूप में दो प्रकार का है।

विज्ञान-परिणाम का तीसरा भेद विषय-विज्ञप्ति है। चक्षुर्विज्ञान आदि छह प्रकार के विज्ञान अथवा विषय-प्रत्यवभास का ही नाम विषय-विज्ञप्ति है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य तथा धर्म —यह छह प्रकार की विषयोपलब्धि बौद्धग्रन्थ में तीसरे प्रकार के विज्ञान-परिणाम के रूप में स्वीकृत है। यह उपलब्धि कुशल हो सकती है और अकुशल भी हो सकती है या दोनों भावों से भिन्न अव्याकृत भी हो सकती है। अलोभ, अद्वेष एवं अमोहयुक्त विषयोपलब्धि कुशल होती है और इसके विपरीत लोभ, द्वेष तथा मोहयुक्त उपलब्धि अकुशल। इस तीसरे प्रकार के विज्ञान-परिणाम, अर्थात् विषय-विज्ञान में दो प्रकार के धर्म रहते हैं: १. सर्वत्रग धर्म; जैसे स्पर्श, मनस्कार, वित्, संज्ञा तथा चेतना। ये पाँच प्रकार के धर्म आलय-विज्ञान में, क्लिष्ट मन में एवं प्रवृत्ति-विज्ञान में सर्वत्र ही रहते हैं। २. विनियत धर्म, ये सभी धर्म विशेष-विशेष विषयों में नियत वर्त्तमान रहते हैं। ये सर्वत्र नहीं रहते। जैसे छन्द (अभिप्रेत वस्तु के प्रति अभिलाष), अधिमोक्ष (निश्चित वस्तु में अवधारण), स्मृति (संस्तुत वस्तु में चित्त का असम्प्रमोष अथवा अभिलपनता), समाधि (उपपरीक्षणीय वस्तु में चित्त की एकाग्रता) और धी, अर्थात् प्रज्ञा।[1]

---

१. दर्शन, श्रवण आदि क्रिया के विषयरूप में जो वस्तु स्वीकृत है, उसे 'अभिप्रेत' वस्तु कहते हैं। इस कोटि की वस्तु के विषय में दर्शन, श्रवण प्रार्थना आदि या इच्छा का नाम 'छन्द' है। युक्ति या आप्तोपदेश से जो वस्तु असन्दिग्ध रूप में गृहीत होती है, उसे 'निश्चित' वस्तु कहते हैं। जिस आकार में (जैसे अनित्य या दुःखमय आदि) कोई वस्तु निश्चित होती है, उसी आकार में ही चित्त में उस वस्तु का जो अभिनिवेश किया जाता है, अर्थात् यह वस्तु ऐसी ही है, और प्रकार की नहीं, ऐसा जो ज्ञान है, उसे 'अधिमोक्ष' कहते हैं। दीर्घकाल तक अभ्यास करके साधक अधिमुक्ति-अवस्था प्राप्त कर ले, तो प्रवादी, अर्थात् दूसरे सिद्धान्त में आग्रहान्वित व्यक्ति उसे अपने सिद्धान्त से हटा नहीं सकते। पूर्वानुभूत वस्तु को 'संस्तुत' वस्तु कहते हैं। आलम्बन-ग्रहण नष्ट नहीं होने से 'असम्प्रमोष' होता है। पूर्वगृहीत वस्तु का पुनः आलम्बन के आकार में स्मरण करना ही 'अभिलपनता' है। इस अवस्था में प्रतिष्ठित होने से चित्त अन्य आकार से विक्षिप्त नहीं होता। वस्तु का गुण अथवा दोष-निरूपण ही 'उपपरीक्षण' है। एकाग्रता होने से चित्त के आलम्बन में भेद अथवा भेदाभास नहीं रहता। इसके, अर्थात् समाधि के यथायथ अभ्यास द्वारा यथाभूत 'परिज्ञान' होता है, अर्थात् ज्ञान का उदय होता है। छन्द आदि नियत धर्म का संक्षेप में जो वर्णन किया गया है, उसकी सार्थकता और प्रयोजनवत्ता कुछ ही काल के अभ्यास से

इस प्रज्ञा या ज्ञान को विवेक कहते हैं। इसका विषय स्वलक्षण भी हो सकता है और सामान्यलक्षण भी। बौद्धदर्शन में इसका नामान्तर है धर्मविचय। यह सम्यक् मिथ्या या संकीर्ण हो सकता है। यह ज्ञान कदाचित् योग से और कदाचित् अयोग से उत्पन्न होता है। और, कभी-कभी इन दो प्रकारों से विलक्षण भी हो सकता है। आप्तोपदेश, अनुमान तथा प्रत्यक्ष—इन तीन को योग कहते हैं। इनमें आप्तवचन-जन्य बोध को श्रुतमयी प्रज्ञा कहते हैं; युक्तिप्रयोग से उत्पन्न बोध को चिन्तामयी प्रज्ञा एवं समाधिजन्य बोध को भावनामयी प्रज्ञा कहते हैं। अनाप्तोपदेश, अनुमानाभास तथा मिथ्याप्रणिहित समाधि द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अयोगज ज्ञान में गिना जाता है। उपपत्ति-प्रतिलम्भिक ज्ञान, अर्थात् सहज ज्ञान, अर्थात् जन्मगत जो ज्ञान है, वह योगज भी नहीं, अयोगज भी नहीं है। लौकिक व्यवहारमूलक ज्ञान भी इसी कोटि में है। प्रज्ञा के द्वारा धर्म का प्रविचय करने से जो निश्चयात्मिका प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसके बल से संशय की निवृत्ति होती है।

जिन पांच प्रकार के धर्म का ऊपर वर्णन किया गया, वे सभी परस्पर व्यावृत्त रहते हैं, अर्थात् जहाँ एक धर्म रहता है (जैसे, अधिमोक्ष), वहाँ अन्यान्य धर्म नहीं रहते। इस सर्वत्रग एवं विनिमय-धर्मों से भिन्न श्रद्धा आदि एकादश प्रकार के कुशलधर्मों का वर्णन भी योगाचार-ग्रन्थों में मिलता है।

विज्ञानवादियों के मत से जिन तीन प्रकार के विज्ञान-परिणाम की बात कही गई, वही विकल्प है। विषय का आकार धारण करनेवाला विज्ञान ही सारे विकल्पों का आकार धारण करता है। आलय-विज्ञान, क्लिष्ट मन और प्रवृत्ति-विज्ञान के स्वभाव की विभिन्नता के कारण विकल्प तीन प्रकार के हैं। त्रैधातुक विश्व जिस प्रकार विज्ञानात्मक है, उसी प्रकार असंस्कृत धर्म भी विज्ञानात्मक ही होता है। अनधिष्ठित मूलविज्ञान में कारण के विना विकल्पों की प्रवृत्ति कैसे होती है? ऐसा प्रश्न हो सकता है। विज्ञान-वादी का समाधान यह है कि आलय-विज्ञान में सभी धर्मों के उत्पादन की शक्ति निहित है। अतएव, वह सर्वबीजस्वरूप है। भीतर के पारस्परिक संघर्ष से यह आलय-विज्ञान ही अनन्त आकार धारण करके तत्तद् विकल्प-रूप में बदल जाता है।

योगाचारियों का निर्वाणस्वरूप धर्मधातु परमार्थसत्य है। यह अद्वय या भेदहीन तत्त्व है। इसमें ज्ञातृज्ञेय-रूप या और किसी प्रकार का भेद नहीं है। इस परिनिष्पन्न-स्वभाव धर्मधातु का ध्यान करते-करते योगी इसमें समाहित हो जाते हैं और इससे तादात्म्य-लाभ करते हैं। जल से जल के मिलने पर जैसे तादात्म्य होता है, यह भी ठीक वैसा ही है। यही विशुद्ध अद्वैत परिस्थिति है। परिकल्पित स्वभाव बाह्य

प्रतीत होने लगती है। छन्द के सम्यास से ही वीर्य का उदय होता अधिमोक्ष से स्थिरता होती है, स्मृति से विक्षेप-निवृत्ति होती है तथा समाधि से ज्ञान का उदय होता है।

जगत् है, जिसमें सत्त्व (द्रव्य), गुण आदि का आरोप होता है। परतन्त्रस्वभाव क्षणिक विज्ञानात्मक है।

शब्दाद्वयवाद :

शब्दाद्वयवाद वैयाकरणों का सिद्धान्त है। सम्प्रति, भर्त्तृहरि का 'वाक्यपदीय' ही इस मत का मूल ग्रन्थ है। महाभाष्यकार **पतंजलि** के दार्शनिक मत को ही प्राचीन व्याकरणागम में स्थान मिला था, परन्तु अब वे सब आकर-ग्रन्थ मिलते नहीं। इसीलिए, प्राचीन सिद्धान्त के बारे में विशेष-विशेष बात जानने का उपाय नहीं है। **व्याडि** का 'बृहत्संग्रह' ग्रन्थ, **रावण** का 'आगम' और ऐसे ही अन्यान्य ग्रन्थों का पुनरुद्धार होने से इस मत के बारे में बहुतेरी ज्ञातव्य बातें जानी जा सकेंगी। **आचार्य शंकर** से पहले ही इस मत की स्थापना हुई थी। 'हर्षचरित' में अन्यान्य सम्प्रदायों के साथ शाब्दिकों का उल्लेख मिलता है (पृ० ६३२, जीवानन्द-संस्करण)। **जयन्तभट्ट** ने 'न्यायमंजरी' (पृ० ५३१ से ५३६) में, **शान्तरक्षित** ने 'तत्त्वसंग्रह' में एवं प्राचीन जैन दार्शनिकों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में शाब्दिकों के मतों का उल्लेख किया है। ये स्फोटवादी थे। यह सम्भव है कि **मण्डनमिश्र** ने 'ब्रह्मसिद्धि' में इसके अनुरूप ही अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। मण्डनमिश्र भी स्फोटवादी थे। किन्तु, **शंकर**, **कुमारिल** आदि ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार स्फोट-सिद्धान्त का खण्डन किया है। 'प्रकरणपंचिका' (पृ० १५४-१५५) में **शालिकनाथ** ने जिस अद्वैतमत का खण्डन किया है, वह सम्भवतः मण्डनमिश्र का है, आचार्य शंकर का नहीं। **भवभूति** ने 'उत्तररामचरित' में जिस अद्वैतवाद का आभास दिखाया है, वह भी सम्भवतः मण्डन का ही अद्वैत है, शंकर का नहीं।[1]

वैयाकरण के सिद्धान्त के अनुसार, पश्यन्ती वाक् ही परा स्थिति-रूप है। अक्षर, शब्दब्रह्म, परब्रह्म या परावाक् इसी के दूसरे नाम हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि वैयाकरणों की दृष्टि से शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म में विशेष प्रभेद नहीं है। शब्दब्रह्म में निष्णात होने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है, इसे वैयाकरण एक प्रकार से स्वीकार ही करते हैं। परन्तु, अन्यत्र इसका जैसा उपपादन देखा जाता है, व्याकरण-आगम में उसका कोई स्थान नहीं। पश्यन्ती वाक् चैतन्यस्वरूप है; वह अखण्ड, अभिन्न, अद्वय परमतत्त्व है। उसमें ग्राह्य और ग्राहक का

---

१. मण्डनमिश्र और शालिकनाथ का समकालीनत्व असम्भव नहीं है। मण्डनमिश्र ने 'विधिविवेक' (पृ० १०९) में 'बृहती' से इन वचनों को उद्धृत किया है : 'कर्त्तव्यताविषयो नियोगः न पुनः कर्त्तव्यतामाह।' वाचस्पतिमिश्र ने 'न्यायकणिका' (पृ० १०९) में इसकी व्याख्या के प्रसंग में कहा है : जरत्-प्रभाकर और नवीनों की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार की है। नवीनों की व्याख्या की उन्होंने जो उद्धृति दी है, वह 'ऋजुविमला' में मिलता है। अतएव, यह प्रमाणित होता है कि शालिकनाथ वाचस्पतिमिश्र के पूर्ववर्त्ती थे। उन्होंने बहुत स्थलों में कुमारिल के वचनों का उल्लेख किया है।

परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार, देश और कालगत क्रम का आभास भी उसमें नहीं है। इसीलिए, इसे कहीं अक्रमा और कहीं-कहीं प्रतिसंहृतक्रमा कहा गया है। नामान्तर से इसे आत्मतत्त्व भी कहा जा सकता है। वैयाकरण कहते हैं, यद्यपि इसमें भेद अथवा क्रम की स्फूर्ति नहीं है, तथापि यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि इसमें क्रमशक्ति का समावेश वर्त्तमान है : **'प्रतिसंहृतक्रमापि अन्तः सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती।'** व्याकरण-सिद्धान्त में पश्यन्ती वाक् को चलाचल, सन्निविष्टज्ञेयाकार, प्रतिलीनाकार, निराकार, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास, संसृष्टार्थप्रत्यवभास तथा प्रशान्त-सर्वार्थप्रत्यवभास आदि विभिन्न प्रकार के विशेषणों द्वारा विशिष्ट रूप में देखा जाता है।

रूप, रस प्रभृति विषयों में मन्दबुद्धिवालों में जो विक्षिप्त बुद्धि उदित होती है, वह भी वास्तव में वाक् से अभिन्न है। शब्दयोग के अवलम्बन से जो लोग चित्त का समाधान करने में समर्थ हुए हैं, उन योगियों के निकट पश्यन्ती वाक् का स्वरूप अनावृत होकर दिखाई पड़ता है। परन्तु, जो वाग्योग में सिद्धि नहीं प्राप्त कर सके हैं और इस कारण जिनकी दृष्टि में पश्यन्ती के शुद्ध रूप का प्रतिभास नहीं हुआ है, उनके लिए पश्यन्ती आवृतस्वरूपा ही रहती है, अर्थात् यह उनके निकट अपभ्रंश से संश्लिष्ट ही प्रतीत होती है : **'ते तामक्रमांवाचं वेदयन्ते अपभ्रंशैर्विविक्तां यथा वैयाकरणाः।'**

ज्ञान में जैसे ज्ञेय का आकार अनुस्यूत रहता ही है; क्योंकि लौकिक ज्ञान कदापि निर्विषयक नहीं हो सकता, वैसे ही शब्द में भी, अर्थात् पश्यन्ती वाक्-स्वरूप में भी सर्वदा अर्थ का आकार अनुस्यूत रहता ही है। सृष्टिकाल में यह आकार मानों विभिन्न जैसा प्रतिभासमान होता है। पश्यन्ती वाक् को 'सन्निविष्टज्ञेयाकार' कहने का यही हेतु है। परन्तु, आकार रहने पर भी अव्यक्ततावश उसका निश्चय नहीं होता। इसीलिए, पश्यन्ती को कहीं-कहीं 'प्रतिलीनाकार' कहा गया है। सूक्ष्मतावश जब वाक्-तत्त्व का ही अवधारण नहीं होता, तब उसके आश्रित धर्म का भी अवधारण नहीं होता, यह कहना ही अनावश्यक है। इसीलिए, कहीं-कहीं इसे निराकार भी कहा जाता है। परस्परविरोधी स्वभावविशिष्ट विषयों का आभास इसमें होता है, इसलिए यह 'परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास' रूप में वर्णित होता है। पश्यन्ती के स्वरूप में, शब्द तथा अर्थ में परस्पर पार्थक्य नहीं रहता। संश्लिष्ट रूप में ही दोनों की प्रतीति होती है। इसीलिए; इसे 'संसृष्टार्थप्रत्यवभास' कहा जाता है। और, जब सारे ही अर्थ की प्रतीति का उपशम हो जाता है, तब पश्यन्ती की अवस्था को 'प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभास' कहा जाता है।

यह पश्यन्ती-रूप शब्दतत्त्व विवक्षा के द्वारा, अर्थात् अर्थ-प्रतिपादन करने की इच्छा के द्वारा मनोविज्ञान का रूप धारण करता है। इसी का नाम मध्यमा वाक् है। यह अन्तःसंजल्पस्वरूप है, इसलिए कि इस अवस्था में बिन्दु एवं नादरूप प्राण तथा अपानवायु के उल्लास द्वारा क्रम का आविर्भाव होता है। इस आभासमान क्रम में क्रमहीन पश्यन्ती या सुषुम्णा प्रच्छन्न रूप से अन्तराल में अवस्थान करती है।

वाक् में जिस क्रम का परिग्रह होता है, वह आभासमान होता है; क्योंकि बुद्धि जब एक और अभिन्न है और शब्द जब बुद्धि से अतिरिक्त नहीं है, तब भेदमय क्रम को आभासमान ही कहना होगा। उसे वास्तविक नहीं कहा जा सकता। परमार्थ दृष्टि से उसमें क्रम नहीं है। प्राण की सूक्ष्म वृत्ति के अनुसार, इस क्रम का आविर्भाव होता है। लेकिन, जिस समय करणसमूह के अभिघात के कारण प्राण में स्थूल वृत्ति का उदय होता है, उसी समय वैखरी वाक् का आविर्भाव होता है। इसमें स्थूल तत्त्व का कारणभूत क्रम स्पष्ट ही अवगत होता है। वास्तव में, पश्यन्ती ही मुख में आकर कण्ठ आदि विभाग के अनुसार वैखरी के नाम से प्रसिद्ध होती है। क्रम से वाह्यार्थवासना अथवा अविद्या के प्रभाव से यह घट, पट आदि विषय के रूप में प्रकाशित होकर चक्षु आदि इन्द्रियों के गोचर होती है। अर्थात्, अनादि शब्दब्रह्म अविद्या-वासनात्मक उपप्लववश भेदभाव प्राप्त होकर विषय-रूप में विवर्त्तित होता है। वास्तव में, वाचक से पृथग्भूत वाच्य नाम का कुछ नहीं है। वाच्य-वाचकविभाग काल्पनिक है। किन्तु, काल्पनिक या अविद्याजन्य होते हुए भी इसे विद्या के उपाय-रूप में ग्रहण करना होता है। ज्ञानमात्र ही वागात्मक है। इसलिए, वाक्-स्वरूप ही परमार्थ-सिद्धान्त है।

पूर्वोक्त पश्यन्ती वैयाकरण का ब्रह्मतत्त्व है। यह निराकार, नियत रूपहीन, देश, काल आदि परिच्छेद से रहित, क्रमविहीन तथा अनवच्छिन्न है—यही अद्वैत-तत्त्व है। क्रम अथवा भेदाभास ही संहार का रूप है—क्रमहीन पश्यन्ती स्वरूपतः संसार से उत्तीर्ण है।[1]

शिवाद्वैतवाद :

प्राचीन शैवागम में अद्वैतवाद का विशेष विवरण मिलता है। काश्मीर में प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्ददर्शन नाम के 'शैवागम', 'शिवसूत्र', 'शिवदृष्टि' आदि ग्रन्थों के आधार पर जिस दर्शनशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ था, वह अद्वैत-प्रस्थान के ही अन्तर्गत है। किन्तु, शंकराचार्य के अद्वैतवाद से वह किसी-किसी अंश में विलक्षण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शंकराचार्य शैवागम को अंगीकार करते थे। 'दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र' और सुरेश्वर के 'मानसोल्लास' की चर्चा से यह प्रमाणित होता है। किन्तु, 'स्वच्छन्दतन्त्र' और क्षेमराज-कृत उसकी उद्योत टीका तथा ऐसे अन्यान्य शैवागम-ग्रन्थों की आलोचना से शिवाद्वैतवाद का वैशिष्ट्य कुछ-कुछ ज्ञात होता है।

---

१. व्याकरण-सिद्धान्त के प्रधान आचार्य भर्त्तृहरि अद्वैतवादी थे, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। उमामहेश्वर ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वदीपिका' में लिखा है : "महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्त्तृहरिरप्यद्वैतमेवाभ्युपगच्छति यथोक्तं शब्दकौस्तुभे स्फोटवादान्ते, तदेवं पक्षभेदे अविद्यैव वा ब्रह्मैव वा स्फुटार्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोट इति स्थितम्। आह च—शास्त्रेषु प्रक्रिया भेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।" (Madras Triennial catalogue, No. 5136)

आगम के मतानुसार आत्मा का परमरूप चिदानन्दघन, स्वातन्त्र्यसार तथा परम-शिवात्मक है। आगमविदों के मत से सांख्य के पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्मतत्त्व में भी आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकाशमान नहीं है; क्योंकि पुरुष बहुसंख्य और ब्रह्म विमर्शहीन है। इस दृष्टि से सांख्यशास्त्र के पुरुष की अवस्था एक प्रकार से विज्ञान-कैवल्य-अवस्थामात्र है। अवश्य, यह कैवल्य-अवस्था है, पर यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। इस कैवल्य का आविर्भाव विवेकख्याति-रूप विज्ञान से होता है। इसलिए, इसका नाम विज्ञानकैवल्य कहा जा सकता है। इसमें भी दो मार्ग हैं—पहला अधः, दूसरा ऊर्ध्व। अधोमार्ग में—यह अवस्था सांख्य के कैवल्यमार्ग से प्रायः अभिन्न—पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती, इसलिए कैवल्य होते हुए भी यह अशुद्ध अवस्था है। इस अवस्था में आणव मल रह ही जाता है। यह अवस्था माया के अन्तर्गत है। परन्तु, दीक्षा के प्रभाव से जब जीव समना से ऊपर उठकर समग्र अध्वा का अतिक्रम करता है, तब कर्ममल, मायामल तथा आणवमल—इन तीन प्रकार के मलों के समष्टिभूत निखिल बन्धन छिन्न हो जाते हैं, सब प्रकार की वासना निवृत्त हो जाती है। उस समय आत्मा अपने सत्तामात्र-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। यह सत्ता प्रकाशात्मक है, इसका प्रतियोगी भावान्तर कुछ नहीं। यह शुद्ध विज्ञानकैवल्यावस्था है और सांख्य के कैवल्य से भिन्न प्रकार का है। इस अवस्था में परमशिव की भाँति सामरस्य-अवस्थितिमय ज्ञानक्रिया के नहीं रहते हुए भी आत्मा में स्वभावानुरूप ज्ञानक्रिया की ही अभिव्यक्ति होती है। ज्ञानक्रिया ही चैतन्य है। अतएव, इस प्रकार के विशुद्ध कैवल्य में चैतन्य की किंचित् स्फूर्त्ति रहती है, इसलिए यह सांख्य के मलिन कैवल्य से उत्कृष्ट है; क्योंकि आगमविदों के अनुसार, सांख्योपदिष्ट कैवल्य में ज्ञानक्रिया नहीं रहती। यह अवस्था माया के ऊपर है, नीचे नहीं। जिस ज्ञान के प्रभाव से कैवल्य की प्राप्ति होती है, वह समस्त अवस्था का संवेदनात्मक ज्ञान है, अर्थात् जबतक आदि से अन्त तक समग्र अध्वा को निजज्ञान से प्रत्यक्ष न किया जाय, तबतक उसे शुद्ध कैवल्य अवस्था की अनुभूति नहीं हो सकती। परन्तु, जिस ज्ञान के प्रभाव से सांख्य का कैवल्य आविर्भूत होता है, वह उससे भिन्न प्रकार का ज्ञान है। वह माया एवं पुरुष का विवेकात्मक ज्ञान है। इस प्रकार, कैवल्य में ज्ञेय से सम्बन्ध नहीं रहने के कारण वह सदाशिव-तत्त्व के अन्तर्गत मन्त्र एवं मन्त्रेश्वर की अवस्था से भी अलग है, फिर भी इसमें स्वच्छन्द, चिदानन्दघन परम शिवावस्था की भी अभिव्यक्ति नहीं होती। इस भूमि में आत्मा बोद्धामात्र है। आत्मव्याप्ति के द्वारा आत्मा इस विशुद्ध कैवल्य को व्याप्त करके उन्मना-पद पर आरोपित होती है, और उसके बाद चिदानन्दघन शिवमय परमतत्त्व में प्रतिष्ठित होती है। शुद्ध कैवल्य में समना तक सब प्रकार के बन्धन उपशान्त रहते हैं। परन्तु, उपशम का संस्कार पहले की तरह वर्त्तमान रहता है। उस समय उसी को अवच्छेदक के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। इसलिए, कैवल्यावस्था की भी सोपाधिक श्रेणी में गणना की जा सकती है। परन्तु, विद्यामयी उन्मना-शक्ति की व्याप्ति के प्रभाव से जब अवच्छेदक की निवृत्ति हो जाती है, तब अनवच्छिन्न, स्वतन्त्र, चिन्मय तथा आनन्दमय शिवभाव का उदय होता है। यह दशा विश्वमयी होते हुए भी विश्व से परे है।

शैवाचार्य सांख्य और योग के पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्म को आत्मा की अपरावस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार, ब्रह्म आत्मा की परापरावस्था भी नहीं, परावस्था तो दूर की बात है। परमशिव-अवस्था ही आत्मा की परावस्था है। शैव कहते हैं, वैसी अवस्था वेदान्त आदि शास्त्रों में वर्णित नहीं है। वास्तव में, वही अद्वयतत्त्व है। जीव के पुर्यष्टक अथवा लिंगशरीर में 'अहं'-ज्ञान वर्त्तमान रहता है। जबतक जीव की आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति और शिवव्याप्ति पूर्ण रूप से नहीं होती, तब-तक आत्मोपासना के द्वारा ज्ञानप्राप्ति होने से भी परमशिव-पद में प्रतिष्ठित होने की सम्भावना नहीं : "तैः शैवपाशुपतलाकुलादिभिः नानात्मवादिभिः शिवत्वं कल्पितम्। आत्मनां व्यापकत्वनित्यत्वामूर्त्तत्वचित्त्वस्रष्टृत्वाद्यनन्तधर्मसाम्येन शिवैकरूपाणामपि केनचित् कल्पनामात्रेण निर्युक्तिकेन भिन्नशिवरूपत्वमुच्यते। ते सर्वे व्याख्यातव्यापकात्मोपासकाः शैवेऽस्मिन् अद्वयनये परमशिवं व्याख्यातस्वरूपं न गच्छन्ति, न तन्मयीभवन्ति। साङ्ख्य-योगवेदान्तवाद्यादयस्तु अपरदशावस्था एव, इति केन तेषामियत्पदप्राप्तिसम्भावनाऽपि ?" (स्वच्छन्दतन्त्र पर क्षेमराज-कृत उद्योतटीका, पृ० ४।३९१-३९२)

शिवाद्वैत-मत से चिदात्मा परमार्थ-स्वतन्त्र है। इसीलिए, इस दृष्टि से अज्ञान का स्वरूप शांकर मत से कुछ भिन्न रूप में वर्णित होता है। इस मत से भी अज्ञान ही संसार का एकमात्र हेतु एवं ज्ञान मोक्ष के प्रति एकमात्र कारण है। इस आगम में मूल अज्ञान आणवमल नाम से प्रसिद्ध है। बोध या चिद्भाव में स्वातन्त्र्य की हानि एक प्रकार का अज्ञान तथा स्वातन्त्र्य में बोध का अभाव अथवा जडत्व दूसरे प्रकार का अज्ञान है। अज्ञान अपूर्ण ज्ञान का दूसरा नाम है, यह परमेश्वर का स्वरूपगोपनात्मक है। इससे आत्मा तथा अनात्मा का अन्यथा अभिमान होता है। एकमात्र परमेश्वर के स्वातन्त्र्यवश ही इसका आविर्भाव होता है। पहले जिस अज्ञान को दो प्रकार का कहा गया है, उसी को तान्त्रिक परिभाषा में 'पौरुष' तथा बौद्ध परिभाषा में 'अज्ञान' कहते हैं। दीक्षा आदि के द्वारा पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने के बाद बौद्ध अज्ञान के आविर्भाव से जीवन्मुक्ति-दशा का आविर्भाव होता है। केवल बौद्ध ज्ञान के द्वारा विशेष फल नहीं होता। परन्तु, पौरुष ज्ञान निरपेक्ष होकर ही मोक्ष का कारण होता है। दीक्षा से पुरुषगत पाश का ही संशोधन होता है, बुद्धिगत पाश का शोधन नहीं होता। बौद्ध अज्ञान दुरध्य-वसायात्मक होता है। बौद्ध अज्ञान कर्म का कारण नहीं, परन्तु कर्म ही बौद्ध अज्ञान का कारण है। केवल बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इस बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के बाद बौद्ध ज्ञान का आविर्भाव होता है। यद्यपि यह शुद्ध है, तथापि विकल्पात्मक है और विकल्पमात्र ही संसार है। अनिश्चय एवं विपरीत ज्ञान—बुद्धिगत अज्ञान के ये दो स्वभाव हैं। विकल्प अथवा संकुचित ज्ञान ही पुरुषगत अज्ञान का स्वरूप है। इसलिए, संसार के मूल कारण रूप में इसका निर्देश किया जा सकता है। दीक्षा आदि के द्वारा इसकी निवृत्ति हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु, अनध्यवसाय-

रूप बौद्ध अज्ञान जबतक निवृत्त नहीं होता, तबतक दीक्षा की सम्भावना ही कहाँ? तत्त्वशुद्धि और शिव-संयोजन ही दीक्षा का स्वरूप है। हेय तथा उपादेय—इसका पहले निश्चय होने से ही यह हो सकता है। इसलिए, इस दृष्टि से अध्यवसायात्मक ज्ञान को ही प्रधान माना जाता है। बार-बार अभ्यास के फलस्वरूप बौद्ध ज्ञान पौरुष अज्ञान का भी नाश कर देता है। विकल्प ज्ञान की बार-बार आवृत्ति के फल से पर्यवसान में अविकल्पक ज्ञान का आविर्भाव होता है। आत्मा प्रकाश-स्वरूप है, इसमें विकल्पजन्य संकोच नहीं रहने से इसे शिवस्वरूप कहा जा सकता है। अतएव, सभी वस्तुओं में निश्चयात्मक सम्यक् ज्ञान सब प्रकार से ही अपेक्षित है।

जिस समय पुरुष का पशु-संस्कार क्षीण हो जाता है, और उसका आणव, कार्म तथा मायीय--इन तीन प्रकार के मलों का क्षय हो जाता है, उस समय सब प्रकार के बन्धनों की निवृत्ति हो जाने से पुरुष परासंवित् से तादात्म्य-लाभ करता है। उस समय उसमें निर्विकल्पक ज्ञान का आविर्भाव होता है। 'पूर्णोऽहम्' इत्याकारक विमर्श ही इसका स्वरूप है। कृत्रिम अहंकार आदि विकल्प के अन्तर्गत हैं, परन्तु इसमें किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता। इसी को पौरुष ज्ञान कहते हैं। दीक्षा आदि के द्वारा पौरुष अज्ञान की निवृत्ति नहीं होने से वैसा अज्ञानाभावरूप आत्मज्ञान अभिव्यक्त नहीं हो सकता। क्योंकि, शरीरात्मक कार्म मल आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्धक है। देहान्त के बाद उस प्रतिबन्धक के नहीं रहने से आत्मज्ञान अभिव्यक्त होता है—शिवत्व-लाभ होता है।

परमेश्वर का शक्तिसंचार (शक्तिपात) दीक्षा के निमित्त होता है और दीक्षा मुक्ति के हेतु होती है :

तस्मात् प्रवितताबस्मात् परस्थानविबोधनात्।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि॥

शक्तिसंचार की तीव्रता का तारतम्य हो सकता है। तीव्रतम शक्ति के संचार द्वारा अनुपायादिक्रम से दीक्षा होती है, जिसके बल से उसी समय कैवल्य की प्राप्ति होती है।

शिवाद्वयशास्त्र सुनने से जिस बौद्ध ज्ञान का उदय होता है, उससे अज्ञानजृम्भित बौद्धज्ञान विलीन हो जाता है और जीवन्मुक्ति का उदय होता है। परन्तु, अदीक्षित को यह बौद्धज्ञान हो ही नहीं सकता; क्योंकि उसे शास्त्र सुनने का ही अधिकार नहीं। इसलिए, शास्त्रावबोधनिमित्तक बौद्ध ज्ञान उसको हो ही नहीं सकता। विशेषतः, जिसका पौरुष ज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, उसे बौद्ध ज्ञान के द्वारा वैसा फल भी नहीं मिल सकता।

शाक्ताद्वैतवाद :

शक्त्यद्वयसिद्धान्त को आज प्रायः सभी लोग भूल गये हैं, परन्तु प्राचीन काल में दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य पर इस सिद्धान्त का यथेष्ट प्रभाव था। हमने पहले, संक्षेप में, शिवाद्वयवाद पर आलोचना की है। वास्तव में, शिवाद्वय-सिद्धान्त से शाक्ताद्वैत-मत का मूलतः कोई विशेष प्रभेद नहीं, जो भेद दिखाई देता है, वह केवल उपासना का बहिरंग

भेद है। इसीलिए, सोमानन्द-कृत 'शिवदृष्टि' की टीका में उत्पलदेव ने शाक्तों को 'स्वयूथ्यानद्वयवादिनः' कहकर वर्णित किया है, किन्तु खण्डन नहीं किया है। उसमें लिखा है :

यस्या निरुपाधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया।
व्यपदेशः परां तां त्वमम्बां नित्यमुपास्महे ॥

शाक्तमतवाले शक्तिव्यतिरिक्त रूप में शक्तिमान् के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं, शक्तिमान् अथवा शिव वस्तुतः शक्ति की ही केवल उपाधिहीन परम अवस्था है।

शाक्ताद्वैत का विशेष परिचय पाना हो, तो पाठकों को 'मालिनीविजय', 'स्वच्छन्द-तन्त्र', 'शक्तिसूत्र', 'परात्रिंशिका', 'तन्त्रालोक', 'मातृकाचक्रविवेक', 'योगिनीहृदय', 'त्रिपुरा-रहस्य' (ज्ञानखण्ड), 'वरिवस्यारहस्य' आदि ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिए। यद्यपि इनमें दो-एक ग्रन्थों को छोड़कर सभी ग्रन्थ शंकर से अर्वाचीन हैं, तथापि सम्प्रदाय का विच्छेद नहीं होने के कारण इनमें सिद्धान्त की प्राचीन धारा का परिचय प्राप्त होता है।

नाथ-सम्प्रदाय का अद्वैतवाद :

प्राचीन अद्वैतवाद की चर्चा के प्रसंग में यहाँ नाथ-सम्प्रदाय के बारे में दो-एक बात कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। नाथ आचार्य कहते हैं : इस मत के आदिगुरु नाथरूपी परमेश्वर हैं। मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, जालन्धर, चर्पटी, चतुरंगी, विचारनाथ आदि सिद्धा-चार्यों ने अपने अलौकिक जीवन तथा ज्ञानैश्वर्य के प्रभाव से इस मत का विशेष प्रचार किया था। अभिनवगुप्ताचार्य ने 'तन्त्रालोक' में जिस अर्धत्र्यम्बक-मार्ग अथवा तुरीय मार्ग का उल्लेख किया है, किन्हीं-किन्हीं के मत से वह नाथमार्ग का ही प्राचीन रूप है। कहीं-कहीं यह मत अतिमार्ग नाम से भी परिचित है। भैरव एवं भैरवी के बाद लौकिक जगत् में मीननाथ (मच्छन्द) ही इसके आदिप्रचारक थे। ऐसा जाना जाता है कि कामरूप-क्षेत्र ही इस मत का आदिप्रचारस्थान है।[1] 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह', 'विवेक-मार्त्तण्ड', 'नाथसूत्र', 'गोरक्ष-उपनिषद्', 'निरंजनपुराण', 'योगबीज', 'अमनस्क' आदि ग्रन्थ इसी सम्प्रदाय के हैं। परन्तु, यह सब ग्रन्थ शंकर से प्राचीन हैं, इसमें सन्देह है। अवधूत-सम्प्रदाय से नाथ-सम्प्रदाय का सम्बन्ध था। यद्यपि इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ में कहीं-कहीं कापालिकों की निन्दा भी पाई जाती है, तथापि किसी-किसी हेतु से अनुमान किया जाता है कि किसी विषय में कापालिकों से नाथों का सम्पर्क भी था। यह प्रकृष्ट अद्वैतवाद है, इसमें

१. तन्त्रमार्ग के साथ कुलमार्ग भी अनादि काल से प्रचलित है। इस कुलमार्ग को कहीं-कहीं 'अतिनय' अथवा 'कालिनय' कहा गया है। रहस्यविद ज्ञानियों में यह 'अर्धत्र्यम्बकमठिका' नाम से प्रसिद्ध था। भैरव (दक्षिणपीठनायक), भैरवी, सिद्धमीन या मच्छन्द—इस क्रम से यह मत संसार में पहले प्रवृत्त हुआ था। 'तन्त्रालोक' की टीका में मच्छन्द तुरीयनाथ के नाम से अभिहित हुए हैं; क्योंकि वह चतुर्थ मठ के अध्यक्ष थे।

कोई सन्देह नहीं। आचार्य नित्यनाथ ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में सृष्टि के पहले की स्थिति का जो वर्णन किया है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है : उस समय ब्रह्मा आदि देव नहीं थे; पृथिवी, जल आदि का समुदाय पंचभूत भी नहीं था, देश और काल भी नहीं था, वेद तथा प्राण, चन्द्र, सूर्य, विधि, कल्प तथा नियति – यह सब कुछ भी नहीं था। उस समय केवल एकमात्र स्वप्रकाश सत् वस्तु ही थी, उसी को परमपद कहा जाता है।[१] उसका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। इस ग्रन्थ में कर्मखण्ड, ज्ञानखण्ड, तत्त्वखण्ड तथा निरंजनखण्ड—इस क्रम से नाथमत के साम्प्रदायिक सिद्धान्त का निर्णय किया गया है। नाथमत में परतत्त्व या परब्रह्म को अव्यक्त, अनाथ एवं अनादिनिधन कहा गया है। उनकी एक स्वरूपभूत शक्ति (निजशक्ति) है, जो उनसे सर्वथा अभिन्न है। साधारणतः, उसे इच्छारूप में जाना जा सकता है। स्वातन्त्र्य ही उसका स्वरूप है। उन्मेष-फलस्वरूप उससे परा-शक्ति का आविर्भाव होता है। पराशक्ति का विकास अपराशक्ति है। अपराभूमि के अनन्तर अहन्ता की वृद्धि के फलस्वरूप सूक्ष्म शक्ति का उल्लास होता है और उससे संवेदनशील कुण्डलिनी-शक्ति का उन्मेष होता है। इन पाँच प्रकार की शक्तियों में पाँच-पाँच गुणों के वर्तमान होने से समग्र शक्तितत्त्व में पच्चीस गुण माने जाते हैं। शक्तिस्फुरण की पूर्वा-वस्था में ब्रह्म निर्गुण होता है। शक्ति की स्फूर्त्ति या गुण का आविर्भाव—ये एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। शक्ति की भाँति अनादिपिण्ड भी स्वरूपतः निर्गुण है, परन्तु शक्ति-विभाग के साथ-साथ उससे क्रमशः गुणमय परमानन्द, प्रबोध, चिद्रूप, प्रकाश एवं सोऽहं-भाव का विकास होता है। यहाँ भी प्रत्येक भाव में पाँच-पाँच प्रकार के गुणों का आविर्भाव होता है। इसलिए, सृष्टिमार्ग में अनादिपिण्ड भी पच्चीस गुणविशिष्ट हो जाता है। इस विषय का विस्तार से विवरण देना यहाँ अनावश्यक है।

शंकर-परवर्त्ती प्राचीन वेदान्त :

शंकर के बाद भट्टभास्कर तथा यादवप्रकाश के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भट्टभास्कर[२] ने त्रिदण्डिमत के अनुसार 'वेदान्तसूत्र' पर एक भाष्य की रचना की। इनके आविर्भाव का समय निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु, ऐसा अनुमान होता है कि नवीं शताब्दी में यह जीवित थे। यह भी भर्तृप्रपंच की भाँति समुच्चय-

---

१. न ब्रह्मा विष्णुरुद्रा न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
नाग्निर्वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव प्राणा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पः
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्त्ते ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति, प्रारम्भ)

२. कोई-कोई उन्हें दसवीं सदी का कहते हैं। द्रष्टव्य : बड़ोदा से प्रकाशित आनन्दज्ञान-कृत 'वेदान्ततर्कसंग्रह' की भूमिका (पृ० १६)। उदयनाचार्य ने 'कुसुमांजलि' के द्वितीय स्तबक में 'ब्रह्मपरिणतेरिति भास्करगोत्रे युज्यते' ऐसा कहकर उनके नाम तथा ब्रह्मपरिणामवाद का उल्लेख किया है। उदयन ने

वादी थे। भर्त्तृप्रपंच के समुच्चयवाद के बारे में पहले कहा जा चुका है। भास्कर के मत में केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं हो सकता, कर्म की भी आवश्यकता है। ज्ञान की उत्पत्ति कर्म से नहीं होती, किन्तु, श्रवण-मनन-रूप साधन से होती है। अतएव, ज्ञान के लिए जैसे जीवन-भर शम, दम आदि का अनुष्ठान आवश्यक है; क्योंकि इसके विना अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही ज्ञान की उत्पत्ति के लिए आश्रम-कर्म का अनुष्ठान भी आवश्यक है। कर्म का त्याग किसी भी अवस्था में उचित नहीं। श्रुति में कहीं भी सभी कर्मों के त्याग का उपदेश नहीं मिलता। "**पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थानार्थं भिक्षाचर्यं चरन्ति।**" इस श्रौतवचन से शंकर-सम्प्रदायवाले ऐसा अनुमान करते हैं कि निखिल कर्म का त्याग ही श्रुति का सिद्धान्त है। किन्तु, भास्कर कहते हैं, श्रुति में कर्मत्याग का प्रसंग ही नहीं है। इसमें पुत्रादिलिंगक गार्हस्थ्य-आश्रम से आश्रमान्तर-ग्रहण की बात

---

९०६ शकाब्द, अर्थात् ९८४ खृष्टाब्द में 'लक्षणावली' की रचना की थी। अतएव, दसवीं सदी के पहले, अथच शंकर के बाद उनका आविर्भाव हुआ था। परन्तु, कतिपय आचार्यों का मत यह है कि भास्कर शंकर के समकालीन थे और उसी समय उन्होंने शंकर के मत का खण्डन भी किया था। इनके अनुसार शंकराचार्य ने गीताभाष्य के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में जो ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद का खण्डन किया है, वह भास्कर का मत है। भास्कराचार्य वाचस्पति के पूर्ववर्त्ती थे, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्य (३।३।२९) में भास्कर ने कहा है: 'यदि पुण्यमपि निवर्त्तते किमर्था तर्हि जातिः? इत्याशङ्क्य उच्यते' आदि। वाचस्पतिमिश्र ने भी 'भामती' में इसका उल्लेख किया है। यथा: 'ये तु पुण्यमपि निवर्त्तते किमर्था तर्हि जातिः? इत्याशङ्क्य सूत्रमवतारयन्ति' आदि। यहाँ 'ये' पद से भास्कराचार्य ही अभिप्रेत हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। क्योंकि, यह वचन 'भास्करभाष्य' में मिलता है। वाचस्पति का समय ८९८ संवत् या ८४७ ई० है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भास्कर उनके पहले ही विद्यमान थे और उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना उनके पहले ही की थी। गीता पर एक 'भास्करभाष्य' पुस्तक मिलती है। इसकी हस्तलिखित पोथी गवर्नमेण्ट संस्कृत-कॉलेज, काशी में है। उन भास्कर से भिन्न दिवाकरभट्ट के पुत्र श्रीकण्ठ के शिष्य एक दूसरे भट्ट-भास्कर नाम के आचार्य का पता चलता है। उन्होंने 'शिवसूत्र' पर एक वार्त्तिक की रचना की है। वह काश्मीर के शैवाचार्यों में अन्यतम थे। उनका जन्मकाल अभिनवगुप्त से पहले है। उन्होंने भी गीता पर एक भाष्य लिखा है, पर वह पुस्तक अब अप्राप्य है। गीता के १८वें अध्याय के दूसरे श्लोक की टीका में अभिनवगुप्ताचार्य ने एक और दूसरे भास्कर का भी उल्लेख किया है। यह वेदान्ती भास्कर थे अथवा शैव भास्कर, इसका निश्चित पता नहीं है।

कही गई है। स्मृति में इसकी व्यवस्था भी है। उसके अनुसार ही इस श्रौतवचन का अभिप्राय समझना होगा, नहीं तो 'भिक्षाचर्य' पद से बौद्ध, जैन आदि अवैदिक सम्प्रदायों की भिक्षाचर्या को अंगीकार करना होगा। स्मृति में त्रिदण्ड, यज्ञोपवीत आदि की व्यवस्था उत्तम आश्रम के लिए व्यवस्थापित हुई है। सर्वकर्मत्यागी केवल ज्ञान के द्वारा ही मोक्षलाभ करते हैं, यह कहना युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि श्वेताश्वतर का वचन वास्तव में इसका समर्थन नहीं करता। जैसे :

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्॥

उपनिषद् के इस वाक्य को कर्मत्याग के अनुकूल नहीं माना जा सकता; क्योंकि आश्रमलंघनकारी को अत्याश्रमी कहने से भाषा का अपव्यवहार ही हो पड़ता है। अपराधी प्रायश्चित्त के योग्य है। उसकी ज्ञान-योग्यता किसी भी दृष्टि से स्वीकार नहीं की जा सकती। इसके विपरीत, 'अत्याश्रमी' शब्द से यदि ज्ञानी को ग्रहण किया जाय, तो वह भी संगत नहीं प्रतीत होता; क्योंकि उस अवस्था में 'प्रोवाच' पद का प्रयोग नहीं हो सकता। भास्कर ने युक्ति के द्वारा प्रमाणित किया है कि कर्म का त्याग हो ही नहीं सकता और शास्त्र का वैसा अभिप्राय भी नहीं है। वेदान्त-वाक्य से केवल अर्थज्ञान होता है, उसके बल से संसार निवृत्त नहीं होता। जबतक उपासना या निदिध्यासन आदि नहीं किये जाते, तबतक क्लेश का बीज दग्ध नहीं होता। विद्या अथवा ज्ञान अपवर्ग का उपयुक्त साधन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु, भास्कर के मत से विद्या का फल शंकर के मत से स्वीकृत विद्या के फल से भिन्न है; क्योंकि भेदज्ञान के हेतुभूत अविद्या की निवृत्ति के बाद विद्या मुक्ति की साधिका नहीं होती। वाक्यार्थज्ञान से निखिल द्वैतज्ञान भी निवृत्त नहीं होता। जबतक शरीर से सम्बन्ध रहता है, तबतक शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के द्वारा रूप, रस आदि-विषयक ज्ञान अवश्य ही उत्पन्न होगा। परन्तु, देहपात के बाद भेदज्ञान पूर्णरूप से निवृत्त हो जाता है तथा सर्वज्ञत्व आदि पारमेश्वर धर्म का आविर्भाव होता है, लौकिक तथा अलौकिक सभी कर्म उस समय निवृत्त हो जाते हैं। अतएव, जबतक 'मेरा शरीर' इत्याकारक बोध रहेगा, तबतक आश्रमोचित कर्म अवश्य ही करना होगा। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि औपाधिक हैं। जबतक उपाधि, अर्थात् शरीर रहेगा, तबतक कर्त्तृत्व आदि का उपरम नहीं हो सकता। किन्तु, ज्ञानी के कर्त्तृत्वाभिमान नहीं रहता, इसके विपरीत अज्ञानी के लिए अभिमान स्वाभाविक है, दोनों में यही अन्तर है।

भास्कर के मत से जीवित अवस्था में ठीक-ठीक मुक्ति नहीं होती। राग, द्वेष आदि से मुक्ति किसी प्रकार से अवश्य ही मिल सकती है, परन्तु आत्यन्तिक मुक्ति या ब्रह्मभावापत्ति नहीं होती। उसके लिए ज्ञान और कर्म दोनों ही चाहिए। ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, परन्तु भेदज्ञान नहीं जाता। प्रारब्ध कर्म रह ही जाता है। पूर्व के जन्मों तथा वर्त्तमान जन्म में ज्ञानोदय के पहले के समय का सारा ही संचित कर्म नष्ट हो जाता है तथा

ज्ञानोदय के बाद के कर्म से सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु, ज्ञानशक्ति से प्रारब्ध का नाश नहीं होता। जैसे: 'अग्निः अभ्रपटलं न दहति, ईन्धनं तु दहति—कोऽत्र पर्यनुयुज्यते, विचित्रा हि शक्तयो भावानाम्।' प्रारब्ध का नाश नहीं होने से देहावस्था-काल में जीव का कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व अनुवृत्त रह ही जाता है। अतएव, कर्म के साथ विद्या ही अपवर्ग का साधन है—केवल विद्या नहीं: "समुच्चिताभ्यामेव ज्ञानकर्मभ्यामविद्यानिवृत्तिद्वारेण अपवर्गो व्यज्यते नान्यतरेण।"

भास्कर कहते हैं: श्रवण एवं मनन का बार-बार अभ्यास करने से 'तत्' एवं 'त्वम्' पदार्थ की व्युत्पत्ति के बाद आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है। लेकिन यह सबके नहीं होता। जिसके चित्त का संस्कार अपटु है, वह व्यक्ति एक ही बार में ब्रह्मत्वभाव का अनुभव नहीं कर सकता। जबतक अविद्या रहती है, तबतक कर्त्तव्य रह ही जाता है। इसके निवृत्त होने पर जब ब्रह्मभाव का उदय होता है, तब किसी भी प्रकार के कर्त्तव्य का शेष नहीं रह जाता। भास्कर कहते हैं: साक्षात्कारात्मक ज्ञान के लिए केवल एक ही बार श्रवण या मनन करना पर्याप्त नहीं है।

उनके मत से प्रपंच परमात्मा की अवस्था-विशेष है। यह सत्य है और भेद भी सत्य है। इसी के सहारे सभी प्रकार का व्यवहार निष्पन्न होता है। जीवात्मा और परमात्मा स्वभावतः अभिन्न ही हैं, पर उपाधिवश विभिन्नता आ जाती है। उपाधि के निवृत्त हो जाने से भेदभाव जाता रहता है, यही मुक्ति या शुद्ध परमात्मरूप में स्थिति है।

भास्कर ब्रह्म के स्वाभाविक परिणाम को स्वीकार करते हैं। ब्रह्म के शक्तिविक्षेप से ही सृष्टि एवं स्थिति का व्यापार निरन्तर चलता है। जैसे सूर्य अपनी रश्मियाँ बिखेरते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी अपनी अनन्त और अचिन्त्य शक्ति का विक्षेप करते हैं। ब्रह्म के ऐसे परिणाम-व्यापार का फल ही जगत् है। परिणाम ब्रह्म का स्वभाव है। निरवयव वस्तु का परिणाम नहीं हो सकता, यह युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि परिणाम का एकमात्र प्रयोजक होता है स्वभाव, सावयवत्व नहीं। क्षीर से दधिरूप परिणाम होता है। इसका कारण यह नहीं कि क्षीर सावयव पदार्थ है, बल्कि परिणाम-प्राप्ति उसका स्वभाव है। यदि सावयवत्व को परिणाम का कारणरूप स्वीकार किया जाय, तो जल का दधि रूप में परिणाम का प्रसंग आयगा। भास्कर कहते हैं: वास्तव में, सूक्ष्म भाव से विचार करने पर प्रतीत होता है कि सावयव वस्तु का परिणाम हो ही नहीं सकता, निरवयव का ही परिणाम होता है:

अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत्॥

जैसे अच्युतस्वरूप तन्तु ही पटरूप में अवस्थित होता है और जैसे अच्युतस्वभाव आकाश से ही वायु की उत्पत्ति होती है, वैसे ही अच्युतस्वभाव ब्रह्म से ही जगत् का आविर्भाव होता है: "चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य

जगत्कारणस्य परिणामो ऽयवस्थाप्यते स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति ।" साधारण मनुष्य की बुद्धि में ऐसा सामर्थ्य नहीं है, जिसके वल से वह वस्तुशक्ति का परिच्छेद करने में समर्थ हो। परमेश्वर की स्वाभाविक शक्ति अचिन्त्य है।

कार्यकारणभाव के विषय में **भास्कर** कहते हैं: कार्य सत्पदार्थ है, कारण ही तत्तत् अवस्था प्राप्त होकर कार्य का रूप धारण करता है। अवस्था तथा अवस्थावान्— धर्म एव धर्मी में आत्यन्तिक भेद नहीं है, दोनों एक ही वस्तु हैं। गुणहीन द्रव्य और द्रव्यहीन गुण—दोनों का ही अस्तित्व सम्भव नहीं है। उपलब्धि द्वारा भेदाभेद का पता चलता है। समुद्र जलरूप में एक ही है, पर तरंग आदि रूप में अनेक। इसलिए, इन सबको समुद्र की शक्ति के रूप में अंगीकार किया जाता है। शक्ति और शक्तिमान् में अभिन्नता और भिन्नता दोनों ही सिद्ध होती हैं। शक्तिमान् के एक होते हुए भी शक्तिगत भेद का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। इसीलिए भास्कर ने कहा है: **'तस्मात् सर्वमेकानेकान्तात्मकम्, नात्यन्तं भिन्नमभिन्न वा ।'**

कारण की अवस्था दो प्रकार की है: एक स्वरूपावस्था और दूसरी कार्यावस्था। ईश्वर की शक्ति भोक्तृ तथा भोग्य भेद से दो प्रकार की है। उनकी भोक्तृशक्ति जीवरूप में अवस्थित रहती है और भोग्यशक्ति आकाश आदि अचेतन रूप में परिणामप्राप्त होती है।[1]

पहले कहा गया है, उपासना अथवा योगाभ्यास के विना अपरोक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसका स्वरूप क्या है, यह जानना आवश्यक है। **भास्कर** ने अपने ग्रन्थ में इसका परिचय दिया है। भास्कर के मत से वाक्, मन, बुद्धि, महान्, आत्मा तथा शान्त प्रपंचातीत ब्रह्मतत्त्व —निवृत्तिमार्ग का यही क्रम है। सबसे पहले वाक् या निखिल बाह्येन्द्रिय के व्यापार का मन में संयमन करना होगा। संकल्प, काम, स्मृति आदि वृत्तियों का जो आश्रय है, वही मन है। इन्द्रिय-व्यापार के निरुद्ध होने पर ज्ञानात्मक बुद्धि से[2] मन का उपसंहार करके बुद्धि को महान् आत्मा में, अर्थात् भोक्ता में स्थापित करना चाहिए। सबसे अन्त में इस महान् आत्मा को, अर्थात् जीवात्मा को शान्त प्रपंचातीत सर्वव्यापी अमृतरस परमात्मा के साथ सम्बद्ध कराना आवश्यक है। उसके उपाय के रूप में **'स एवाहमस्मि'**

१. **भास्कर के मतानुसार भेदाभेद में जो विरोध प्रतिभात होता है, उससे हानि नहीं होती; क्योंकि प्रमाण प्रतीतिसिद्ध होने से विरोध या अविरोध का विचार अनावश्यक है :**

प्रमाणश्चेत् प्रतीयेत को विरोधोऽयमुच्यते ।
विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम् ॥

२. **भास्कर के मत से अध्यवसाय इसका स्वरूप तथा अहंकार इसका धर्म है। भास्कर कहते हैं: अन्तःकरण दो प्रकार का है—बुद्धि और मन।**

इत्याकारक चिन्तन करना होगा। यही योग या उपासना है, जिसका फल अपरोक्ष ज्ञान या विष्णु के परमपद की प्राप्ति है। सनकादि-कृत योगशास्त्र में भी इसी को योग कहा गया है; क्योंकि उस मत से ध्यान, धारणा तथा समाधि ही योग का अंग है। इनमें, अभिप्रेत ब्रह्मप्राप्ति के लिए चित्त की एकाग्रता को 'ध्यान' कहते हैं। प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि एवं मन के युगपत् सन्धान या एकलक्ष्याभिमुखी वृत्ति को 'धारणा' तथा श्रद्धा एवं प्रयत्न के साथ नित्य चिन्तन को 'समाधि' कहते हैं। भास्कर ने अपने ग्रन्थ में सनक के योगमहत्त्व-व्यंजक वचन उद्धृत किये हैं।

जयतीर्थ की गीता की टीका (२।५४) से प्रतीत होता है कि भास्कर के मतानुसार ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर, ये तीन देवता परमात्मा के स्वरूप नहीं, अपितु उनके अवयवभूत हैं। यही 'त्रिमूर्त्ति-उत्तीर्ण-ब्रह्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वासुदेव या कृष्ण परमात्मा नहीं हैं—इस प्राचीन मत को जयतीर्थ ने अपनी गीताटीका में उद्धृत किया है (गीताटीका, १३।१२)। कतिपय आचार्यों का ऐसा विश्वास है कि यह प्राचीन मत ब्रह्मसूत्रभाष्यकार भास्कराचार्य का है। जयतीर्थ ने उसी गीताटीका (२।४७) में भास्कर के निष्काम कर्म-विषयक मत का भी उल्लेख किया है।

भास्कर के मत से सृष्टि का क्रम इस प्रकार है : १. अव्याकृत आकाश या भूतसूक्ष्म। सर्वज्ञ और सर्वशक्ति परमात्मा ने प्राणियों के भोगकाल को आसन्न जानकर पहले इसकी सृष्टि की। २. हिरण्यगर्भ। ३. हिरण्यगर्भ में परमात्मा का अनुप्रवेश एवं उसी रूप में अवस्थिति। ४. आकाश आदि क्रम से ब्रह्माण्ड-सृष्टि। ५. स्थावरान्त समग्र जगत् की सृष्टि। सृष्टि प्राणियों के कर्म का अनुसरण करती है और यह स्वाभाविक है। सृष्टि के प्रारम्भ में परब्रह्म के अनुग्रह से उनमें प्रतिष्ठित वेद प्रजापति के मन में आविर्भूत हुआ। सृष्टि के साथ-ही-साथ वेद का आविर्भाव हुआ।

भास्कर के मत से मुक्ति दो प्रकार की है : १. सद्योमुक्ति और २. क्रममुक्ति। दोनों ही उपासना के फलस्वरूप तथा अनावृत्ति की साधिका हैं, अर्थात् दोनों प्रकार की मुक्ति में जो कोई भी मुक्ति प्राप्त होने से मानव-आवर्त्त में फिर से लौटकर नहीं आना पड़ता। जो व्यक्ति साक्षात् कारणब्रह्म के उपासक है, वे सद्योमुक्ति लाभ करते हैं। जो परम्परा-भाव से ब्रह्मोपासना करते हैं, कार्यब्रह्म के उपासक हैं, वह सबसे पहले अर्चिः आदि मार्गों द्वारा देवयान-पथ से हिरण्यगर्भ में प्रवेश करते हैं। उसके बाद वही अन्तःकरण शुद्ध होने से ज्ञान का उत्कर्ष प्राप्त करके हिरण्यगर्भ के साथ एक ही समय मुक्तिलाभ करते हैं। हिरण्यगर्भ ही कार्यब्रह्म हैं। महाप्रलय में कार्यब्रह्म के प्रलीन हो जाने पर हिरण्यगर्भ जिस समय परमपद प्राप्त करते हैं, उसी समय हिरण्यगर्भ के द्वारा अंगीकृत पूर्वोक्त जीव भी परमपद प्राप्त करते हैं।

मुक्त पुरुषों में जो परम कारण से सायुज्य प्राप्त करते हैं, उनके ऐश्वर्य की सीमा नहीं रहती। किन्तु, जो मुक्त होकर भी पृथक् रूप से रहते हैं, जिनकी कार्यब्रह्म में

अवस्थिति होती है, उनका ऐश्वर्य ससीम होता है।[1] इसीलिए, वैसे मुक्त पुरुष जगत् के व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करते। एकमात्र नित्यसिद्ध परमेश्वर का ही इसमें अधिकार है। अणिमा आदि सिद्धियाँ मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य हैं। स्वातन्त्र्यात्मक ऐश्वर्य एकमात्र परमेश्वर का ही है। सूर्यमण्डल ही आधिकारिक मण्डल है; क्योंकि वही अधिकार, अर्थात् लोकानुग्रह-व्यापार में प्रवृत्त है। इसी का दूसरा नाम है संवत्सरचक्र अथवा वैराजशरीर। इसमें सभी लोक, सभी वेद तथा सभी देव पूर्णरूप से सन्निविष्ट हैं। कार्यब्रह्मलोक तक ही लिंगशरीर रहता है। इसलिए, यह भी संसार-मण्डल के अन्तर्गत है। लिंगशरीर सूक्ष्म है, इसलिए वह शीघ्र लीन नहीं होता। किन्तु, कार्यब्रह्मलोक को अतिक्रम करने से लिंगशरीर की निवृत्ति हो जाती है। उस समय करणवर्ग नहीं रहता। कारणावस्था में सभी एकाकार हो जाते हैं। भास्कर के मत से मोक्ष ससम्बोध है, अर्थात् मोक्ष में ज्ञान रहता है। वह कहते हैं, यही श्रौत मत है। मोक्ष के विषय में शंकराचार्य के निःसम्बोध-पक्ष को भास्कर स्वीकार नहीं करते।

यादवाचार्य :

यादव भी भेदाभेदवादी थे। यह कहना कठिन है कि **यादवाचार्य** (सन् ११०० ई०) **रामानुज** के गुरु कांचीनिवासी **यादवप्रकाश** से भिन्न हैं या नहीं। श्रुतप्रकाशिकाकार **सुदर्शन** का मत यह है कि 'ब्रह्मसूत्र' (१।४।२०) में जो **आश्मरथ्य** का मतवाद वर्णित हुआ है, उसी के सहारे यादवप्रकाश का सिद्धान्त प्रकाशित हुआ था। **वेदान्तदेशिकाचार्य** ने अपने 'परमतभंग' नामक ग्रन्थ में भास्कर तथा यादवप्रकाश के मत की समालोचना की है। **व्यासराज** ने 'तात्पर्यचन्द्रिका' में यादवप्रकाश के मतवाद का उल्लेख किया है। यादवप्रकाश ने ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर भेदाभेदपक्षानुयायी भाष्य की रचना की है। **यादव** निर्गुण ब्रह्म तथा मायावाद को स्वीकार नहीं करते थे। इनके मत से ज्ञानकर्मसमुच्चय ही मुक्ति का साधन है, केवल ज्ञान अथवा केवल कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। इनके अनुसार, भेदज्ञान से संसार में प्रवृत्ति होती है तथा भेदाभेद-बोध से संसार की निवृत्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। भेद और अभेद समान रूप से सत्य हैं। चित् और अचित् में वास्तविक कोई भेद नहीं। यादव कहते हैं, साधन-बल से अचित् क्रमशः चित् में बदल जाता है। दोनों ही अनादि काल से ब्रह्म के विकास-रूप में वर्त्तमान हैं।

भास्कर और यादव में यही भेद है कि भास्कर सत्य उपाधि स्वीकार करते हैं, परन्तु यादव उपाधिवाद को स्वीकार ही नहीं करते। ब्रह्म भिन्नाभिन्न हैं। ब्रह्म का स्वरूप सन्मात्र है। चित्, अचित् एवं ईश्वर ब्रह्म के ही भेद हैं। ईश्वर स्वप्रकाश,

---

१. कार्यब्रह्मलोक में मुक्तपुरुष अपनी इच्छा के अनुसार शरीर का धारण और परिहार कर सकते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में काम, अर्थात् विषयभोग मन से होता है। शरीरी अवस्था में जाग्रत् अवस्था की भाँति स्थूलभाव से उपभोग होता है, और विदेह अवस्था में स्वप्नवत् होता है।

सर्वशक्तिसम्पन्न तथा आनन्दमय हैं, किन्तु जीव खण्डभाव-मात्र है । ब्रह्म अपनी परिणाम-शक्ति के द्वारा बहुत रूप में अपनी सृष्टि करते हैं । वह प्राणमय रूप में चित् और अचित् के प्राण हैं । **यादवप्रकाश** भी दूसरे प्राचीन आचार्यों की भाँति जीवन्मुक्ति को स्वीकार नहीं करते । यह परिणामवादी[1] थे (सर्वार्थसिद्धि, पृ० १३…)।

'पिशाचभाष्य' के विषय में मध्व-सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि **पिशाच** ने बादरायण-कृत 'ब्रह्मसूत्र' पर एक भाष्य की रचना की थी ।[2] पिशाच का गीताभाष्य तो प्रसिद्ध ही है ।

शंकराचार्य से रत्नप्रभाकार तक अद्वैत-वेदान्त का इतिहास :

शंकराचार्य के साक्षात् शिष्यों तथा ग्रन्थों के बारे में पहले ही चर्चा की जा चुकी है । **सुरेश्वराचार्य** के शिष्य **सर्वज्ञात्ममुनि** थे । इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'संक्षेपशारीरक' नामक एक सुन्दर पद्यात्मक व्याख्या की रचना की थी । इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अपने गुरु का **देवेश्वर** के नाम से उल्लेख किया है । इस ग्रन्थ का पठन-पाठन बहुत दिनों से चला आ रहा है । इसीलिए, इसपर अनेक अर्वाचीन विशिष्ट वेदान्ताचार्यों की टीकाएँ हैं । उनमें **नृसिंहाश्रम** की 'तत्त्वबोधिनी', **मधुसूदनसरस्वती** की 'सारसंग्रह', **पुरुषोत्तमदीक्षित** की 'सुबोधिनी' तथा **रामतीर्थ** की 'अन्वयार्थप्रकाशिका' टीकाएँ ही प्रधान हैं । **राघवानन्द-सरस्वती**-कृत 'विद्यामृतवर्षिणी' तथा **विश्वदेव**-कृत 'सिद्धान्तदीप' अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं । 'पंचप्रक्रिया' नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी सर्वज्ञात्ममुनि-रचित है (द्रष्टव्य : Madras Triennial Catalogue, No. 3619 B) । पर, उसकी प्रामाणिकता सर्वथा निश्चित नहीं है ।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र **वाचस्पतिमिश्र** का नाम भारतीय दर्शन के इतिहास में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है । वैशेषिक दर्शन के सिवा उन्होंने सभी दर्शनों पर उत्कृष्ट व्याख्या-ग्रन्थों की रचना की थी । वेदान्तशास्त्र में वाचस्पतिमिश्र के दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं । पहला है, **मण्डनमिश्र** की 'ब्रह्मसिद्धि' पर 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' नामक टीका और दूसरा शंकराचार्य के 'शारीरकभाष्य' पर 'भामती' टीका ।[3] 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' आजकल प्राप्य नहीं है । परन्तु, 'भामती' सर्वत्र प्रसिद्ध है ।

---

१. इनका कालतत्त्वविषयक वचन : "कालोऽत्यन्तोऽजस्रपरिणामी मुहूर्ताहोरात्रादि-विभागयुक् सर्वेषां परिणामहेतुः ।" (सर्वार्थसिद्धि, पृ० ६३१) ।

२. द्रष्टव्य : B.N. Krishnamurti Sharma द्वारा सम्पादित चतुःसूत्री मध्व-भाष्य की भूमिका, लॉ जर्नल प्रेस, मैलापुर, मद्रास, सन् १९३४ ई० ।

३. भामती पर अमलानन्द अथवा व्यासाश्रम-रचित प्रसिद्ध 'कल्पतरु' टीका छपी है । परन्तु, इसके अलावा 'भामतीतिलक' नाम की और भी एक टीका मिलती है, जिसके रचयिता का नाम अल्लाल है । अल्लाल के पिता का नाम त्रिविक्रमाचार्य तथा माता का नाम नागमाम्बा था । यह किस देश और

न्यायकन्दलीकार **श्रीधराचार्य** ने भी 'अद्वयसिद्धि' नामक एक वेदान्त-ग्रन्थ की रचना की थी (द्रष्टव्य : 'न्यायकन्दली', पृ० ५)।

अव्ययात्मा के शिष्य **विमुक्तात्मा** प्राचीन काल में एक प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य हुए थे। इनका 'इष्टसिद्धि' नामक ग्रन्थ शंकर-वेदान्त के मूल ग्रन्थों में परिगणनीय है। **मधुसूदन-सरस्वती** ने अपनी 'अद्वैतसिद्धि' का सिद्धिनामान्त चतुर्थ ग्रन्थ के रूप में उल्लेख किया है। 'ब्रह्मसिद्धि' (मण्डन-कृत), 'नैष्कर्म्यसिद्धि' (सुरेश्वर-कृत), 'इष्टसिद्धि'[1] (विमुक्तात्मा-कृत)–इन तीन प्राचीन सिद्धिनामान्त ग्रन्थों की अपेक्षा से ही उन्होंने अपने ग्रन्थ को चतुर्थ कहा है।

'इष्टसिद्धि' पर **आचार्य ज्ञानोत्तम** की टीका प्राचीन काल से ही बहुत प्रसिद्धि पा चुकी थी। इस टीका के अतिरिक्त ज्ञानोत्तम ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' पर 'चन्द्रिका' नाम की तथा 'ब्रह्मसूत्रशारीरकभाष्य' पर 'विद्याश्री' नाम की टीका रची थी। यह ज्ञानोत्तम **चित्सुखाचार्य** के गुरु **गौडेश्वराचार्य ज्ञानोत्तम** से भिन्न व्यक्ति हैं। यह चोल-देशवासी थे। अपने पिता का उल्लेख इन्होंने **नागेश** कहकर किया है। इसलिए, कतिपय पण्डितों का मत है कि यह टीका उन्होंने गृहस्थाश्रम में ही लिखी थी। यदि संन्यास-अवस्था में टीका लिखी होती, तो पिता के बदले गुरु के ही नाम का उल्लेख करते। प्रसिद्धि है कि सर्वज्ञात्मा और तत्त्वबोध के बाद ज्ञानोत्तम कांची के सर्वज्ञपीठ के अध्यक्ष हुए थे।

शंकर के साक्षात् शिष्य **पद्मपादाचार्य** ने 'शारीरकभाष्य' के एक भाग पर 'पंचपादिका' नाम से एक व्याख्या लिखी थी। उसपर परमहंस परिव्राजकाचार्य **अनन्यानुभव** के शिष्य **यतिवर प्रकाशात्मा** ने **'विवरण'** नाम के एक उत्कृष्ट व्याख्या-ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का इतना महत्त्व हुआ था कि वेदान्त-दर्शन के इतिहास में भामती-प्रस्थान के अनुरूप 'विवरण' का एक अलग प्रस्थान ही प्रकाशित हुआ। प्रकाशात्मा ने 'शारीरकभाष्य' पर 'न्यायसंग्रह' नाम की एक टीका लिखी थी। 'शाब्दनिर्णय' नाम का एक ग्रन्थ प्रकाशात्मा का इधर उपलब्ध हुआ है। 'न्यायसंग्रह' तथा 'शाब्दनिर्णय' के प्रकाशित होने पर प्राचीन काल के वेदान्तशास्त्र का बहुत विवरण मिल सकेगा, ऐसी आशा की जाती है।

उत्तमामृतयति के शिष्य **ज्ञानामृतयति** ने सुरेश्वर-कृत 'नैष्कर्म्यसिद्धि' पर 'विद्या-सुरभि' नाम की एक सुन्दर टीकाग्रन्थ की रचना की थी। अभी यह ग्रन्थ उपलब्ध है, पर अभी तक इसका प्रकाशन नहीं हुआ है।

किस समय के थे, यह आजतक निर्णीत नहीं हो सका है। नाम से लगता है, यह दक्षिणदेशीय थे। अपने गुरु व्यासाश्रम को इन्होंने नमस्कार किया है। इससे लगता है कि यह कल्पतरुकार से अर्वाचीन थे। इनके गुरु का नाम था प्रज्ञानारण्य योगी, ऐसा प्रतीत होता है।

१. कुछ दिन पहले बड़ौदा से गायकवाड़-ग्रन्थमाला में ज्ञानोत्तम की टीका के साथ 'इष्टसिद्धि' का प्रकाशन हुआ है।

'नैषधचरित' के रचयिता श्रीहर्ष का नाम सर्वत्र विख्यात है। क्योंकि, बहुत पुराने समय से ही इस ग्रन्थ के पठन-पाठन का सम्प्रदाय चला आ रहा है। श्रीहर्ष ने 'खण्डन-खण्डखाद्य' नाम के एक उत्कृष्ट खण्डनात्मक प्रकरण-ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि, अभिनव वाचस्पतिमिश्र ने 'खण्डनोद्धार' नाम के ग्रन्थ में तथा अन्य कई नैयायिकों ने विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकारों से इस ग्रन्थ के निराकरण के लिए बड़ा परिश्रम किया, फिर भी 'खण्डन' की कीर्त्ति जरा भी मलिन नहीं हुई। शंकरमिश्र की भाँति नैयायिकों ने खण्डन की टीका लिखी, जो 'खण्डन' के ही महत्त्व की परिचायिका है। अद्वयाश्रम के शिष्य रामाद्वय ने 'वेदान्तकौमुदी' नाम से ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार अधिकरणों पर एक आलोचनात्मक टीका रची थी। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में तथा दूसरे परवर्त्ती ग्रन्थों में कौमुदीकार नाम से जिन आचार्य के मत का उल्लेख किया गया है, वह कौमुदीकार रामाद्वय ही हैं।[1]

'शारीरकभाष्य' पर रामानन्दतीर्थ के शिष्य अद्वैतानन्द का 'ब्रह्मविद्याभरण' नामक एक उच्च कोटि का व्याख्या-ग्रन्थ है। (यह ग्रन्थ कुम्भकोणम् से प्रकाशित हुआ है)। आत्मवास के शिष्य आनन्दबोध भट्टारक अपने एकमात्र ग्रन्थ 'न्यायमकरन्द' के नाम से ही अमर हो गये हैं। चित्सुख आदि बड़े-बड़े आचार्यों ने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। 'न्यायदीपावली', 'प्रमाणरत्नमाला' तथा प्रकाशात्मयति के 'शाब्दनिर्णय' पर 'दीपिका' नाम की टीका आनन्दबोध के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। चित्सुखाचार्य के गुरु गौडेश्वराचार्य ज्ञानोत्तम का कोई ग्रन्थ अभी तक नहीं मिल सका है। परन्तु, ज्ञानोत्तम भी उस समय प्रसिद्ध ग्रन्थकारों में गिने जाते थे। चित्सुख की 'तत्त्वदीपिका' से ज्ञात होता है कि ज्ञानोत्तम ने 'न्यायसुधा' नाम के एक दर्शन-ग्रन्थ की रचना की थी। इसी प्रकार प्रत्यक्स्वरूपाचार्य-कृत 'नयनप्रसादिनी' टीका से ज्ञानोत्तम के 'ज्ञानसिद्धि' नामक दूसरे ग्रन्थ का परिचय मिलता है।

चित्सुखाचार्य 'तत्त्वप्रदीपिका' नाम के ग्रन्थ से ही जगत्प्रसिद्ध हुए। आज भी वेदान्तज्ञ-समाज में इस ग्रन्थ का प्रचार और समादर अतुलनीय है। किन्तु, चित्सुख ने और भी अनेक दूसरे ग्रन्थों की रचना की थी। उन्होंने 'शारीरकभाष्य' पर 'भावप्रकाशिका', मण्डन की 'ब्रह्मसिद्धि' तथा सुरेश्वर की 'नैष्कर्म्यसिद्धि' पर यथाक्रम 'अभिप्रायप्रकाशिका' और 'भावतत्त्वप्रकाशिका' नाम की टीकाएँ लिखी थीं। आनन्दबोध के 'न्यायमकरन्द' और 'प्रमाणरत्नमाला' पर उनकी एक टीका मिलती है। प्रकाशात्मा के 'पंचपादिका-विवरण' पर चित्सुख की 'भावद्योतनी' नाम की टीका है। इसके अतिरिक्त, 'अधिकरणसंगति' तथा 'अधिकरणमंजरी'[2] नाम के उनके और भी दो छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं। चित्सुखाचार्य ने

---

१. यह ग्रन्थ भी प्राप्त हो गया है।

२. ये दोनों ग्रन्थ मद्रास से प्रकाशित 'Journal of Oriental Research' के पाँचवें खण्ड में प्रकाशित हुए हैं। काशी-संस्कृत-कॉलेज में 'अधिकरणमंजरी' की संवत् १५२५ वि० में लिखित एक प्रतिलिपि है, उसमें उसका नाम 'अधिकरणमणिमंजरी' लिखा है।

'विष्णुपुराण' और 'श्रीमद्भागवत' की भी सुन्दर व्याख्या लिखी है। 'खण्डनखण्डखाद्य' पर उन्होंने एक उत्कृष्ट व्याख्या लिखी थी, जो वाराणसी-संस्कृत-कॉलेज से प्रकाशित हुई थी।

ज्ञानोत्तम के विज्ञानात्मभगवान् नाम के और एक शिष्य का पता चलता है। इन्होंने श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों पर विवरणात्मक टीकाओं की रचना की थी। चित्सुखाचार्य के प्रधान शिष्य थे सुखप्रकाश। उन्होंने आनन्दबोधाचार्य के 'न्यायमकरन्द' तथा 'न्यायदीपावली' की टीका रची थी। अपने गुरु की 'तत्त्वदीपिका' पर उन्होंने 'भावद्योतनिका' नाम की जो व्याख्या लिखी, उसके प्रकाशित होने पर चित्सुख के सिद्धान्त को समझने में विशेष सहायता मिलेगी। 'अधिकरणरत्नमाला' नाम का उनका और भी एक ग्रन्थ मिलता है।

अनुभवानन्द के शिष्य व्यासाश्रम या अमलानन्द ने 'भामती' पर 'वेदान्तकल्पतरु' नाम की एक टीका लिखी थी। 'भामतीप्रस्थान' में उसकी सबसे अधिक प्रसिद्धि है।[1] संक्षेप में, भाष्य के अनुसरण से ब्रह्मसूत्र के अभिप्राय को समझने के लिए अमलानन्द ने 'शास्त्रदर्पण' नाम से 'ब्रह्मसूत्र' पर एक स्वतन्त्र वृत्तिग्रन्थ की रचना की। छोटा होते हुए भी इस ग्रन्थ का महत्त्व किसी भी अंश में न्यून नहीं है।

अनुभूतिस्वरूपाचार्ययति ने गौडपादीय 'माण्डूक्यकारिका' के शांकरभाष्य पर टीका लिखी है। आनन्दबोध-रचित 'प्रमाणरत्नमाला' में भी उनकी एक टीका मिलती है। अनुभूतिस्वरूप के शिष्य जनार्दन-कृत 'तत्त्वालोक' ने एक समय बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। अब भी इस ग्रन्थ का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। इसके प्रकाशन से मध्ययुग के वेदान्त के इतिहास के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकेगा। नरेन्द्रनगरी के शिष्य प्रकाशानन्द ने 'तत्त्वालोक' पर 'तत्त्वप्रकाशिका'[2] नाम की एक उत्कृष्ट टीका रची थी। आनन्दशैल या आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानन्द ने 'पंचपादिकाविवरण' पर 'तत्त्वदीपन'[3] एवं 'भामती' पर 'ऋजुप्रकाशिका' टीका लिखी थी, अर्थात् इन्होंने वेदान्त के 'भामतीप्रस्थान' और 'विवरणप्रस्थान' में अपने पाण्डित्य का परिचय दिया था। प्रत्यक्स्वरूपाचार्य की 'चित्सुखी' की टीका 'मानसनयनप्रसादिनी' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। प्रत्यक्स्वरूप के समय की जानकारी नहीं मिलती, लेकिन उनके ग्रन्थ की संवत् १५५२ वि० में लिखी एक पाण्डुलिपि मिली है।

१. इसपर अप्पय्यदीक्षित की 'परिमल' टीका के अतिरिक्त और भी कई टीकाएँ थीं। उनमें वैद्यनाथ-कृत 'कल्पतरुमंजरी' अधिक प्रसिद्ध है। इसका कुछ अंश गवर्नमेण्ट संस्कृत-कॉलेज, वाराणसी में है।
२. 'तत्त्वालोक' तथा 'तत्त्वप्रकाशिका' के विषय में वेलंकर-कृत 'Bombay Royal Asiatic Society' की ग्रन्थसूची, सं० ११०६, देखना आवश्यक है।
३. काशी-संस्कृत-कॉलेज में 'तत्त्वदीपन' की १५३३ शकाब्द की लिखी पाण्डुलिपि सुरक्षित है।

जनार्दनसर्वज्ञ के पुत्र **स्वामीन्द्रपूर्ण** के शिष्य **विष्णुभट्ट उपाध्याय** ने 'पंचपादिका-विवरण' पर 'ऋजुविवरण' नाम की एक टीका लिखी। **विद्यातीर्थ**, **भारतीतीर्थ** तथा **विद्यारण्यस्वामी** के नाम वेदान्त-दर्शन की १४वीं शती के इतिहास में विशेष उल्लेख्य हैं। **विद्यातीर्थ** (या विद्याशंकर) **परमार्थतीर्थ** के शिष्य थे। यद्यपि उनका कोई विशिष्ट ग्रन्थ नहीं मिला है, तथापि **माधवाचार्य** या **विद्यारण्यस्वामी** तथा **सायणाचार्य** पर उनका जो असाधारण प्रभाव था, उससे उनके महत्त्व और गौरव का अनुमान किया जा सकता है। **भारतीतीर्थ** भी एक प्रकार से माधवाचार्य के गुरुस्थानीय थे। 'पंचदशी' आदि कुछ ग्रन्थ **भारतीतीर्थ** एवं माधवाचार्य दोनों के संयुक्त नाम से प्रचलित हैं। भारतीतीर्थ के दो शिष्य थे—**परमानन्दतीर्थ** तथा **रामानन्दतीर्थ**। परमानन्द की 'अवधूतगीता' पर एक टीका है और रामानन्द ने विष्णुभट्ट-कृत 'ऋजुविवरण' पर 'त्र्यन्तभावदीपिका' नाम की टीका लिखी थी। माधवाचार्य और उनके भाई सायणाचार्य पर कहने को बहुत कुछ था, पर स्थानाभाव से यहाँ वह सम्भव नहीं हो सका।[1] संन्यास-ग्रहण के बाद **माधवाचार्य** विद्यारण्य के नाम से प्रख्यात हुए थे। इनके रचे वेदान्त-ग्रन्थ हैं: 'विवरण-प्रमेयसंग्रह', 'बृहदारण्यकवार्त्तिकसार', 'अनुभूतिप्रकाश', 'पंचदशी', 'जीवन्मुक्तिविवेक', 'वैयासिकन्यायमाला' तथा 'ब्रह्मगीताटीका'। इनमें किसी-किसी ग्रन्थ की रचना में उन्होंने भारतीतीर्थ का सहयोग लिया था। विद्यारण्य के शिष्य **रामकृष्ण** ने 'पंचदशी' की जो टीका लिखी है, वह सबसे अधिक प्रसिद्ध है। आनन्दाश्रम के शिष्य **शंकरानन्द** की 'कैवल्योपनिषद्', 'कौषीतकी-उपनिषद्', 'नृसिंहतापनीय', 'ब्रह्म', 'नारायण' आदि विभिन्न उपनिषदों पर 'दीपिका' नाम की टीका विद्यमान है।

माधवमन्त्री के समसामयिक एक दूसरे माधव का पता चलता है। यह आंगिरस गोत्र के थे। इनके पिता का नाम **चौण्डभट्ट** तथा माता का नाम **माचाम्बिका** था। यह प्रसिद्ध शैवाचार्य **काशीविलास क्रियाशक्ति** पण्डित के शिष्य थे। यह प्रथम बुक्क और द्वितीय हरिहर के अधीन गोआ के शासनकर्त्ता थे। यह असाधारण योद्धा थे। 'भुवनैकवीर', 'उपनिषद्-मार्ग-प्रतिष्ठापनगुरु' के रूप में इनकी प्रसिद्धि थी।

प्रसिद्ध नैयायिक उपस्कारकर्त्ता **शंकरमिश्र** ने 'खण्डनखण्डखाद्य' की दूसरी एक टीका लिखी। शंकर ने 'भेदरत्नप्रकाश' नाम के ग्रन्थ की रचना करके अद्वैत-मत के खण्डन का प्रयत्न किया। इस प्रकार, एक प्रसिद्ध नैयायिक के द्वारा वेदान्त पर यह टीका-रचना उल्लेख्य है।

परमहंस परिव्राजकाचार्य **आनन्दपूर्ण** अथवा **विद्यासागर** का नाम सर्वत्र परिचित है। एकमात्र खण्डन की टीका से ही इनका यश चारों ओर फैल गया था। इन्होंने अद्वैतवाद के और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। 'ब्रह्मसिद्धि' की टीका—'भावशुद्धि', बृहदारण्यक-

१. इस विषय के जिज्ञासु व्यक्ति आर० नरसिंहाचार्य-कृत 'Madhavacharya and His Two Brothers' नामक उत्कृष्ट तथा विस्तृत रचना 'Indian Antiquary' नाम की पत्रिका में देखें।

वार्त्तिकटीका—'न्यायकल्पलतिका', पंचपादिकाटीका, पंचपादिकाविवरणटीका—'टीकारत्न' आदि इनके प्रसिद्ध टीकाग्रन्थ हैं।[1] इन्होंने 'न्यायचन्द्रिका' नाम का एक प्रकरणग्रन्थ भी लिखा था। इस ग्रन्थ के चार परिच्छेद हैं। आनन्दपूर्ण का समय अभी निर्धारित नहीं हुआ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में वादीन्द्र, वासुदेवसूरि, विष्णुभट्ट, मानमनोहर, नीतितत्त्वाविर्भाव, न्यायलीलावती आदि ग्रन्थकारों एवं ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

शुद्धानन्द के शिष्य **आनन्दगिरि** के अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये सब ग्रन्थ टीकात्मक ही हैं। उनके द्वारा रचित 'शारीरकभाष्य' की टीका ('न्यायनिर्णय'), 'गीताभाष्य की टीका', 'पंचीकरणविवरण', 'उपदेशसाहस्रीटीका', 'न्यायरत्नदीपावलीव्याख्या', 'वाक्यवृत्ति', 'त्रिपुटी' आदि ग्रन्थों की टीकाएँ तथा मुख्य-मुख्य उपनिषदों के भाष्य की व्याख्याएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनकी 'उपदेशसाहस्रीटीका' की एक पाण्डुलिपि काशी-संस्कृत-कॉलेज के पुस्तकालय में है। उस पुस्तक का लिपिकाल है—शक १४७३ संवत्सर। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार **प्रकाशानन्द** ने दृष्टिसृष्टिवाद के विषय में उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना करके वेदान्त के मुख्य सिद्धान्तों के सर्वत्र युक्तिपूर्वक प्रचार की चेष्टा की। उनके शिष्य **नानादीक्षित** ने उस ग्रन्थ की 'सिद्धान्तदीपिका' नाम की व्याख्या लिखी थी।

ईसा की सोलहवीं सदी में **मधुसूदनसरस्वती** और **नृसिंहाश्रम** अन्यान्य पण्डितों से अधिक प्रसिद्ध थे। मधुसूदनसरस्वती-कृत 'संक्षेपशारीरक' की टीका की बात पहले ही कही गई है। इसके अतिरिक्त, गीता की टीका—'गूढार्थदीपिका', दशश्लोकीटीका—'सिद्धान्तबिन्दु', मुक्तिस्वरूपालोचनात्मक 'वेदान्तकल्पलतिका', 'अद्वैतरत्नरक्षण' आदि ग्रन्थ वेदान्तशास्त्र के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। 'अद्वैतरत्नरक्षण' शंकरमिश्र के 'भेदरत्न' का प्रतिवाद-रूप हैं। किन्तु, मधुसूदन की प्रधान कीर्त्ति का विषय 'अद्वैतसिद्धि' है। यद्यपि यह ग्रन्थ मध्वसम्प्रदाय के ग्रन्थविशेष के खण्डन के लिए लिखा गया था, तथापि साधारणतः अद्वैतसिद्धान्त को परिष्कृत नैयायिक रीति द्वारा अधिगत करने के लिए यह सर्वश्रेष्ठ वेदान्त-ग्रन्थ है। मधुसूदन के 'भक्तिरसायन', महिम्नःस्तोत्र की टीका आदि की चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं। मधुसूदन काशी में ही रहते थे, अपने समसामयिक संन्यासी-सम्प्रदाय में वही अग्रणी थे।

जगन्नाथाश्रम तथा **गीर्वाणेन्द्रसरस्वती** के शिष्य **नृसिंहाश्रम** की कीर्त्ति भी वेदान्त में सर्वत्र व्याप्त है। उनका 'वेदान्ततत्त्वविवेक' सं० १६०४ वि० या सन् १५४७ ई० में रचित हुआ था। नृसिंहाश्रम ने इसपर स्वयं ही 'दीपन' नाम की एक टीका लिखी थी। उनकी 'तत्त्वबोधिनी' नामक संक्षेपशारीरकटीका के बारे में पहले ही कहा गया है।[2]

---

१. 'व्याख्यारत्नावली' नाम से प्रसिद्ध, विद्यासागर-विरचित 'महाभारत' की एक टीका मिलती है। काशिका-व्याकरण में भी इनकी 'प्रक्रियामंजरी' नाम की एक टीका है।

२. यह ग्रन्थ काशी-संस्कृत-कॉलेज-सीरीज में प्रकाशित हुआ है।

नृसिंह के अन्यान्य ग्रन्थों में 'अद्वैतदीपिका', 'भेदधिक्कार', पंचपादिकाटीका—'वेदान्तरत्नकोष', पंचपादिकाविवरणटीका—'प्रकाशिका' तथा अखण्डानन्द-कृत तत्त्वदीपन की टीका—'भावप्रकाशिका' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'नृसिंहविज्ञापन' नाम का इनका एक छोटा-सा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। पहले यह दक्षिणनिवासी थे, कुछ समय बाद काशी चले आये और यहीं रहने लगे। भट्टोजिदीक्षित के घर के प्रायः सभी लोग इनके शिष्य थे। प्रसिद्ध है कि विख्यात मीमांसक तथा शैवाचार्य अप्पय्यदीक्षित ने भी इनके प्रभाव से शांकरमत ग्रहण किया। नृसिंह के शिष्य नारायणाश्रम ने 'भेदधिक्कार' पर 'सत्क्रिया'[1] नाम की टीका लिखी थी। नारायण के शिष्य माधवाश्रम ने 'स्वानुभवादर्श' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। सदानन्द का 'वेदान्तसार' इस शताब्दी के आरम्भ में रचित हुआ था, ऐसा लगता है।

कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ मधुसूदनसरस्वती के समसामयिक थे। उन्होंने भी 'संक्षेपशारीरक' की एक टीका लिखी थी—यह हम पहले कह चुके हैं। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम हैं : ब्रह्मसूत्रभाष्यटीका—'शारीरकरहस्यार्थप्रकाशिका', उपदेशसाहस्रीटीका—'पदयोजनिका', वेदान्तरसारटीका—'विद्वन्मनोरंजिनी', 'दक्षिणामूर्त्तिवार्त्तिकटीका' आदि। कृष्णानन्दसरस्वती के शिष्य नृसिंहसरस्वती ने १५१० शकाब्द में 'वेदान्तसार' की 'सुबोधिनी' टीका लिखी थी। रंगराजाध्वरीन्द्र सुप्रसिद्ध मीमांसक अप्पय्यदीक्षित के पिता थे। इन्होंने 'अद्वैतविद्यामुकुर' तथा 'पंचपादिकाविवरणदर्पण' नाम के दो वेदान्त-ग्रन्थों की रचना की थी। दर्पणटीका की एक पाण्डुलिपि अभी तंजौर में है। वीरराघवकवि ने नीलकण्ठदीक्षित के पूर्वजों का वर्णन करके 'अच्चानदीक्षितवंशावली' नाम के एक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें रंगराज के 'विवरणदर्पण' का उल्लेख है। अच्चान नीलकण्ठ के पिता तथा अप्पय्यदीक्षित के भाई थे।

इसके बाद अप्पय्यदीक्षित का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। मधुसूदनसरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' कहकर अप्पय्यदीक्षित का उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया है। वास्तव में अप्पय्यदीक्षित के सर्वोत्तम पाण्डित्य के बारे में किसी को मतभेद नहीं था या रह भी नहीं सकता। इन्होंने अनेक विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे। इनके मुख्य वेदान्त-ग्रन्थ हैं : 'न्यायरक्षामणि' (ब्रह्मसूत्रटीका), 'कल्पतरुपरिमल' ('वेदान्तकल्पतरु' की व्याख्या), 'सिद्धान्तलेशसंग्रह'[2] और 'स्वतन्त्रप्रकरण-ग्रन्थ'। इन्होंने श्रीकण्ठभाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक एक उत्कृष्ट पुस्तक लिखी थी। परन्तु, यह पुस्तक शांकरमत की नहीं है।

अप्पय्यदीक्षित के शिष्य भट्टोजिदीक्षित वैयाकरण एवं स्मार्त्त थे, ऐसी प्रसिद्धि है। लेकिन, उन्होंने शांकरवेदान्त पर भी ग्रन्थ लिखे। इनके वेदान्त-ग्रन्थ के नाम हैं :

१. 'भेदधिक्कार' की नृसिंहभट्ट-रचित एक टीका भी प्राप्त हुई है। सं० १६६० वि० में लिखी इसकी एक पाण्डुलिपि का भी पता चला है।

२. इसपर अच्युत कृष्णानन्द की 'श्रीकृष्णालंकार' नाम की एक टीका है।

'वेदान्ततत्त्वकौस्तुभ' और 'तत्त्वविवेकविवरण'। तत्त्वकौस्तुभ में भट्टोजिदीक्षित ने माध्वमत के खण्डन की प्रचेष्टा की है। यह ग्रन्थ केवली वेंकटेन्द्र के आदेश से लिखा गया था। इनसे अप्पय्यदीक्षित का सम्बन्ध था, कोई-कोई ऐसा कहते हैं। उनके दूसरे ग्रन्थ का नाम है 'विवरण'। यह उनके गुरु नृसिंहाश्रम के 'तत्त्वविवेक' पर टीका है। भट्टोजिदीक्षित के भाई रंगोजिभट्ट के 'अद्वैतचिन्तामणि' तथा 'अद्वैतशास्त्रसारोद्धार', इन दो ग्रन्थों का पता चलता है। यह भी नृसिंहाश्रम के ही शिष्य थे। 'महाभारत' के टीकाकार नीलकण्ठ चतुर्धर का 'वेदान्तकतक' बहुत ही प्रसिद्ध और सुपरिचित ग्रन्थ है। इनके नाम से 'आनन्दमयाधिकरणविचार' नाम का और भी एक ग्रन्थ मिलता है।

नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य तथा वेलांगुली-निवासी वेंकटनाथ के शिष्य धर्मराजा-ध्वरीन्द्र-रचित 'वेदान्तपरिभाषा' का सर्वत्र पठन-पाठन होने के कारण सुपरिचित ग्रन्थ है। धर्मराज प्रसिद्ध नैयायिक थे। उन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' की प्राचीन दस टीकाओं का खण्डन करके एक अभिनव टीका की रचना की। उनके पुत्र रामकृष्ण ने अपने पिता के ग्रन्थ की 'वेदान्तशिखामणि' नाम की एक व्याख्या लिखी थी। रामकृष्ण-रचित 'वेदान्त-सारटीका' भी कहीं-कहीं मिलती है।

प्रसिद्ध मराठी भागवत के रचयिता भक्तवर एकनाथजी के प्रपौत्र, प्रथम आपदेव के पौत्र तथा प्रथम अनन्तदेव के पुत्र प्रसिद्ध मीमांसक 'मीमांसान्यायप्रकाश'-कार द्वितीय आपदेव ने 'बालबोधिनी' नाम से 'वेदान्तसार' की एक टीका लिखी थी। यही आपदेव स्मृतिकौस्तुभकार द्वितीय अनन्तदेव के पिता थे।

नारायणतीर्थ तथा ब्रह्मानन्द के नाम भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। दोनों ने ही मधुसूदन के 'सिद्धान्तबिन्दु' की टीका लिखी थी, जिसका नाम यथाक्रम 'लघुव्याख्या' एवं 'न्यायरत्नावली' है। ये दोनों ही आचार्य काशी में रहते थे। 'ब्रह्मसूत्र' पर नारायण की 'विभावना' टीका भी मिलती है। उन्होंने विविध विषय के बहुत-से ग्रन्थ लिखे थे। ब्रह्मानन्द वंगदेश के थे, इसीलिए यह गौडब्रह्मानन्द के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका निवास काशी में ही था। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'मुक्तावली' नाम की टीका लिखी थी। लेकिन, इनका मुख्य कृतित्व है 'अद्वैतसिद्धि' पर लिखित टीका—'अद्वैत-चन्द्रिका'। लघु और गुरु नाम से इनके दो भेद प्राप्त होते हैं। 'लघुचन्द्रिका' सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। 'गुरुचन्द्रिका' का प्रकाशन महीशूर (मैसूर) से हुआ है। ब्रह्मानन्द-कृत 'अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन' नामक ग्रन्थ काशी-संस्कृत-कॉलेज से प्रकाशित हुआ है।

काश्मीर के सदानन्द ब्रह्मानन्द एवं नारायण के शिष्य थे। उनकी 'अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि' का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। लेकिन, इसके सिवा उन्होंने और भी अच्छे-अच्छे ग्रन्थों की रचना की है। 'स्वरूपनिर्णय', 'स्वरूपप्रकाश' एवं 'ईश्वरवाद'—ये तीन ग्रन्थ भी उन्हीं के हैं।

भाषारत्नप्रभाकार **गोविन्दानन्द** किस समय आविर्भूत हुए थे, यह ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। परन्तु, यह सुनिश्चित है कि वह सोलहवीं शताब्दी के बाद हुए थे; क्योंकि उन्होंने **नृसिंहाश्रम** की उक्ति अपने ग्रन्थ में उद्धृत की है। नृसिंहाश्रम सन् १५४७ ई० में विद्यमान थे। उसी वर्ष उनका 'वेदान्ततत्त्वविवेक' पूरा हुआ। अतएव, **गोविन्दानन्द** को सत्रहवीं सदी का कहा जा सकता है। गोविन्दानन्द **नृसिंहसरस्वती** के शिष्य थे और नियमित रूप से काशी में रहते थे। 'रत्नप्रभा' टीका की रचना भी काशी में ही हुई थी, यह मंगलाचरण में उल्लिखित ढुण्ढिराज और काशिकेश आदि के नमस्कार से स्पष्ट प्रतीत होता है। गोविन्द के **रामानन्दसरस्वती** नाम के एक प्रसिद्ध शिष्य थे। उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' नाम की एक वृत्ति, और 'विवरण' पर 'विवरणोपन्यास' नाम की एक टीका लिखी थी। गोविन्द एवं रामानन्द दोनों ही रामचन्द्र के उपासक थे। गोविन्द और लघुचन्द्रिकाकार ब्रह्मानन्द—दोनों ने ही **शिवरामाचार्य** के निकट ज्ञान-लाभ किया था। यदि ब्रह्मानन्द द्वारा उल्लिखित शिवराम को गोविन्द के ज्ञानदाता शिवराम से अभिन्न माना जाय, तो गोविन्दानन्द का समय सत्रहवीं सदी के बदले अट्ठारहवीं सदी मानना उचित है।

अद्वैतानन्द के शिष्य **पूर्णप्रकाशानन्दसरस्वती** की 'रत्नप्रभा' पर चतुःसूत्री तक एक टीका है।

शंकराचार्य के समय से रत्नप्रभाकार के निकटवर्ती काल तक अद्वैत-वेदान्तशास्त्र का यही संक्षिप्त इतिहास है।

परिषद् के पुरस्कृत ग्रन्थ

१. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति : ले० म० म० पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी; द्वि० सं०, मूल्य १६·७५ (भारत-सरकार की साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत)

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि : ले० म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज; द्वि० सं०; मूल्य १६·०० (भारत-सरकार की साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत)

३. बौद्धधर्म-दर्शन : ले० आचार्य नरेन्द्रदेव ; मूल्य ३७·५० (भारत-सरकार की साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत)

४. सार्थवाह (द्वि० सं०) : ले० डॉ० मोतीचन्द्र : मूल्य १६·५० (भारत-सरकार और उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत)

५. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल (पंचम संस्करण) : ले० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; मूल्य ८·०० (उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत)

६. भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा : ले० पं० बलदेव उपाध्याय ; मूल्य ३१·५० (उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत)

७. भोजपुरी-संस्कार-गीत : सं० पं० हंसकुमार तिवारी : श्रीराधावल्लभ शर्मा; मूल्य ३०·०० (उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत)

अभिनव गौरव-ग्रन्थ

८. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त : ले० म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज : अनु० पं० हंसकुमार तिवारी ; मूल्य २३·००

९. कीर्त्तिलता : विद्यापति : सं० डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव ; मूल्य १७·००

१०. उपन्यास की भाषा : डॉ० जगदीश नारायण चौबे ; मूल्य २५·००

११. विद्यापति-पदावली (तृ० खण्ड) : विद्यापति-विभाग द्वारा प्रस्तुत; मूल्य १८·५०

१२. प्राचीन भारतीय मूर्त्ति-विज्ञान : डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी ; मूल्य ४८·००

१३. रहीम-साहित्य की भूमिका : डॉ० बमबम सिंह 'नीलकमल' ; मूल्य ३०·००

१४. भारतीय नाट्य-सिद्धान्त : उद्भव और विकास : डॉ० रामजी पाण्डेय ; मूल्य ५०·००

१५. नाटक और रंगमंच : डॉ० सीताराम झा 'श्याम' ; मूल्य ३५·०

१६. लीलारसतरंगिणी : सं० डॉ० परमानन्द पाडेय ; मूल्य ४५·००

१७. पहेली-कोश : सं० पं० विक्रमादित्य मिश्र ; मूल्य २०·००

१८. एलिफैण्टा : श्रीहरिनन्दन ठाकुर, आइ० ए० एस० ; मूल्य २१·५०

१९. स्वसंवेदन : ले० म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज : अनु० पं० हंसकुमार तिवारी मूल्य ४०·००

२०. भारतीय साधना की धारा : ले० म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज : अनु० पं० हंसकुमार तिवारी ; मूल्य २५·००

२१. साहित्य-सिद्धान्त (द्वि० सं०) : डॉ० राम अवध द्विवेदी ; मूल्य २५·००

भारतीय साधना की धारा म.म. डॉ. गोपीनाथ कविराज